तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त तिङन्त-पदों का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन

(Taittirīya-Saṁhitā meṃ Prayukta Tiṅanta-Padoṃ kā Arthavaijñānika-Adhyayana)

(Ph.D. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशक
डॉ. हरिराम मिश्र

शोधार्थी
चमन कुमार

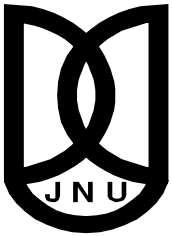

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
2017

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

नई दिल्ली- ११००६७

NEW DELHI -110067

July 19, 2017

DECLARATION

I declare that the thesis entitled **"तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त तिङन्त-पदों का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन"** submitted by me for the award of the degree of Doctor of Philosophy is an original research work and has not been previously submitted for any other degree or diploma in any other institution/university.

चमन कुमार

Chaman kumar

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली -११००६७

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI – 110067

July 19, 2017

CERTIFICATE

This thesis entitled **"तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त तिङन्त-पदों का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन"** submitted by Chaman Kumar to Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi – 110067, for the award of the degree of **Doctor of Philosophy** is an original work and has not been submitted previously for any other degree or diploma in any other institution/University. This may be placed before the examiners for evaluation.

Prof. Girish Nath Jha

(Chairperson)

PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Dr.Hariram Mishra

(Supervisor)

Dr. Hari Ram Mishra
Assistant Professor
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

प्रातस्स्मरणीय दादा स्व. श्रीतिरखा, दादी स्व. श्रीमतिभन्ती
व वन्दनीय पिता श्रीराम किशन एवं माता श्रीमति कमलेश
के चरणकुमुदों में सादर
समर्पित करता हूँ।

कृतज्ञता-ज्ञापन

शोधार्थी ने परम्परागत रूप से व्याकरण एवं वेद का अध्ययन किया है तथा परास्नातक में व्याकरण के दार्शनिक पक्ष के साथ – साथ दर्शनों का भी सामान्य अध्ययन किया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं पुस्तकालयों के निरीक्षण के पश्चात् शोधार्थी को ऐसा कोई कार्य दृष्टिगत नहीं हुआ जिसमें संहिताओं का भाषाविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया गया हो। ऐसी स्थिति में **"तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त तिङन्त-पदों का अर्थवैज्ञानिक अध्ययन"** एक नवीनतम प्रयास है। इस प्रयास की सफल परिणति में मेरे शोध-निर्देशक **पूजनीय गुरुवर डॉ. हरिराम मिश्र** का महत्त्वपूर्ण योगदान है जिनके आशीर्वाद से यह शोध सफलता को प्राप्त हुआ। विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र के सभी पितृतुल्य प्राध्यापक डॉ.गिरीश नाथ झा, डॉ.शशिप्रभा कुमार डॉ.राम नाथ झा, डॉ.संतोष कुमार शुक्ल, डॉ.रजनीश कुमार मिश्र, डॉ.सी.उपेन्द्र राव, डॉ.सुधीर कुमार, डॉ.सत्यमूर्ति, डॉ.टी. महेन्द्र का समय-समय पर आशीर्वाद मिला जिसके लिए मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस शोध को सम्पन्न करने में पुस्तकालयों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है जिनमें भीमराव अम्बेडकर पुस्तकालय (जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय), विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र (ज.ने.वि.), लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान व दिल्ली विश्वविद्यालय का योगदान प्रमुख है।

मेरा शास्त्री पर्यन्त अध्ययन गुरुकुल गौतम नगर, गुरुकुल मञ्झावली, गुरुकुल देहरादून में परम्परागत शात्रीय प्रणाली में हुआ है जहाँ मुझे शास्त्रीय ज्ञान की आधारशिला मिली। इसी आधारशिला के परिणामस्वरूप यह शोध-कार्य सम्पन्न हो सका है। अतः मैं उस अद्वितीय-ज्ञानवर्षा हेतु **मातृ-पितृतुल्य स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती** (हरिदेव आचार्य), आचार्य धनञ्जय जी व धर्मवीर गुरुजी को हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए सादर वन्दन करता हूँ।

इसके साथ-साथ अपने परिवार के सभी सदस्यों का आभारी हूँ जिनका सहयोग समय-समय पर मिलता रहा, इनमें भाई सिंहराज नागर, भाई आजाद नागर, भाई रवि नागर व भाई हरीन्द्र नागर का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त कुछ मित्रों का भी साथ सदैव मिला है जिनमें – डॉ.विजेन्द्र यादव, डॉ.बबलू पाल, डॉ.विश्वेश कौशिक, डॉ.रजनीश पाण्डेय, डॉ.रोहित कुमार, डॉ.शिवलोचन शाण्डिल्य, डॉ.मणिशंकर, डॉ.मनोज कुमार (तिलप्ता गाँव), मेघराज, देवेन्द्र राजपूत, रिंकु कौशिक, हरीश, प्रदीप, हरीश कुकरेती, आनन्द, सचिन तँवर (डेरा गाँव), इन्द्रराज, अश्विनी कुमार, नागेश कुमार, दीप कुमार मित्तल का नाम अविस्मरणीय है।

शिष्ट सभी विद्वद्जनों, जिनका प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है, का हार्दिक अभिनन्दन करता हुँ।

चमन कुमार (शोधच्छात्र)

विषयानुक्रमणिका

कृतज्ञता-ज्ञापन 1

विषयानुक्रमणिका 2-6

सङ्केताक्षरसूची 7-9

प्रस्तावना 1-15

प्रथम अध्याय 16-32

तिङन्त – पद में धात्वंश एवं प्रत्ययांश का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन 17-32

१.१.आख्यात (क्रिया) – विमर्श 17-19

१.१.१.आख्यात का अर्थ

१.१.२.क्रिया, भाव, षड्भाव-विकार

१.२.धात्वंश एवं प्रत्ययांश का विवेचन 20-21

१.२.१.वैयाकरण – मत

१.२.२.नैयायिक – मत

१.२.३.मीमांसक – मत

१.२.४.प्राचीन-वैयाकरण – मत

१.२.५.नवीन-वैयाकरण – मत

१.३.व्यापार एवं फल 21-26

१.३.१.सिद्धावस्था एवं साध्यावस्था का विवेचन

१.३.२.वैयाकरणों से नागेश भट्ट का मतभेद

१.४.तिङर्थ का निरूपण 26-30

१.४.१.मीमांसक-मत में तिङर्थ एवं वैयाकरणों से मतभेद

१.४.२.नैयायिक-मत में तिङर्थ एवं वैयाकरणों से मतभेद

१.५.सकर्मक एवं अकर्मक 30-31

उपसंहार

द्वितीय अध्याय 33-82

तिङन्त-पदों का स्वर की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन 34-82

२.१.पाणिनि-प्रोक्त स्वर-मीमांसा 35-59

२.१.१.स्वर-परिचय

२.१.१.१.उदात्त

२.१.१.२.अनुदात्त

२.१.१.३.स्वरित

२.१.१.४.प्रचय

२.१.२.स्वर-विषयक सामान्य नियम

२.१.२.१.उदात्त विधायक नियम

२.१.२.२.अनुदात्त विधायक नियम

२.१.३.आख्यात (क्रियापद) में स्वर-विधान

२.१.३.१.सार्वधातुक लकारों में स्वर-विधान

२.१.३.२.आर्धधातुक लकारों में स्वर-विधान

२.१.४.विभक्तियों में स्वर-विधान

२.१.५.समासों में स्वर-विधान

२.१.५.१.अव्ययीभाव-समास में स्वर-विधान

२.१.५.२.तत्पुरुष-समास में स्वर-विधान

२.१.५.३.कर्मधारय-समास में स्वर-विधान

२.१.५.४.द्विगु-समास में स्वर-विधान

२.१.५.५.बहुव्रीहि-समास में स्वर-विधान

२.१.५.६.द्वन्द्व-समास में स्वर-विधान

२.१.६.प्रातिपदिकों में स्वर-विधान

२.१.७.वाक्य में प्रयुक्त स्वर-विधान

२.१.७.१.सम्बोधन पद का वाक्य में स्वर-विधान

२.१.७.२.आख्यात-पदों का वाक्य में स्वर-विधान

२.२.तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त तिङन्त-पदों का स्वर की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन **59-82**

उपसंहार

तृतीय अध्याय **83-150**

उपसर्ग एवं निपात की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन **84-150**

३.१.पाणिनि-प्रोक्त उपसर्ग-मीमांसा 88-98

३.१.१.उपसर्गों की संख्या

३.१.२.निरुक्त के अनुसार उपसर्ग-निरूपण

३.१.३.उपसर्गों के संयोग से धातुओं का सकर्मकत्व और अकर्मकत्व

३.१.४.क्रिया में उपसर्ग के कारण णत्व-विधि

३.१.५.क्रिया में उपसर्ग के कारण षत्व-विधि

३.१.६.उपसर्ग के योग में धातु का आत्मनेपद में प्रयोग

३.१.७.उपसर्ग के योग में धातु का परस्मैपद में प्रयोग

३.१.८.कारक में उपसर्ग के कारण अर्थ-वैशिष्ट्य

३.१.९.समास में उपसर्ग के कारण अर्थ-वैशिष्ट्य

३.१.१०.उपसर्गों का द्वित्व-प्रयोग

३.२.तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त उपसर्गों का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन **99-134**

३.३.पाणिनि-प्रोक्त निपात-मीमांसा 135-138

३.३.१.गणों में पठित निपात

३.३.२.क्रिया के योग में निपात

३.३.३.कुछ उपसर्गों का विशेष अर्थ में निपात होना

३.३.४.कारकों में निपातों के कारण अर्थ-वैशिष्ट्य

३.३.५.निपातों के प्रकार

३.३.६.पदों में दीर्घ-विधि

३.४.तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त निपातों का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन **139-150**

उपसंहार

चतुर्थ अध्याय **151-187**

वाच्य की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन **152-187**

४.१.पाणिनि-प्रोक्त वाच्य-मीमांसा 152-159

४.१.१.कर्त्तृवाच्य

४.१.२.कर्मवाच्य एवं भाववाच्य

४.१.३.कर्मकर्त्तृ-प्रक्रिया

४.२.तैत्तिरीय-संहिता का वाच्य की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन **159-187**

उपसंहार

पञ्चम-अध्याय **188-213**

लकारार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन **189-213**

५.१.पाणिनि-प्रोक्त लकार-मीमांसा 189-203

५.१.१.टित् लकार

५.१.१.१.लट् लकार

५.१.१.२.लिट् लकार

५.१.१.३.लुट् लकार

५.१.१.४.लृट् लकार

५.१.१.५.लेट् लकार

५.१.१.६.लोट् लकार

५.१.२.ङित् लकार

५.१.२.१.लङ् लकार

५.१.२.२.लिङ् लकार

५.१.२.३.लुङ् लकार

५.१.२.४.लृङ् लकार

५.१.३.पाणिनि-प्रोक्त लकारार्थ-मीमांसा

५.१.३.१.भूतकाल में उक्त प्रत्यय

५.१.३.२.भविष्यत्काल में उक्त प्रत्यय

५.१.३.३.कालत्रय में प्रयुक्त प्रत्यय

५.१.३.४.कुछ अन्य विधान

५.२.तैत्तिरीय-संहिता में लकारार्थ 204-212

उपसंहार

उपसंहार 214-215

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची 216-229

सङ्केताक्षर-सूची

अष्टा.	=	अष्टाध्यायी
अ.को.	=	अमरकोष
अभि.शा.	=	अभिज्ञानशाकुन्तल
आप.श्रौ.	=	आपस्तम्बश्रौतसूत्र
उ.को.	=	उणादिकोष
उ.रा.च.	=	उत्तररामचरित
ऋ.	=	ऋग्वेद
ऋ.अनु.	=	ऋग्वेदानुक्रमणी
ऋ.प्रा.	=	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य
ऋ.भा.भू.	=	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
का.प्र.	=	काव्यप्रकाश
का.वृ.	=	काशिकावृत्ति
कू.पु.	=	कूर्मपुराण
ग.पा.	=	गणपाठ
तै.उ.	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै.प्रा.	=	तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य
तै.सं.	=	तैत्तिरीय-संहिता
द.कु.च.	=	दशकुमारचरित
नागा.	=	नागानन्द
नि.	=	निरुक्त
न्या.म.	=	न्यायमञ्जरी
प.म.	=	पदमञ्जरी
प.ल.म.	=	परमलघुमञ्जुषा

पा.शि.	=	पाणिनि-शिक्षा
फिट्सू.	=	फिट्सूत्रपाठ
बृ.दे.	=	बृहद्देवता
ब्रह्मा.पु.	=	ब्रह्माण्डपुराण
भा.वि.एवं भा.शा.	=	भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र
भा.और सं.भा.	=	भाषिकी और संस्कृतभाषा
मनु.	=	मनुस्मृति
म.भा.	=	महाभाष्य
महा.	=	महाभारत
मु.उ.	=	मुण्डकोपनिषत्
मुक्ति.उ.	=	मुक्तिकोपनिषद्
मी.सू.	=	मीमांसा-सूत्र
मेघ.	=	मेघदूत
याज्ञ.शि.	=	याज्ञवल्क्यशिक्षा
यो.सू.	=	योगसूत्र
रघु.	=	रघुवंश
ल.श.शे.	=	लघुशब्देन्दुशेखर
वा.प.	=	वाक्यपदीय
वा.पु.	=	वायुपुराण
वि.पु.	=	विष्णुपुराण
वै.भू.सा.	=	वैयाकरणभूषणसार
वै.व्या.	=	वैदिक व्याकरण
वै.सा.एवं सं.	=	वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
वै.सि.कौ.	=	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

वै.सि.म.	=	वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जुषा
वै.स्व.बो.	=	वैदिक स्वर बोध
वै.स्व.मी.	=	वैदिक स्वर मीमांसा
श.ब्रा.	=	शतपथ-ब्राह्मण
शिशु.व.	=	शिशुपालवध
श्रीमद्.गी.	=	श्रीमद्भगवद्गीता
शृ.प्र.	=	शृङ्गार-प्रकाश
श्लो.वा.	=	श्लोकवार्त्तिक
सा.द.	=	साहित्यदर्पण
सां.का.	=	सांख्यकारिका
सं.वा.का बृ.इति.	=	संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास
स्व.अनु.	=	स्वरानुक्रमणी

"इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थोपायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आ प्यायध्वमघ्निया देवभागमूर्जस्वतीः पयस्वतीः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वः स्तेन ईशत माऽघशँसो रुद्रस्य हेतिः परि वो वृणक्तु ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि"। तै.सं.-१।१।१॥

प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन-परम्परा में विद्या के दो रूप माने गये हैं - परा और अपरा। ऋग्वेदादि चारों वेदों और शिक्षादि छः वेदाङ्गों को अपरा तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है उसको परा की श्रेणी में रखा गया है।[1] शंकराचार्य परा-विद्या को परमात्मविद्या तथा अपरा को धर्म-अधर्म के साधन और उनके फल से सम्बन्ध रखने वाली विद्या कहते हैं।[2] इसी अपरा विद्यास्वरूपा वेद को मनुस्मृतिकार ने धर्म के मूलतत्त्वों को जानने का एकमात्र साधन वेद बताया है[3] तथा वेदों को सारे ज्ञानों का आधार मानकर उन्हें 'सर्वज्ञानमय' कहा है।[4] महाभाष्य में भी महर्षि पतञ्जलि ने निःस्वार्थभाव से वेदाङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करना[5] ब्राह्मण का अनिवार्य कर्त्तव्य बताया है। इस प्रकार वेदों को भारतीय संस्कृति में विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

वेद – परिचय -

वेद शब्द ज्ञानार्थक विद् धातु (विद ज्ञाने) से घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है 'ज्ञान'। अतः वेदों को ज्ञान की राशि कहा जा सकता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार वेद शब्द चार विभिन्न अर्थों वाली धातुओं से निष्पन्न किया जा सकता है – विद सत्तायाम् (दिवादिगण), विद ज्ञाने (अदादिगण), विद विचारणे (रुधादिगण) और विद्लृ लाभे (तुदादिगण)[6]।

सायणाचार्य के अनुसार जो ग्रन्थ इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है, उसे वेद कहते है।[7] वेद के अर्थ में निम्न शब्दों का भी प्रयोग होता है[8] –

---

1. "तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा। तत्रापरा ऋग्वेदो .....ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते"। - मु.उ. – १।१।४-५ ॥
2. "...परा च परमात्मविद्या। अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया"। मु.उ. – शाङ्करभाष्य – १।१।४ ॥
3. "....वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"। मनु. -२।६ ॥
4. "यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो, मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः"॥ मनु. – २।७ ॥
5. "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति"। म.भा. – पस्पशाह्निक ॥
6. "सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति वित्ते विचारणे। विदन्ति विन्दते प्राप्तौ श्यन् लुकश्नं शेषु चक्रयात्"॥ वै.सा.एवं सं. – पृ.४॥
7. "इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति, स वेदः"। तै.सं. - भाष्य की भूमिका ॥
8. वै. सा. एवं सं. – प्रस्तावना, पृष्ठ – २ ॥

- **श्रुति –** वेदों को श्रुति भी कहा जाता है, इसका मुख्य कारण परम्परागत पद्धति में गुरु एवं शिष्य वेदों के मन्त्रों को श्रवण के द्वारा यथावत् सुरक्षित रखते थे। जिसमें किसी त्रुटि का कोई अवकाश नहीं था। श्रुति से तात्पर्य यहाँ संहिता मात्र न होकर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी है।
- **निगम –** निगम का अर्थ सार्थक या अर्थबोधक है। वेदार्थ के साभिप्राय, सुसंगत और गम्भीर होने के कारण वेदों को निगम कहा जाने लगा।
- **आगम –** आगम शब्द का प्रयोग वेद और शास्त्र दोनों के लिए होता है।
- **त्रयी –** त्रयी शब्द तीन से सम्बन्धित है जिसको कालान्तर में वेदों से जोडा जाने लगा – ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। परन्तु मीमांसा-दर्शन में त्रयी से तात्पर्य तीन प्रकार की रचना से है और इसमें चारों वेदों को रखा गया है। जिसमें पद्यात्मक रचना ऋक् है, गद्यात्मक रचना यजुः और गीतात्मक रचना साम है[9]।
- **छन्दस् –** आचार्य पाणिनि ने *"बहुलं छन्दसि"*[10] सूत्र के द्वारा वेदों को छन्दस् कहा है। छन्दस् शब्द चुरादिगण में पठित *"छदि संवरणे"* धातु से बनता है। इसका अर्थ है – ढकना या आच्छादित करना। अपने मनोभावों या विचारों को एक क्रमबद्ध रूप से पद्य में बद्ध किया जाता है, अतः पद्यात्मक रचना 'छन्द' है। इसी अभिप्राय से यास्क ने निरुक्त में *"छन्दांसि छादनात्"* कहा है।
- **आम्नाय –** आम्नाय शब्द भ्वादिगणपठित *'म्ना अभ्यासे'* धातु से बनता है। यह वेदों के प्रतिदिन अभ्यास या स्वाध्याय पर बल देता है। दण्डी ने दशकुमारचरित में कहा है – *"अधीति चतुर्षु आम्नायेषु*[11]*"* (चारों वेदों का ज्ञाता)। श्रुति के तुल्य आम्नाय शब्द भी ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों का भी वाचक है।
- **स्वाध्याय –** शतपथ ब्राह्मण[12] में - *"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"* (वेदों का अध्ययन करना चाहिए) उपनिषदों में भी - *"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्*[13]*"* (वेदों के अध्ययन और प्रचार में प्रमाद न करे) वेदों के लिए स्वाध्याय शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन काल में वेद शब्द ज्ञानार्थक होने के कारण सम्पूर्ण वाङ्मय के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होता था। परन्तु कालान्तर में यह संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के लिए प्रयुक्त होने लगा। किन्तु शनैः शनैः इसमें अर्थ-संकोच हुआ और यह 'वेद' केवल चार संहिताओं (ऋक्-यजुः-साम-अथर्व) का ही बोधक बन गया।[14] वेद ही भारतीय ज्ञान के स्रोत माने गए हैं, तथा नाम एवं कर्मों का निर्धारण इन्हीं से होता है[15]।

---

[9]. मी.सू. – २।१।३५-३७॥

[10]. अष्टा. – २।४।३९॥

[11]. द.कु.च. – पृ. १२०॥

[12]. श.ब्रा. – ११।५।६।३॥

[13]. तै.उ. – १।११।१॥

[14]. वै. सा. एवं सं. - डॉ. उदयनाथ झा 'अशोक', पृ. – ६ ॥

[15]. "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"। मनु.–२।२१॥

वेदों की विभिन्न व्याख्या – पद्धतियाँ –

वेदों के गम्भीर अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न आचार्यों ने इसकी व्याख्या हेतु विभिन्न पद्धतियाँ अपनाई हैं। जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है[16] -

- **आचार्य यास्क –** आचार्य यास्क की व्याख्या पद्धति के केन्द्र में मुख्यतः यज्ञीय-प्रक्रिया रही है। इन्होंने वेदों की व्याख्या के लिए आवश्यक नियमों का निर्देश किया है – **(क)** मंत्रों की व्याख्या प्रकरण के अनुसार ही करना चाहिए, पृथक् से नहीं[17]। **(ख)** मंत्रों की व्याख्या परम्परागत पद्धति के ज्ञान से करनी चाहिए। साथ ही उसमें तर्क या युक्तिसंगतता होनी चाहिए।[18] **(ग)** वेदों में कुछ गूढ अर्थ छिपे हुए हैं, जिन्हें आर्षदृष्टि (सूक्ष्मदृष्टि) से जाना जा सकता है[19]। **(घ)** मंत्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं – आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक[20]। **(ङ)** मंत्रों का प्रतिपाद्य परमात्मा ही है। जिसके गुणों और कर्मों के आधार पर अन्य देवता वाचक नाम हैं।[21] **(च)** परम्परागत अर्थ जानने वाले को 'पारोवर्यवित्' कहते हैं[22]।
- **आचार्य सायण -** वेदों की व्याख्या करने वालों में ये अकेले आचार्य हैं, जिन्होंने सभी वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की भी व्याख्या की है। उन्होंने परम्परागत शैली को अपनाया है तथा यज्ञ-प्रक्रिया को सर्वत्र प्रधानता दी है। उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थ और सूत्रग्रन्थ आदि को आधार बनाया है तथा निरुक्त की व्याख्या को भी अपनाया है। स्थान–स्थान पर आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्या भी की है। ये वेदों में इतिहास मानते हैं एवं वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता को स्वीकार करते हैं।
- **स्वामी दयानन्द सरस्वती –** आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द को वेदों का पुनरुद्धारक माना जाता है। उन्होंने नैरुक्त–प्रक्रिया का आश्रय लेकर वेदों की नई व्याख्या की है। उन्होंने सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेद की संस्कृत और हिन्दी में व्याख्या की हैं तथा ऋग्वेद की व्याख्या असामयिक निधन के कारण मंडल ७ के ८० वें सूक्त तक ही कर सके। इनके भाष्य की विशेषताएँ – वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसमें सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान हैं, वेदों में नित्य इतिहास है लौकिक इतिहास नहीं आदि हैं।
- **पं. मधुसुदन ओझा –** इन्होंने किसी वेद या ब्राह्मण ग्रन्थ पर भाष्य नहीं लिखा, परन्तु संस्कृत में १०० से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं, जिसमें इन्होंने वैदिक परिभाषाओं को स्पष्ट किया है, जिससे वेदार्थ ज्ञान सरल हो सके।
- **योगी अरविन्द –** इन्होंने वेदों की आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी व्याख्या की है, तथा वेदों को आध्यात्मिक अनुभूतियों के कोश कहा है।
- **श्री सातवलेकर –** इन्होंने चारों वेदों, तैत्तिरीय-संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, दैवत संहिता आदि का विशुद्ध संस्करण निकाले हैं और चारों वेदों का हिन्दी में 'सुबोध-भाष्य' प्रकाशित किया है। ये स्वामी दयानन्द के समर्थक हैं, तथा अपने भाष्य में सायण का भी अनुसरण करते हैं। ये वेदों को आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रिय चेतना का प्रेरणास्रोत मानते थे।

---

[16]. वै. सा. एवं सं. – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, प्रस्तावना, पृष्ठ – १६-२१ ॥

[17]. "न तु पृथकत्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव त निर्वक्तव्याः"। नि. – १३।१२ ॥

[18]. "अयं मन्त्रार्थचिन्ताऽभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः"। नि. – १३।१२ ॥

[19]. "न हयेषु प्रत्यक्षमस्ति, अनृषेरतपसो वा"। नि. – १३।१२॥

[20]. "तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च"। नि. – ७।१॥

[21]. "माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते"। नि. – ७।४ ॥

[22]. "परोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति"। नि. – १।१६ ॥

उपर्युक्त भाष्यकारों के अतिरिक्त डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ.आनन्द कुमार स्वामी, डॉ. विष्णु कुमार वर्मा तथा पाश्चात्य विचारकों ने भी वेदों की व्याख्या में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

संहिताएँ -

व्याकरण के अनुसार संहिता पद का अर्थ पदों का (संधि, समासादि के द्वारा) समन्वित रूप है[23] पदों का यह योग्य समूह पद्यात्मक, गद्यात्मक या गीत्यात्मक हो सकता है। मंत्र भी इन्हीं रूपों में संकलित किये गये हैं जिन्हें चार संहिताओं में निबद्ध किया गया। संहिताएँ चार हैं – ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। पौराणिक परम्परा के अनुसार चार संहिताओं के संकलन का आधार हौत्रादि कर्म हैं।[24] यज्ञ-संस्था का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसको सम्पादित करने के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है – होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा। इन चार ऋत्विक्-गणों के यज्ञसम्पादनस्वरूप कार्य के सौकार्य के लिए भी इन संहिताओं का विभाग हुआ होगा।[25] होता का कार्य - देवताओं के स्तुति-विषयक मंत्रों को एकत्रित करना और उनका शंसन करना था। इन्हीं संकलित मंत्रों का नाम ऋग्वेद-संहिता रखा गया।

अध्वर्यु - यज्ञ का नेता होता था। उनको यज्ञभूमि तैयार करना, वेदि-निर्माण करना, यज्ञीय सामग्री को तैयार करना आदि अनेक कार्य करने होते थे। इसी अध्वर्युगण के लिए यजुर्वेद-संहिता का संकलन किया गया। यजुर्वेद-संहिता को आध्वर्यव या अध्वर्युवेद कहना ही इस बात का प्रमाण है कि उसका संकलन आध्वर्यव कर्म के सौकर्य के लिए ही किया गया था।[26] यज्ञ में देव-सम्बन्धी स्त्रोतों को गाया जाता था जिसकी साम संज्ञा थी। इन सामों का गान करने वाला वर्ग उद्गातृवर्ग था। इसलिए उद्गातृवर्ग के सौकर्य के लिये सामवेद संहिता का संकलन किया गया। होतृवर्ग, अध्वर्युवर्ग तथा उद्गातृवर्ग के कार्यों के निरीक्षण का कार्यभार ब्रह्मा नामक ऋत्विज पर होता था, क्योंकि वह यज्ञ का अध्यक्ष होता था। इसलिए यह आवश्यक था कि वह चारों वेदों का पूर्ण ज्ञाता हो।[27]

वैदिक शाखा एवं चरणों का विकास –

कृष्णद्वैपायन व्यास ने परम्परा से प्राप्त ऋषियों द्वारा दृष्ट मंत्रों का एक सुनिश्चित योजना के अनुसार चार भागों में संकलन किया और उनका अपने चार शिष्यों को - पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद तथा सुमन्तु को अथर्ववेद का अध्ययन कराया। चूँकि अभी तक संहिताओं को लिखित स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था इसलिए धीरे-धीरे कालान्तर में मन्त्रों में क्रम-भेद, उच्चारण-भेद, न्यूनातिरिक्त-पाठ तथा मंत्रों के विनियोग-भेद आदि के कारण कई रूप दिखाई पडने लगे। इन्हीं संहिताओं के विविध-रूपों के कारण अध्येताओं के कई वर्ग बन गए। जिसको उसके मूल प्रवर्तक या प्रवक्ता के नाम के साथ जोडकर देखा जाने लगा। यथा - शाकल द्वारा प्रोक्त शाकल-संहिता, तित्तिरि द्वारा प्रोक्त तैत्तिरीय-संहिता कहलाई। इन्हीं संहिताओं को शाखा-संहिता या शाखा नाम से पुकारा जाता है। इन शाखा-संहिताओं का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों के समुदाय को "चरण" नाम से अभिहित किया गया है। शाखा के लिए गौण रूप से

---

[23]. "परः सन्निकर्षः संहिता"। अष्टा. – १।४।१०९ ॥

[24]. वि.पु. – ३।४।११-१७ ॥

[25]. सं. वा. का बृ. इ. - प्रथम खण्ड-वेद, प्र.सम्पा.- श्री बलदेव उपाध्याय,
सम्पा.- प्रो.व्रज बिहारी चौबे, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ पृष्ठ – ४५-४६॥

[26]. "अध्वर्युवेदत्वं चास्यानादिसिद्धयाज्ञिकसमाख्याबलादवगन्तव्यम्"।
– तै.सं. - सायणाचार्य - भाष्यभूमिका, पृष्ठ – ७॥

[27]. "यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते। ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदैः। ऋग्वेदेन होता करोति।
सामवेदेनोद्गाता। यजुर्वेदेनाध्वर्युः। सर्वैर्ब्रह्मा"। आप.श्रौ. – २४।१।१-४, १६-१९ ॥

चरण शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। वेद की अनेक शाखाओं तथा चरणों का उल्लेख, ब्राह्मणों, वेदाङ्गों, मीमांसा, महाभाष्य, चरणव्यूह, अनुक्रमणियों पुराणों तथा भाष्य-ग्रन्थों में मिलता है।[28]

वैदिक सम्प्रदाय में चरण, शाखा तथा पार्षद शब्दों का प्रयोग प्रायः समान रूप से किया जाता प्रतीत होता है। निरुक्त में उल्लिखित *"सर्वचरणानां पार्षदानि"(नि. -१।१७)* की व्याख्या में भाष्यकार दुर्ग ने *"सर्वशाखान्तराणाम्"* अर्थ किया है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के कई सूत्रों में चरण शब्द का प्रयोग किया है।[29] जिन पर भाष्यकारों ने इसका कहीं "शाखाध्यायी मनुष्यों का समुदाय" तो कहीं "शाखा" अर्थ किया है।[30]

वस्तुतः चरण एक प्रकार की शिक्षा-संस्था थी, जिसमें शिष्य वेद की एक शाखा का अध्ययन करते थे। शाखा के मूल प्रवर्तक ही चरण का संस्थापक आचार्य माने जाते थे, तथा चरण का नाम और उसमें अध्येता छात्रों का नाम शाखाप्रवर्तक आचार्य के नाम के आधार पर एक ही होता था।[31]चरण शब्द के अर्थ से मिलते जुलते अर्थ में "परिषद् (पार्षद)" शब्द का प्रयोग मिलता है। परिषद् चरण के अन्तर्गत एक विद्वत्सभा थी, जो उच्चारण और व्याकरण सम्बन्धी नियमों का निश्चय करती थी और शाखा के पाठ आदि के विषय में भी विचार करती थी। परिषद् में रचित इतिहास पार्षद् कहा जाता था[32]।

संहिताओं की शाखाओं के विषय में अनेक प्रमाण मिलते है जिनमें उनकी संख्या में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है तथा अनेक शाखाएँ भी समय के साथ विलुप्त हो गई हैं। महाभाष्यकार के समय संहिताओं की निम्न शाखाएँ उपलब्ध थीं - ऋग्वेद की २१ शाखाएँ, यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ, सामवेद की १००० शाखाएँ तथा अथर्ववेद की नौ शाखाएँ।[33]

यजुर्वेद – संहिता एवं उसकी शाखाएँ -

यजुर्वेद शब्द में प्रयुक्त यजुः शब्द की अनेक व्याख्याएँ की गई है[34] – **(क)** *"यजुर्यजतेः"*[35] (यज्ञ से संबद्ध मंत्रों को यजुष् कहते हैं)। **(ख)** *"इज्यतेऽनेनेति यजुः"* (जिन मंत्रों से यज्ञ किया जाता है, उन्हें यजुष् कहते हैं)। इसका यज्ञ के कर्मकाण्ड से साक्षात् संबन्ध होने के कारण इसे अध्वर्युवेद भी कहा जाता है। **(ग)** *"अनियताक्षरावसानो यजुः"* "जिन मंत्रों में पद्यों के तुल्य अक्षर संख्या निर्धारित नहीं होती है, यजुष् हैं)। **(घ)** *"शेषे यजुः शब्द*[36] (पद्यबन्ध और गीति से रहित मन्त्रात्मक रचना को यजुष् कहते हैं)। **(ङ)** *"एकप्रयोजनं साकाङ्क्षं पदजातमेकं यजुः"* (एक उद्देश्य से कहे हुए साकाङ्क्ष एक पद-समूह को एक यजुः कहेंगे)।

---

[28]. सं. वा. का बृ. इ. - प्रथम खण्ड, तृतीय अध्याय, पृष्ठ – ५६-५७ ॥

[29]. "अनुवादे चरणानाम् – अष्टा. – २।४।३, "चरणेभ्यो धर्मवत्" – अष्टा. – ४।२।२६, "चरणे ब्रह्मचारिणि"- अष्टा. - ६।३।८६॥

[30]. सं. वा. का बृ. इ. - प्रथम खण्ड, तृतीय अध्याय, पृष्ठ – ५७-५८ ॥

[31]. सं. वा. का बृ. इ. - प्रथम खण्ड, तृतीय अध्याय, पृष्ठ – ६० ॥

[32]. - वही - पृष्ठ – ६४ ॥

[33]. "एक विंशतिधा बाह्वृच्यम्। एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। नवधाथर्वणो वेदः"।
म.भा. – १।१।१ ॥

[34]. वै. सा. एवं सं. – डॉ.कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ – ६२ ॥

[35]. नि. – ७।१२॥

[36]. मी.सू. – २।१।३७॥

तैत्तिरीय संहिता के भाष्य की भूमिका में सायण ने यजुर्वेद का महत्त्व बताते हुए कहा है कि यजुर्वेद भित्ति (दीवार) है और अन्य ऋग्वेद एवं सामवेद चित्र हैं। इसलिए यजुर्वेद सबसे मुख्य है। यज्ञ को आधार बनाकर ही ऋचाओं का पाठ और सामगान होता है।[37]

यजुर्वेदीय शाखाओं की सङ्ख्या में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मुक्तिकोपनिषद्[38] में यजुर्वेद की शाखाओं की संख्या – १०९, महाभाष्य[39] में शाखाओं की संख्या १०१ कही गयी है। वायुपुराण[40] और ब्रह्माण्डपुराण[41] में भी १०१ संख्या का कथन है। विष्णुपुराण[42] - ४२ है। कूर्मपुराण[43] में यह संख्या १०० कही गई है।

यजुर्वेद-संहिता मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त है – शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद, ये क्रमशः आदित्य-सम्प्रदाय और ब्रह्म-सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लेख है कि शुक्ल-यजुर्वेद आदित्य से संबद्ध है और याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात है।[44] शुक्ल यजुर्वेद को ही वाजसनेयी-संहिता और माध्यन्दिन-संहिता भी कहते हैं। याज्ञवल्क्य इनके ऋषि हैं। पिता का नाम वाजसनेयि होने से याज्ञवल्क्य को वाजसनेय भी कहा जाता है। अतः वाजसनेय से सम्बद्ध संहिता वाजसनेयि-संहिता कहलाई। याज्ञवल्क्य ने मध्याह्न के सूर्य से इस संहिता को प्राप्त किया था, अतः इसे माध्यन्दिन-संहिता भी कहते हैं।

शुक्ल और कृष्ण भेदों का आधार यह है कि शुक्ल यजुर्वेद में यज्ञों से संबद्ध विशुद्ध मंत्रात्मक भाग है। इसमें व्याख्या, विवरण और विनियोगात्मक भाग नहीं है। ये मंत्र इसी रूप में यज्ञों में पढे जाते हैं। विशुद्ध और परिष्कृत होने के कारण इसे शुक्ल (स्वच्छ, अमिश्रित) यजुर्वेद कहा जाता है। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध ब्रह्म सम्प्रदाय से है। इसमें मंत्रों के साथ ही व्याख्या और विनियोग वाला अंश भी मिश्रित है, अतः इसे कृष्ण (अस्वच्छ, मिश्रित) कहते हैं। इसी आधार पर शुक्ल यजुर्वेद के पारायण कर्त्ता ब्राह्मणों को शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद के परायणकर्त्ता ब्राह्मणों को "मिश्र" नाम दिया गया है।[45]

इस विषय में एक आख्यायिका का भी प्रचलन है - गुरु वैशम्पायन एक बार अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से रुष्ट हो गए और उन्होंने आदेश दिया कि वह उनकी शिक्षा लौटा दे। याज्ञवल्क्य ने सारी मंत्रविद्या उगल दी। वैशम्पायन के अन्य शिष्य ने तित्तिरि (तीतर) का रूप धारण करके उस उगले हुए को खा लिया। अतः

---

37. "भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानावितरौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यम्"। तै.सं. - भाष्यभूमिका॥

38. "ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः। नवाधिकशतं शाखा यजुषो मरुतात्मजः।"
मुक्ति.उ. – १.१२, कृष्णयजुर्वेद : एक अध्ययन – डॉ.वीरेन्द्र कुमार मिश्र, पृष्ठ – १ ॥

39. "चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः"।
म.भा. - पस्पशान्हिक ॥

40. "इत्येते वाजिनः प्रोक्ता दश पञ्च च संस्मृताः, शतमेकाधिकं कृत्स्नं यजुषां वै विकल्पकाः।"
वा.पु. – ४३।२६॥

41. "इत्येते वाजिनः प्रोक्ता दश पञ्च च सत्तः, शतमेकाधिकं ज्ञेयं यजुषां वै विकल्पकाः"।
ब्रह्मा.पु. – १।३५।३०॥

42. "यजुर्वेदतरोश्शाखास्सप्तविंशान्महामुनिः, वैशम्पायन नामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै"। वि.पु. ३।५।१॥
"शाखाभेदास्तु तेषां वै दश पञ्च च वाजिनाम्, काण्वाद् यास्सुमहाभाग याज्ञवल्क्याः प्रकीर्तिताः"।
वि.पु.३।५।२९ ॥

43. "एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा, शाखानान्तु शतेनैव यजुर्वेदमथाकरोत्।" कू.पु.– ५२।१९ ॥

44. "आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि।
वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते"। श. ब्रा. – १४।९।४।३३॥

45. वै. सा. एवं सं. – डॉ.कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ – ६४ ॥

उनकी शाखा तैत्तिरीय कहलाई। याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना की और मध्याह्न के सूर्य से पुनः यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया, अतः इसे माध्यन्दिन संहिता भी कहते हैं।[46] यजुर्वेद-संहिता के दोनों भागों (शुक्ल-यजुर्वेद व कृष्ण-यजुर्वेद) पर उपलब्ध साहित्य निम्नलिखित है -

शुक्ल-यजुर्वेद संहिता

शाखा	माध्यन्दिन (वाजसनेयी), काण्व
ब्राह्मण	शतपथ ब्राह्मण
आरण्यक	बृहदारण्यक
उपनिषद्	ईशावास्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्

कृष्ण-यजुर्वेद संहिता

शाखा	तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, कठ, कपिष्ठल-कठ
ब्राह्मण	तैत्तिरीय ब्राह्मण
आरण्यक	तैत्तिरीय आरण्यक
उपनिषद्	तैत्तिरीय, कठ, श्वेताश्वतर, मैत्रायणी (मैत्री), महानारायण

तैत्तिरीय-संहिता –

तैत्तिरीय-संहिता[47] काण्डों में विभाजित हैं। काण्डों को प्रपाठकों व प्रपाठकों को अनुवाकों में विभक्त किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में सप्त काण्ड है। प्रथम काण्ड में ८ प्रपाठक और १४६ अनुवाक हैं। द्वितीय काण्ड में ६ प्रपाठक ७५ अनुवाक है। तृतीय काण्ड में ५ प्रपाठक और ५५ अनुवाक हैं। चतुर्थ काण्ड में ७ प्रपाठक और ८२ अनुवाक हैं। पंचम काण्ड में ७ प्रपाठक १२० अनुवाक हैं। षष्ठकाण्डान्तर्गत ६ प्रपाठक तदन्तर्गत ६६ अनुवाक तथा सप्तम काण्ड में ५ प्रपाठक और १०७ अनुवाक हैं। इस संहिता का सर्वप्रथम सम्पादन सन् १८७१-७२ में आचार्य वेबर ने किया था। तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद डॉ.कीथ ने किया है।[48] इस संहिता को सम्पादित करके श्री दामोदर सातवलेकर ने स्वाध्याय मण्डल से प्रकाशित किया है।

तैत्तिरीय-संहिता पर आचार्य सायण और भट्टभास्कर मिश्र का भाष्य है। इसके प्राचीन भाष्यकार के सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन है –"आचार्य सायण की यही अपनी शाखा थी इसलिए तथा मुख्ययज्ञ के मुख्य स्वरूप निष्पादन होने के कारण उन्होनें इस संहिता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य सर्वप्रथम लिखा

---

[46]. "आदित्याल्लब्धवान् यस्तु, शाखाः पञ्चदशापराः। तं याज्ञवल्क्यं वन्देऽहं, मन्त्रभाष्य-प्रसिद्धये"।
उवट, यजुर्वेद-भाष्यभूमिका, वै. सा. एवं सं. – डॉ.कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ – ६५ ॥

[47]. **तैत्तिरीय-पद की व्युत्पत्ति =** "तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते" - तृतीयासमर्थ तित्तिरि प्रातिपदिक से छन्दोविषयक प्रोक्त अर्थ छण्-प्रत्यय (तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् – अष्टा. – ४।३।१०२, इसमें "तेन प्रोक्तम्" की अनुवृत्ति आ रही है)। तित्तिरि टा छण्=छ् (आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् – अष्टा. – ७।१।२ छ को ईय् आदेश), तित्तिर् ईय्॥
तैत्तिरीय-पद की स्वरांकन = तित्तिरि ईय् = फिषोऽन्तः उदात्तः। फिट्सू. – १।१ प्रातिपदिक अन्तोदात्त; आद्युदात्तश्च। अष्टा. – ३।१।३ प्रत्यय आद्युदात्त। "सतिशिष्ट स्वरो बलीयान्"। म.भा. – ६।१।१५२, दोनों के आद्युदात्त होने से परवाला उदात्त शेष, "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५२ = तैत्तिरीयम्॥

[48]. V.B.Y.S.T.S., Harvard Oriental Series no- 18-19 |
उद्धृत – कृष्ण-यजुर्वेद : एक अध्ययन – डॉ.वीरेन्द्र मिश्र, पृ.६

है। परन्तु इनमें सबसे प्राचीन भाष्यकार भट्टभास्कर मिश्र (११वीं शताब्दी) हैं जिनका "ज्ञानयज्ञ" नामक भाष्य प्रामाणिकता तथा विद्वत्ता में किसी प्रकार न्यून नहीं है", इन भाष्यकारों के अतिरिक्त कुण्डिन, भवस्वामी, गुहदेव, क्षुर आदि ने भी भाष्य लिखा था जो अब अप्राप्य है[49]।

तिङन्त – पद –

आचार्य यास्क ने शब्दों को चार भागों में विभक्त किया है – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, इनमें आख्यात पद भाव प्रधान होता है[50]। आचार्य पाणिनि सुबन्त तथा तिङन्त को ही पद के रूप में स्वीकार करते हैं[51]। इन्होंने इन दोंनो (सुबन्त और तिङन्त) की विभक्ति संज्ञा की है[52]। इनमें तिङन्त के अन्तर्गत १८ प्रत्ययों का ग्रहण होता हैं। इन प्रत्ययों को सर्वप्रथम दो भागों में बाँटा जाता है – परस्मैपद और आत्मनेपद[53]। जिनमें ९ परस्मैपद तथा ९ आत्मनेपद के हैं। पुनः ९ को तीन-तीन भागों में विभक्त किया जाता है – प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष, उत्तमपुरुष। इन त्रिकों को भी एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में क्रम से विभाजित किया जाता है -

परस्मैपद-प्रत्यय

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम-पुरुष	तिप्	तस्	झि
मध्यम-पुरुष	सिप्	थस्	थ
उत्तम-पुरुष	मिप्	वस्	मस्

आत्मनेपद -प्रत्यय

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम-पुरुष	त	आताम्	झ
मध्यम-पुरुष	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम-पुरुष	इट्	वहि	महिङ्

उपर्युक्त तिङ् का प्रयोग लकार के स्थान पर होता है[54] लकार दश हैं, जिनमें ९ लोक में तथा एक (लेट्) वेद में होता है। लकारों का वर्णन सङ्क्षेप में निम्न प्रकार है -

टित् लकार – लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्। **ङित् लकार** – लङ्, लिङ् (विधिलिङ्, आशीर्लिङ्), लुङ्, लृङ् (टकार एवं ङकार की इत् संज्ञा होने के कारण टित् एवं ङित् संज्ञक)।[55] **लट् लकार** – वर्तमान काल में विद्यमान धातु से लट् लकार होता है - भवति[56]। **लिट् लकार** – अनद्यतन=जो आज का नहीं ऐसे परोक्ष=जो

---

[49]. वै. सा. एवं सं. – डॉ.कपिलदेव द्विवेदी, प्रस्तावना, पृष्ठ – २५ ॥

[50]. "चत्वारि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति"।
"भावप्रधानमाख्यातम्" नि. – १.१. ॥

[51]. "सुप्तिङन्तं पदम्"। अष्टा. – १।४।१४॥

[52]. "विभक्तिश्च"। अष्टा.१।४।१०३ ॥

[53]. अष्टा. – १।४।९८-१०१ ॥

[54]. "लः कर्मणि चाभावे चाकर्मकेभ्यः"। अष्टा. – ३।४।६९॥

[55]. "हलन्त्यम्"। अष्टा. – १।३।३॥

[56]. "वर्तमाने लट्"। अष्टा.- ३।२।१२३ ॥

अपने इन्द्रियों से न देखा गया हो, ऐसे भूतकाल में धातु से लिट् होता है - बभूव[57]। **लुट् लकार** – अनद्यतन भविष्यत् काल में धातु से लुट् प्रत्यय होता है[58] - भविता। **लृट् लकार** – धातु से शेष=केवल भविष्यत् काल में तथा चकार से क्रियार्थ क्रिया उपपद रहते भी भविष्यत्काल में लृट् होता है - भविष्यति[59]। **लेट् लकार** – वेद विषय में लिङ् के अर्थ में धातु से विकल्प से लेट् प्रत्यय होता है - भाविषति[60]। **लोट् लकार** – विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् प्रत्यय होता है - भवतु[61]। **लङ् लकार** – अनद्यतन (जो आज का नहीं) भूतकाल में धातु से लङ् होता है - अभवत्[62]। **विधिलिङ् लकार** – विधि=आज्ञा देना, निमन्त्रण=नियत रूप से बुलाना, आमन्त्रण=कामचार से बुलाना (आवे या न आवे), अधीष्ट=सत्कार पूर्वक व्यवहार करना, सम्प्रश्न= अच्छी प्रकार पूछ कर बात कहना, प्रार्थना=प्रार्थना करके कुछ कहना, इन अर्थों में धातु से लिङ् होता है - भवेत्[63]। **आशीर्लिङ् लकार** – आशीर्वाद विशिष्ट अर्थ में धातु से लिङ् होता है - भूयात्[64]। **लुङ् लकार** – सामान्य भूतकाल में धातु से लुङ् प्रत्यय होता है - अभूत्[65]। **लृङ् लकार –** भविष्यत्काल में लिङ् का निमित्त होने पर क्रिया की अतिपत्ति=उल्लंघन अथवा क्रिया की सिद्धि न होना गम्यमान हो, तो धातु से लृङ् प्रत्यय होता है - अभविष्यत्[66]।

अर्थ-विज्ञान –

अर्थ-विज्ञान के विषय में गम्भीर विचार-विमर्श हुआ है। अर्थ-विज्ञान में शब्द के अर्थ को आत्मा तथा शब्द को शरीर कहा जाता है। ध्वनिविज्ञान, पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान भाषा के शरीर हैं। इनमें भाषा के बाह्यरूप का विवेचन किया जाता है। तथा अर्थ आत्मा है तथा अर्थविज्ञान में शब्दार्थ के आन्तरिक पक्ष का विवेचन किया जाता है। अर्थ क्या है? अर्थ का ज्ञान कैसे होता है? शब्द और अर्थ में क्या सम्बन्ध है? संकेतग्रह कैसे होता है? आदि भाषा के आन्तरिक पक्ष हैं। अर्थविज्ञान में शब्दों के अर्थ में विकास, अर्थविकास की दिशाएँ, अर्थपरिवर्तन के कारण, एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय, संकेतग्रह के साधन आदि अर्थविज्ञान के बाह्य पक्ष हैं।[67]भारतीय चिन्तन-परम्परा में अर्थ-विज्ञान शब्द का प्रयोग अनेकशः किया गया है – *"शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा, ऊहापोहोऽ**र्थविज्ञानं** तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः"॥[68] यथा च चोदनाशब्दो वैदिक्यामेव वर्तते, शब्दज्ञाना**र्थविज्ञान**शब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ॥[69]*

---

57. "परोक्षे लिट्"। अष्टा. -३।२।१२० ॥
58. "अनद्यतने लुट्"। अष्टा. – ३।३।१५ ॥
59. "लृट् शेषे च"। अष्टा. – ३।३।१३ ॥
60. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥
61. "लोट् च"। अष्टा. – ३।३।१६२॥
62. "अनद्यतने लङ्"। अष्टा. – ३।२।१११॥
63. "विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्"। अष्टा. – ३।३।१६१॥
64. "आशिषि लिङ्लोटौ"। अष्टा. – ३।३।१७३॥
65. "लुङ्"। अष्टा.- ३।२।११० ॥
66. "लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ"। अष्टा. – ३।३।१३९॥
67. भा.वि. एवं भा.शा. – डॉ.कपिलदेव द्विवेदी, पृ.३२१ ॥
68. म.भा. वनपर्व २-१९ ॥
69. श्लो.वा. - शब्दपरिच्छेद -१३॥

अर्थ का लक्षण -

कात्यायन और पतञ्जलि अर्थ का लक्षण करते हुए कहते है कि – *"सर्वे भावाः स्वेन भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः। किमेभिस्त्रिभिर्भावग्रहणैः क्रियते? एकेन शब्दः प्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामर्थः। यद्वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः"*[70]। कात्यायन ने अर्थ के लक्षण में भाव शब्द का तीन बार प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि प्रथम भाव शब्द का अर्थ है = शब्द और अन्य दोनों भाव शब्दों का अर्थ है = अर्थ। अतः अर्थ का लक्षण हुआ कि समस्त शब्द स्वस्व (अपना) अर्थबोधन के लिए होते हैं, जिस जिस अर्थ के बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ है। इसी सूत्र के भाष्य में कैयट और नागेश अर्थ का लक्षण करते हैं - समस्त शब्द जिस प्रवृत्ति-निमित्त से अर्थात् जिस वाच्य अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त होते हैं, वही प्रवृत्ति-निमित्त रूप अर्थ (वाच्य अर्थ) उन शब्दों का अर्थ है।[71]

शब्द का अर्थ बौद्ध है या बाह्य। इस विषय में पतञ्जलि का कथन है कि बाह्य अर्थ का बोध शब्द कराता है। गाय लाओ कहने पर गाय लाई जाती है। इस प्रकार शब्द बाह्य अर्थ का बोध कराता है, परन्तु अर्थ मुख्य रूप से बौद्ध ही है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धिगत ही है।[72]

भर्तृहरि के मत में जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उसका अर्थ है[73]। जयन्त न्यायमञ्जरि में कहते हैं कि कोई मानता है कि यह इस पद का अर्थ है (अर्थात् अर्थ सांकेतिक है), दूसरा लक्षण यह है कि जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है[74]। कुमारिलभट्ट श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में अर्थ का लक्षण करते हैं कि जो अर्थ जिस शब्द के साथ सम्बद्ध रहता है, वह उसका अर्थ होता है[75]।

शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध -

पतञ्जलि ने *"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (महा.आ.१)* में शब्द और अर्थ में सम्बन्ध तथा उनकी नित्यता को स्वीकार किया है[76]। शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है इसमें कात्यायन और पतञ्जलि लोक व्यवहार को कारण मानते हैं। क्योंकि यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध नहीं होता तो लोक व्यवहार नहीं चलता। घट शब्द उच्चारण करने पर यदि शब्द का वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता तो घट वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।[77] भर्तृहरि प्राचीन सूत्रकार, वर्तिककार और भाष्यकार जिन्होंने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को स्वीकार

---

[70]. म.भा. – ५।१।१११॥

[71]. म.भा. – प्रदीपोद्योत – ५।१।१११॥

[72]. "बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्त्ता धीरस्तन्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्"। म.भा. – १।४।१०९॥

[73]. "यस्मिंस्तूच्चारिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्"॥ वा.प. - २।३३०॥

[74]. "अयमस्य पदस्यार्थ इति केचित् स तेन वा।
योऽर्थ प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः"। न्या.म. – पृ.२२९॥

[75]. "तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ"। श्लो.वा. १६०॥

[76]. "सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसंबन्धः"। म.भा. - आ.१॥

[77]. "कथं ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः संबन्धश्चेति, लोकतः"। म.भा. - आ. १॥

किया है, को अपनी मान्यता देते हैं[78]। जैमिनि ने नित्यता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है, तथा यह स्वभावसिद्ध और अनादि है[79]।

अर्थविज्ञान का स्वरूप -

भारत में अर्थ-चिन्तन की सशक्त परम्परा रही है। वैदिक काल से ही अर्थ पर गहन विचार हुआ है। ऋग्वेद का इस विषय में एक मंत्र है – *चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥*[80]

सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'चत्वारि वाक्परिमिता' इस पद से विभिन्न मतों का प्रदर्शन किया है –

- नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात।
- मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण, लौकिकी।
- ऋक्, यजुः, साम, व्यावहारिकी-भाषा।
- परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी।
- भूः, भुवः, स्वः, प्रणवः।[81]

महाभाष्यकार इसी मन्त्र को आनुषाङ्गिक प्रयोजनों में उद्धृत करते हैं तथा 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' मन्त्रांश से *'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'* का ग्रहण करते हैं। इस प्रसङ्ग में आचार्य नागेश भट्ट भी वाक् के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, चार भेदों की चर्चा करते हैं।[82] अर्थ-चिन्तन के विषय में ऋग्वेद का "वागाम्भृणी सूक्त" प्रसिद्ध है जिसमें अर्थ पर गहनता से विचार किया गया है। इस सूक्त के छठे मन्त्र में अर्थसहित अध्ययनकर्त्ता को वेदों का सखा बताया गया है। अर्थ न जानने वाले के लिए वाणी का सुनना भी व्यर्थ होता है।[83]

यास्क अर्थ की महत्ता के विषय में एक मंत्र उद्धृत करते हुए कहते है – जो वेदों को पढकर भी अर्थविज्ञान नहीं रखता वह निश्चय ही भारवाहक है और स्थाणु (ठुँठ) है। अर्थ जानने वाला ही सकल कल्याण को प्राप्त करता है, ज्ञान से उसके पाप हट जाते है तथा स्वर्गगामी होता है[84]। इसी विषय के विस्तार

---

[78]. "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां चानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः"॥ वा.प. - १.२३ ॥

[79]. "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"। मी. सू. – १.१.५ ॥

[80]. ऋ. – १।१६४।४५ ॥

[81]. ".....अत्र बहवः स्वस्वमतानुरोधेन बहुधा वर्णयन्ति सर्ववैदिकवाग्जालस् संग्रहरूपाश्रूरादयस्तिस्रोव्याहृतयः प्रणव एक इति .....। अन्ये तु याज्ञिकाः मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं च तुर्धालौकिकीति....। ऋग्यजुःसामनिचतुर्थीव्यावहारिकीतिनैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य च चतुर्थी व्यावहारिकीत्यैतिहासिकाः। पशुपुतूणवेषुमृगेष्वात्मनिचेत्यात्मवादिनः अपर मान्त्रिकाः प्रकारान्तरेण प्रतिपादयन्ति परापश्यन्तीमध्यमावैखरीचत्वारीति.....। ऋ. – सायणभाष्य. १।१६४, ४२।

[82]. म.भा. – प्रदीपोद्योत, पस्पशान्हिक. प्रयोजनाधिकरण ॥

[83]. ऋ. – वागाम्भृणी सूक्त॥

[84]. "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदान् न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा"॥ नि. – १।१८ ॥

में एक अन्य मंत्र का भी उल्लेख निरुक्तकार करते है - जो पाठ मात्र से बोला जाता है परन्तु विज्ञानात्मक अर्थ से हीन होता है, ऐसे शब्द में ज्वाला नहीं होती, जैसे राख में डाला हुआ सूखा ईंधन कभी नहीं जलता[85]। आचार्य यास्क अर्थ-ग्रहण के लिए निर्वचन पद्धति को अपनाते है जिसमें स्वर संस्कार से, किसी वृत्ति सामान्य से तथा अक्षर व वर्ण सामान्य से निर्वचन करना चाहिए[86]। अतः निरुक्त को पाँच प्रकार का माना जाता है - वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, धातु के अर्थ का अतिशय।[87]

भर्तृहरि के अनुसार शब्दतत्व का ज्ञान व्याकरण के बिना संभव नहीं होता और शब्द ज्ञान के बिना अर्थतत्त्व अज्ञात रहता है।[88] महाभाष्यकार ने प्रथम आह्निक कहा है – गाय कहा जाय तो इसमें शब्द क्या है? क्या उसे शब्द कहते हैं जिसमें गलकम्बल, पूँछ, ऊँचा कंधा, खुर और सींग होतें हैं? नहीं वह तो द्रव्य है। तो क्या चलना फिरना, पलक झपकाना आदि शब्द हैं? नहीं वह तो क्रिया है। तो सफेद, नीला, पीला आदि शब्द हैं? नहीं वह तो गुण है। तो क्या उसे शब्द कहेंगे जो भिन्न में भी अभिन्न रहता है? नहीं वह आकृति है। तब शब्द क्या है? जिसके उच्चारण से इस सभी का बोध होता है, वही शब्द है।[89]

संकेतग्रह (अर्थज्ञान) के साधन –

आचार्य जगदीश ने "शब्दशक्ति-प्रकाशिका" में संकेतग्रह या अर्थज्ञान के ८ साधन माने हैं – *शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यश्च शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥* अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार (लोकव्यवहार), वाक्यशेष (प्रकरण), विवृति (विवरण, व्याख्या), प्रसिद्ध (ज्ञात) पद का सान्निध्य।

संकेतग्रह के बाधक तत्त्व –

ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक ८ कारण गिनाए हैं जिनके कारण ज्ञान में बाधा हो सकती है[90] - अतिदूरता, अतिसामीपता, इन्द्रियघात, मन की अस्थिरता, अतिसूक्ष्मता, व्यवधान, अभिभव और समानाभिहार।

शब्द-शक्ति –

काव्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में गहन मन्थन किया है। जिसमें शब्दशक्ति का चिन्तन महत्त्वपूर्ण है। शब्दों में होने वाला अर्थ तीन प्रकार का है – वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इसी आधार पर शब्द

---

85. "यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते, अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्"। नि. – १।१८ ॥

86. १. तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्....। २. अथाऽन्वितेऽर्थे अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः परीक्षेत केनचित् वृत्तिसामान्येन...। ३.अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्...। नि. – प्रथमाध्याय।

87. "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार-नाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्"। नि. - दुर्ग-भाष्य – १।१।३ ॥

88. "अर्थ-प्रवृति-तत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते"। वा.प. – १।१३ ॥

89. म.भा. - पस्पसाह्निक ॥

90. "अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च"॥ सां.का. – कारिका - ७॥

भी तीन प्रकार का है – वाचक, लक्षक और व्यंग्यक। इन तीनों में विद्यमान शक्ति को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं।

१. अभिधा - "गाय दूध देती है" में गाय आदि शब्दों को वाचक, गाय अर्थ को वाच्य तथा यह अर्थ बताने वाली शक्ति को अभिधा कहते हैं।
२. लक्षणा – इस शक्ति में तीन बातें ध्यातव्य है (क) मुख्य अर्थ बाधित हो (ख) मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ लिया गया हो (ग) रूढि अथवा प्रयोजन कारण। यथा – गङ्गायां घोषः।
३. व्यञ्जना – इसको प्रतीयमान अर्थ अथवा ध्वनि भी कहते हैं। व्यङ्ग्य अनेक प्रकार का होता है। "गंगायां घोषः" में शीतलत्व पावनत्व आदि अर्थ व्यङ्ग्य हैं। जैसे – शाम हो गई इसके अनेक अर्थ हैं अर्थात् शाम होते हि जिसको जो काम करना है करे।[91]

एकार्थक शब्दों का अर्थ-निर्णय –

एकार्थक शब्दों के भी प्रकरणवश एवं प्रसंगवश अनेक अर्थ होते हैं। साहित्यदर्पणकार आचार्य विशवनाथ ने आर्थी व्यञ्जना के वर्णन क्रम में इसकी विस्तार से चर्चा की है। आचार्य विश्वनाथ एकार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय के लिए १० साधन बताते हैं – वक्ता, बोद्धा (श्रोता), वाक्य, वाच्य (वक्तव्य), अन्यसन्निधि (अन्य की उपस्थिति), प्रकरण, देश, काल, काकु (व्यङ्ग), चेष्टा आदि।[92]

नानार्थक शब्दों का अर्थनिर्णय –

नानार्थक या अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-निर्णय के लिए आचार्य भर्तृहरि ने १४ साधन बताए हैं – संयोग, वियोग, साहचर्य (साथ रहना), विरोध, अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण (प्रसंग), लिङ्ग (चिह्न), अन्य शब्द की संन्निधि (समीपता), सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति (पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग), स्वर।[93]

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ –

प्रत्येक भाषा में समय के साथ परिवर्तन होता रहता है इस अर्थ-परिवर्तन को विकास-सिद्धान्त की दृष्टि से अर्थ - विकास भी कहा जाता है। यह अर्थ - परिवर्तन तीन प्रकार का होता है –

१. अर्थविस्तार अर्थात् कहीं पर अर्थ का विस्तार होता है। जैसे – कुशल।
२. अर्थसंकोच अर्थात् कहीं पर अर्थ का संकोच होता है। जैसे – गो।
३. अर्थादेश अर्थात् कहीं पर एक नए अर्थ का आदेश होता है। जैसे – असुर।

---

[91]. का.प्र. – द्वितीय उल्लास ॥ ध्वन्या. – प्रथम उद्योत ॥

[92]. "वक्तृबोधव्यवाक्यानामन्यसंन्निधिवाच्ययोः
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत् साऽर्थसंभवा"॥ सा.द. - परि. – २-१६,१७॥

[93]. "संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः"॥
वा.प. – २-३१७, ३१८॥

पूर्ववर्ती शोध-कार्यों का विवरण –

ग्रन्थकार एवं शोधार्थियों ने वैदिक वाङ्मय के सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक और आर्थिक इत्यादि पक्षों पर अपने शोध-प्रबन्ध अथवा ग्रन्थ लिखे हैं। परन्तु वैदिक साहित्य का अध्ययन मात्र यहीं तक सीमित नहीं है अपितु इसका एक विषय भाषा-विज्ञान भी है। इसी दृष्टिकोण के कारण तैत्तिरीय-संहिता पर भाषावैज्ञानिक अध्ययन शोधार्थी के रुचि का विषय बना है। तैत्तिरीय-संहिता पर हुए पूर्ववर्ती कार्यों का विवरण निम्न हैं –

१.तैत्तिरीय संहिता, एक अध्ययन (पीएच.डी.), नारायणलाल शर्मा, राजस्थान १९७३

प्रस्तुत शोध-पत्र में तैत्तिरीय-संहिता का सामान्य – परिचय तथा उसमें वर्णित यज्ञादि का विवेचन किया गया है।

२.तैत्तिरीय संहिता का सांस्कृतिक अध्ययन (पीएच.डी.), कालिदास ठाकुर, शिमला १९९५

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में तैत्तिरीय-संहिता का अध्ययन ही शोध-पत्र का मुख्य विषय है। जिसमें यज्ञादि विषयों का वर्णन एवं अन्य सांस्कृतिक पक्षों का विशद् अध्ययन सम्मिलित है।

३.वाजसनेयी और तैत्तिरीय संहिता का तुलनात्मक अध्ययन, केशवप्रसाद, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

सामान्यतः वाजसनेयी-संहिता शुक्ल-यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता कृष्ण-यजुर्वेद का प्रतिनिधित्व करती है तथा दोनों ही संहिताओं में कर्मकाण्डों का वर्णन है। जिनका तुलनात्मक अध्ययन ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। इसका प्रकाशन भी हो चुका है।

४.तैत्तिरीय संहिता वैयाकरण-पद-सूची, वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर

यह एक कोश है जिसमें तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त पदों की प्रकृति-प्रत्यय का अध्ययन किया गया है। तथा यहाँ भी तिङन्त पदों का प्रायशः अभाव ही है।

५.यजुर्वेद में लोक-जीवन(हिन्दी), लाल बहादुर, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी २००९

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में यजुर्वेद में लोक जीवन के अध्ययन के लिए शुक्ल यजुर्वेद को आधार बनाया गया है।

६.वैदिक संहिताओं में आचार-मीमांसा, प्रतिभा रानी, दिल्ली परिमल पब्लिकेशन्स १९८९

संहिताओं में वर्णित आचार-पक्ष का अध्ययन ही प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है।

पूर्ववर्ती शोध-कार्यों से वैशिष्ट्य –

शोधार्थी की दृष्टि में ऐसा कोई शोध-कार्य नहीं आया है जिसमें तैत्तिरीय-संहिता के क्रिया-पदों को लेकर कोई भाषावैज्ञानिक अध्ययन हुआ हो। अतः शोधार्थी का विषय एक उचित एवं नवीन पहल है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध **"तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त तिङन्त-पदों का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन"** में प्रयुक्त शब्दों की गम्भीरता को देखते हुए उनका वर्णन भूमिका में किया गया है, जिसमें वेद, संहिता, तैत्तिरीय-संहिता, तिङन्त-पद से तात्पर्य तथा अर्थविज्ञान किसे कहते है? इत्यादि विषय सम्मिलित हैं। इन विषयों का वर्णन भूमिका में कर देने से शोध – प्रबन्ध का मुख्य विषय बाधित नहीं होगा। ध्यातव्य है कि इसमें तैत्तिरीय – संहिता के तिङन्त पदों का अध्ययन मुख्यतः पाणिनि के अनुसार किया जायेगा तथा यदा कदा आवश्यकतानुसार अन्य ग्रन्थों की भी सहायता ली जायेगी। शोध-प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है –

प्रथम अध्याय – इस अध्याय में तिङन्त-पद अर्थात् क्रिया का वर्णन किया गया है। जिसकी व्याख्या वैयाकरणभूषणसार के धात्वर्थ-विचार में की गई। वैयाकरणभूषणसार में मुख्यतः वैयाकरणों के मत के प्रतिपादन के साथ-साथ अन्य दार्शनिकों (मीमांसक, नैयायिक) के मतों का वर्णन व खण्डन किया गया है। प्रथम अध्याय मुख्यतः वैयाकरणभूषणसार पर आधारित है। जिसका उद्देश्य मात्र क्रिया की व्याख्या करना है।

द्वितीय अध्याय – तैत्तिरीय-संहिता के तिङन्त पदों को स्वर की दृष्टि से अध्ययन करने हेतु इस अध्याय की प्रकल्पना की गई है। स्वर व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। व्याकरण के अतिरिक्त भी अनुक्रमणिकाओं, शिक्षाओं, प्रातिशाख्यों के माध्यम से स्वर का व्याख्यान किया जाता है। शोध-प्रबन्ध में तैत्तिरीय-संहिता के तिङन्त के अर्थ को जानने हेतु स्वर को उपकरण के रूप में प्रयोग किया जायेगा। स्वर को उपकरण के रूप में प्रयोग करने समय मात्र "अष्टाध्यायी" व "फिट्-सूत्र" को ही मुख्य रूप से स्वीकार किया जायेगा।

तृतीय अध्याय – तृतीय अध्याय तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त निपात व उपसर्गों के कारण मंत्र में आए अर्थ में परिवर्तन को बताता है। संहिता में उपसर्ग का कदाचित् ज्ञापक व कभी वाचक के रूप में प्रयोग हुआ है। उपसर्ग व निपात को समझने हेतु अष्टाध्यायी की सहायता ली जायेगी व तैत्तिरीय-संहिता में आए निपातों के अर्थ को भी ध्यान दिया जायेगा। इसके साथ-साथ निपात के विषय में प्राप्त अनेक स्रोतों का भी अध्ययन किया जायेगा।

चतुर्थ अध्याय – इस अध्याय में तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त कर्त्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य व कर्मकर्त्तृवाच्य के रूपों का अध्ययन किया जायेगा। जिसकी व्याख्या पाणिनि व्याकरण के अनुसार की जायेगी। इस अध्याय में उन तिङन्त-पदों को मुख्यतः स्वीकार किया जायेगा, जिनकी निष्पत्ति सामान्य-प्रक्रिया के अन्तर्गत न होकर व्यत्यय, बहुल व वेद-विषय के कारण कुछ जटिल होती है।

पञ्चम अध्याय – "लकारार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन" शोध-प्रबन्ध का यह विषय मात्र लकार से सम्बन्धित न होकर लकारार्थ से सम्बन्धित है जो कि आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय में पृथक्-पृथक् सूत्रों के माध्यम से कहा है, तथा जिनको भट्टोजिदीक्षित सम्मिलितरूपेण लकारार्थ नाम से अभिधान करते है। जिसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि वैयाकरणभूषणसार के लकारार्थ-प्रकरण में दृष्टिगोचर होती है।

ध्यातव्य – शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय को अप्रत्यक्ष रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है। जिसके प्रथम-भाग में सम्बन्धित विषय में पाणिनि-प्रोक्त मीमांसा तथा द्वितीय-भाग में तैत्तिरीय-संहिता का शोध-प्रबन्ध सम्बन्धित विषय वर्णित है।

प्रथम अध्याय

तिङन्त-पद में धात्वंश एवं प्रत्ययांश का अध्ययन

प्रथम अध्याय

तिङन्त-पद में धात्वंश एवं प्रत्ययांश का अध्ययन

प्रस्तुत अध्याय में तिङन्त-पद में धात्वंश एवं प्रत्ययांश का अध्ययन मुख्यतः वैयाकरणों के दृष्टिकोण के अनुसार किया जायेगा। जिसमें कौण्डभट्टविरचित वैयाकरणभूषणसार को आधार ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जायेगा तथा उसमें वर्णित अन्य शास्त्रों के मतों को गौण रूप में प्रस्तुत किया जायेगा।

१.१. आख्यात (क्रिया) – विमर्श –

आचार्य पाणिनि ने पद का विभाजन अर्थ के आधार पर नहीं किया है। अपितु आकृति के आधार पर किया है तथा पद के सुबन्त और तिङन्त नामक दो भेद माने हैं।[94] जिनको नाम एवं आख्यात भी कहा जाता है। जबकि यास्काचार्य पद को चार श्रेणियों में विभक्त करते हैं – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।[95]

१.१.१. आख्यात का अर्थ –

पद के एक विभाग आख्यात के कितने अर्थ हैं इस विषय में शास्त्रों में महती चर्चा हुई है। उदाहरणस्वरूप *भू-सत्तायाम्* धातु से सिद्ध *"भवति"* रूप से क्रिया, काल, पुरुष, संख्या, साधन, उपग्रह[96] का ज्ञान होता है। आचार्य कैय्यट ने भी महाभाष्य के *कः पुनस्तिङर्थः* के सन्दर्भ में कहा है कि काल, साधन, संख्या, पुरुष, क्रिया, उपग्रह ही तिङर्थ हैं[97]। जबकि महाभाष्यकार को *"तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते"*[98] स्वीकार है।

यास्क आख्यात में विद्यमान अनेक अर्थों में से भाव की प्रधानता को स्वीकार करते हैं।[99] दुर्गाचार्य भी आख्यात में भाव को महत्त्वपूर्ण मानते हैं – *"आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वर्तमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावाभिव्यक्ति-उन्मुखीभूता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भावः स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातम्"*[100] । वस्तुतः यहाँ भाव शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में न होकर क्रिया के लिए एक पारिभाषिक शब्द के रूप में हुआ है। यहाँ भावप्रधान का तात्पर्य क्रियाप्रधान से है। यास्क इसे व्याख्या में पूर्वापरीभूत से सम्बद्ध करते हैं।[101] महाभाष्यकार भी भाव को क्रिया से अभिहित करते हैं - *क्रियाप्रधानमाख्यातम्*[102]। अष्टाध्यायी सूत्र "प्रशंसायां रूपप्" की व्याख्या में काशिका की विवरणपञ्जिका में

---

94. "सुप्तिङन्तं पदम्"। अष्टा. – १।४।१४॥

95. "चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति"। नि. - १।१॥

96. कर्तृगामिपरगामित्व लक्षण से उपग्रह की प्रतीति होती है। परस्मैपद से परगामि, आत्मनेपद से कर्तृगामि (फल की प्राप्ति की दृष्टि से उपग्रह को देखा जाता है)॥

97. "कालसाधनसंख्यापुरुषक्रियोपग्रहरूपस्तिङर्थः" म.भा. प्रदीप - २।२।१८॥

98. म.भा. – ३।१।६७॥

99. "भावप्रधानमाख्यातम्"। नि. - प्रथम अध्याय॥

100. नि. - दुर्गाचार्य निरुक्त-टीका १।१।९॥

101. "पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे"। नि. – १।९ , ११॥

102. म.भा. - ५।३।६६॥

कहा गया है कि यद्यपि आख्यात से क्रिया तथा साधन दोनों वाच्य हैं तथापि क्रिया की ही प्रधानता होती है[103]।

१.१.२. क्रिया, भाव एवं षड्भाव-विकार –

महाभाष्यकार "होना" "होने वाला" और "कालान्तर में साध्य" इन तीन अर्थों में भाव को मानते हैं – १.भवतेः स्वपदार्थो भवनं भाव इति २.भवतीति भावः ३.भाव्यते यः सः भाव, इति[104]। इन तीनों ही अर्थों से क्रिया का ज्ञान होता है (फुत्कारादि सम्पूर्ण क्रम की समूहवृत्ति)।

भावों की संख्या षड् है - *"षड् भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति"*[105] अर्थात् जन्म लेना, होना, बदलना, बढना, घटना और नष्ट होना। भर्तृहरि ने भी इनकी चर्चा की है – *आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशौ तथापरैः। षट्सु भावविकारेषु कल्पितौ व्याहारिकौ*[106]। इससे स्पष्ट है कि भाव से मात्र भू धातु के मूलार्थ का ज्ञान न होकर किसी क्रिया की सत्ता की विविध अवस्थाएँ का ज्ञान होता है। अतः ये भावविकार एक ही सत्ता की षड् विविध अवस्थाएँ हैं। जो "नाम" के समान स्थिर न होकर प्रवर्त्तमान क्रम में हैं। क्रिया की सत्ता की ये प्रवर्त्तमान अवस्थाएँ ही भाव हैं। इस क्रम (पूर्वापरभाव) का आश्रय काल होता है – "अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः। जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः"[107]॥ इन षड् भाव-विकारों का जन्म एक क्षण में नहीं होता, जबकि अलग-अलग क्षण में होता है। जिससे ज्ञात होता है कि "काल" ही क्रम की भावना का जन्मदाता है। क्रम की सत्ता मानने पर क्रिया की सम्पन्नता में अनेक अंशों, जैसे – "पचति" में अग्नि जलाना, फुत्कारादि, की विद्यमानता स्वीकार करनी पडती है। क्रिया के ये अवयव गौण होते हैं इन अवयवों के समूह से ही क्रमजन्मा क्रिया का जन्म होता है। अतः बुद्धि के द्वारा इस अभेदस्वरूपा को ही क्रिया कहा जाता है[108]। ऐसी स्थिति में क्रिया एवं उसका स्वरूप क्या है? – इस प्रश्न के उत्तर में भर्त्तृहरि क्रियासमुद्देश के श्लोक २०-२४ में क्रिया को जाति के रूप में स्वीकार करते हैं[109]।

महाभाष्यकार द्वारा उक्त भाव की तीनों ही परिभाषाएँ पूर्णतया भाव को प्रकट न करके भाव-विकार के सम्बन्ध में हैं। भाव क्या है? तथा क्रिया से वह किस प्रकार पृथक् है इसके विषय में भर्त्तृहरि का मत महत्त्वपूर्ण है – "कालानुपाति यद् रूपं तदस्तीति प्रतीयते। परितस्तु परिच्छिन्नं भाव इत्येव कथ्यते"[110]॥ अर्थात् क्रिया के साथ सीमित-सा प्रतीत होने वाला रूप "अस्ति" द्वारा क्रिया के रूप में ज्ञात होता है। परन्तु वही रूप जब चारों ओर से कालहीन प्रतीत होता है तो "भाव" कहलाता है। कथन का तात्पर्य है कि तिङ् आदि का विभाग ही कालानुपाती होता है। अतः आख्यात का तिङन्त रूप काल की सूचना देने के कारण "अस्ति" आदि क्रियाओं से सूचित होता है। मात्र सत्ता रूप में वह भाव कहलाता है तथा उसमें क्रम या

---

[103]. "आख्यातस्य यद्यपि क्रियासाधनञ्चोभयं वाच्यं, तथापि तस्य क्रियैव प्रधानमर्थः"।
का.वृ. - विवरणपञ्जिका – ५।३।६६॥

[104]. म.भा. – १।३।१॥

[105]. नि. – प्रथम अध्याय, पृ.४॥

[106]. वा.प. – क्रियासमुद्देश २२, पृ.३२॥

[107]. वा.प. – १।३॥

[108]. "गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्। बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते"॥ वा.प. – ३।८।४॥

[109]. वा.प. – क्रियासमुद्देश २०-२४

[110]. वा.प. – ३।४।१२॥

पूर्वापर का विषय सम्बद्ध नहीं होता। तिङ्-प्रत्यय के योग में ही पूर्वापरभावना समाहित होती है। कृत्-प्रत्ययों के योग में संज्ञारूपों (सिद्धावस्था) का जन्म होता है। इससे स्पष्ट होता है कि धातु ही भाव रूप या उसके अर्थ में विद्यमान रहती है न कि आख्यातरूप क्रिया। इसी कारण यास्क वाक्य है – "भावप्रधानमाख्यातम्" अर्थात् धातु का अपना अर्थ ही प्रधान है (महाभाष्यकार उक्त तीनों भाव के अर्थ) तथा जब उसमें काल समवेत नहीं होता, तो उस स्थिति को ही भाव कहा जाता है। ऐसी स्थिति में मात्र धातु रह सकती है, न कि आख्यात। इस प्रकार धातु का मूल अर्थ ही "भाव" है।

ध्यातव्य है कि "आख्यात" या "क्रिया" धातु और प्रत्यय के समवेतरूप हैं। मूल धात्वर्थ ही भाववचन या क्रियावचन है। इससे शेष अर्थ को प्रत्ययार्थ कहा जाता है जिससे हमें काल, वचन, संख्या, व्यक्ति, सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

क्रिया के स्वरूप को महाभाष्यकार ने *भूवादयो धातवः*[111] सूत्र की व्याख्या में एक संवाद विधि के द्वारा स्पष्ट किया गया है –

क्रिया किसे कहते हैं? - क्रिया ईहा को कहते हैं।

ईहा किसे कहते हैं? - ईहा चेष्टा को कहते हैं।

चेष्टा किसे कहते हैं? - चेष्टा व्यापार को कहते हैं।

इसी क्रम में महाभाष्यकार आगे कहते हैं[112] - क्रिया अत्यन्त अपरिदृष्ट होती है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता एवं वह कुक्षिस्थ गर्भ की तरह अप्रत्यक्ष रहती है जिसका मात्र अनुमान किया जाता है। अतः क्रिया अनुमेय है। यहाँ क्रिया का अनुमेय होना सर्वथा भिन्न है क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है *"यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः"* वाक्य को कहने से पूर्व हम कहीं अग्नि और धूम को एक साथ देख चुके होते हैं। परन्तु क्रिया में यह नियम सर्वथा भिन्न पाया जाता है, क्योंकि यहाँ मूर्त्त रुप क्रिया का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता तथा जब प्रत्यक्ष होता है तो वह क्रिया नहीं रहती। जैसे "पचति" में बर्तन आग पर रखना, आग लगाना आदि क्रिया के अवयव होते हैं परन्तु जैसे ही यह क्रिया पूर्ण होती है तो "पाकः" बन जाता है, जो कि वस्तुतः क्रिया नहीं है अपितु नाम है। पूर्ण क्रिया होने पर ही इसका प्रत्यक्ष होता है इस प्रकार जब क्रिया क्रमरूप में होती है तब उसके अवयवों का प्रत्यक्ष होता है। क्रिया का मूर्त्त एवं अमूर्त्त होना उसकी पूर्णता एवं अपूर्णता पर आधारित है तथा प्रत्येक अवस्था में क्रिया अनुमानगम्या होती है प्रत्यक्ष केवल फल का होता है। इस विषय में बृहद्-देवताकार शौनक की निम्नलिखित कारिका प्रसिद्ध है – *क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इहैक एव। क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाह*[113]॥

---

[111]. म.भा. – १।३।१॥

[112]. "क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टाऽशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्।
यथा गर्भो निर्लुठितः सासावनुमानगम्या॥ म.भा. – १।३।१॥

[113]. बृ.दे. – १।४४॥

१.२. धात्वंश एवं प्रत्ययांश का विवेचन –

आख्यात के दो अंग होते हैं – प्रकृति और प्रत्यय; धातु प्रकृति है एवं धातु के साथ लगने वाले तिङ् इत्यादि प्रत्यय हैं। तिङ् की व्याकरण में विभक्ति संज्ञा भी होती है।[114] वैयाकरणों ने तिङन्त पद से फल, व्यापार, फलाश्रय एवं व्यापाराश्रय का बोध माना है जिसमें – धातु की शक्ति फल और व्यापार में है और तिङ् के द्वारा फलाश्रय और व्यापाराश्रय का बोध माना है[115] -

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।

फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्॥

प्रत्येक क्रिया में व्यापार और फल निहित होता है। तात्पर्य है कि प्रत्येक क्रिया में कुछ न कुछ व्यापार होता है और कुछ न कुछ उसका फल भी होता है। नैयायिकों का मत है कि फल और व्यापार धातु के अर्थ है और तिङ् का अर्थ कृति है। मीमांसक धातु का अर्थ फल और तिङ् का व्यापार मानते हैं। वैयाकरण, मीमांसक और नैयायिकों का धात्वर्थ के विषय में मत संक्षेप में निम्न प्रकार है[116] –

१.२.१. वैयाकरण - मत –

- धातु का अर्थ फल और व्यापार है। तथा तिबादि तिङ् प्रत्यय का ही नाम आख्यात है, इसलिए आख्यातार्थ (तिङर्थ) कर्त्ता और कर्म (आश्रय) है।
- कर्त्ता, कर्म और क्रियापदों से निष्पन्न (वाक्य के सामूहिक अर्थ) शाब्दबोध में व्यापार मुख्य (प्रधान) होकर रहता है। शाब्दबोध – जैसे "देवदत्तः ओदनं पचति" इस वाक्य का शाब्दबोध "देवदत्ताभिन्नैककर्तृक ओदनकर्मक वर्तमानकालिकः विक्लित्त्यनुकूलो व्यापारः" – इस प्रकार होगा। यहाँ आख्यातार्थ कर्त्ता में देवदत्त अभेद-सम्बन्ध से और तिबर्थ संख्या एकत्व समवाय- सम्बन्ध से विशेषण हैं तथा आख्यातार्थ कर्त्ता कर्तृत्व-सम्बन्ध से, तिबर्थ वर्तमानकाल स्वरूप-सम्बन्ध से एवं विक्लित्ति-जनकत्व-सम्बन्ध से व्यापार में विशेषण है। अतः व्यापार प्रधान है। कर्त्ता, काल और विक्लित्ति फल तीनों व्यापार में विशेषण हैं।

१.२.२. नैयायिक - मत –

- धातु का अर्थ फल और व्यापार है। एवं आख्यातार्थ (तिङर्थ) कृति (यत्न) है।
- शाब्दबोध - शाब्दबोध में प्रथमान्त पद का अर्थ प्रधान होकर रहता है। जैसे – "देवदत्तः ओदनं पचति" वाक्य के शाब्दबोध का स्वरूप – "ओदनकर्मक विक्लित्त्यनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् देवदत्तः"। यहाँ विक्लित्ति अनुकूलत्व-सम्बन्ध से व्यापार में, व्यापार अनुकूलत्व-सम्बन्ध से कृति में और कृति समवाय-सम्बन्ध से देवदत्त में विशेषण है। स्पष्ट है कि प्रथमान्तार्थ देवदत्त प्रधान है,

---

[114]. "विभक्तिश्च"। अष्टा. – १।४।१०३॥

[115]. वै.भू.सा. – धात्वर्थनिर्णय, कारिका -१॥

[116]. वै.भू.सा. – धात्वर्थनिर्णय, सुबोधिनी-हिन्दी-व्याख्या, पृ.७ ॥

अर्थात् प्रथमान्तार्थमुख्यक शाब्दबोध होता है। अतः वैयाकरण के मत से धात्वर्थ में तो समानता है, परन्तु आख्यातार्थ कृति और प्रथमान्तार्थ की मुख्यता, इन्हीं दो बिन्दुओं पर विरोध है।

१.२.३.मीमांसक - मत –

- धातु का अर्थ केवल फल है तथा आख्यात (तिङ्) का अर्थ व्यापार है।
- आश्रय (कर्त्ता, कर्म) लक्षणा या आक्षेप से उपस्थित होते हैं।
- शाब्दबोध – शाब्दबोध में व्यापार ही प्रधान रहता है। शेष सभी व्याकरण जैसा है। जैसे – "देवदत्तः पचति" का शाब्दबोध "देवदत्ताभिन्नैककर्तृक वर्तमानकालिक विक्लित्त्यनुकूलो व्यापारः"।
- वैयाकरणों के समान इनका भी व्यापारमुख्यक शाब्दबोध है, किन्तु थोडा अन्तर है – १. व्यापार धात्वर्थ न होकर आख्यात का अर्थ है। २. आश्रय आख्यातार्थ न होकर लक्ष्यार्थ या आक्षेप्यार्थ है। इन्हीं दो बिन्दुओं पर वैयाकरणों से इनका विरोध है।

व्यापार और फल के धात्वर्थ होने में वैयाकरणों में भी कुछ भिन्नता पाई जाती है –

१.२.४.प्राचीन-वैयाकरण – मत -

- प्राचीन वैयाकरण धातु का अर्थ "फलविशिष्ट व्यापार" मानते हैं अर्थात् धातु की फलविशिष्ट व्यापार में एक शक्ति है।
- क्रिया कर्त्तृवाच्य हो या कर्मवाच्य – दोनों दशाओं में शाब्दबोध में व्यापार ही प्रधान रहता है।

१.२.५.नवीन-वैयाकरण – मत -

- नवीन वैयाकरण धातु की फल और व्यापार में पृथक् - पृथक् खण्डशः शक्ति स्वीकार करते हैं।
- कर्त्तृवाच्य क्रिया हो तो शाब्दबोध में व्यापार प्रधान एवं कर्मवाच्य क्रिया हो तो शाब्दबोध में फल प्रधान होता है। जैसे – "देवदत्तः ओदनं पचति" देवदत्ताभिन्नैककर्तृकः ओदनकर्मकः वर्तमानकालिकः विक्लित्त्यनुकूलो व्यापारः। "देवदत्तेन ओदनः पच्यते" में देवदत्तवृत्तिवर्तमानकालिक व्यापारजन्या ओदननिष्ठा विक्लित्तिः – यह शाब्दबोध का स्वरूप होगा।

१.३.व्यापार एवं फल -

कौण्डभट्ट के अनुसार – व्यापार का ही अपर अभिधान भावना, अभिधा, साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया है[117] तथा ये चारों शब्द समानार्थक और पर्यायवाची हैं। व्यापार तब तक रहता है जब तक क्रिया में साध्य अवस्था होती है। अतः कह सकते है कि साध्यता ही व्यापार है। सिद्ध होने पर व्यापार समाप्त हो जाता है। इस प्रकार गौण क्रियाओं की क्रमिक अवस्था से जो व्यापार होता है उससे फल की निष्पत्ति होती है। एक अन्य लक्षण के अनुसार - *"तद्धात्वर्थ-फल-जनकत्वे सति तद्धातुवाच्यत्वं व्यापारत्वम्"* अर्थात् जो धातु के फलांश को पैदा करता हुआ उसी धातु का वाच्य रहता है उसे व्यापार कहते हैं। जैसे अधिश्रयण

---

[117]. "व्यापारस्तु भावनाभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया"। वै.भू.सा. – धात्वर्थनिर्णय, पृ.९ ॥

फूत्कारादि पूर्वोक्त क्रियाएँ पच् धातु का व्यापार हैं क्योंकि इन क्रियाओं से ही पच् का वाच्य फलांश (विक्लित्ति=गलना) उत्पन्न होता है[118] -

डुपचष् पाके (पच्) – पकाना। फल – तण्डुल आदियों की विक्लित्ति (गलना)। व्यापार – बरतन को आग पर धरना, हिलाना, फूंक मारना, नीचे उतारना आदि।

नागेश भट्ट ने परमलघुमञ्जुषा में व्यापार के लक्षण में स्पष्ट कहा है कि व्यापार का अर्थ धातु से प्राप्त होता है – व्यापार धातु का वाच्य तथा धात्वर्थ फल का जनक होता है[119]। इस प्रकार फल और व्यापार में जन्य-जनक-सम्बन्ध होता है। फल जन्य तथा व्यापार जनक है। अतः व्याकरण में शाब्दबोध हेतु 'फलानुकूलव्यापार' कहने की परम्परा है।

कौण्डभट्ट *"व्यापारस्तु भावनाभिधः ....."* इस वाक्य के द्वारा व्यापारस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए व्यापार के ही क्रियात्व की बात करते हैं एवं प्रमाणस्वरूप भर्तृहरि की कारिका *"यावत्सिद्धमसिद्धं .."* का उल्लेख करते हैं तथा *"गुणभूतैरवयवैः..."* कारिका को धातु के नानार्थ वारण के लिए प्रस्तुत करते हैं। किन्तु नागेशभट्ट मात्र *"गुणभूतैरवयवैः.."* कारिका का उल्लेख करते है। इस प्रकार नागेश बुद्धि के प्रकल्पित अभेदरूप समूह को ही क्रियापदव्यपदेश्य स्वीकार करते हैं।

कौण्डभट्ट के अनुसार फल शब्द से विक्लित्ति, संयोग एवं विभाग आदि का ग्रहण किया जाता है[120]। "पचति" इस क्रिया में व्यापार से "विक्लित्ति" फल का निष्पादन होता है। जिस अभिप्राय व प्रयोजन को लेकर कोई क्रिया आरम्भ की जाती है उसे लोक में फल कहते हैं। जैसे स्वर्ग की अभिलाषा से याग किया जाता है तो स्वर्ग याग का फल है। क्षुधा-निवृत्ति के लिए पकाया जाता है तो क्षुन्निवृत्ति पचन का फल है। धन-प्राप्ति के लिये राजा का आश्रय किया जाता है तो धन-प्राप्ति राजा के आश्रयण का फल है। *स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रिया-फले*[121] (फल जब कर्त्ता को मिलने वाला हो तो आत्मनेपद और दूसरे को मिलने वाला हो तो परस्मैपद – *शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्*[122]) सूत्र में भी इसी फल की ओर संकेत किया गया है। परन्तु यहाँ फल का (वैयाकरणभूषणसार प्रतिपादित धातु से फल व व्यापार के ग्रहण में फल का) वह अभिप्राय नहीं, यहाँ उसका वह लोकप्रसिद्ध अर्थ नहीं लेना है। यदि वह अर्थ लिया जाये तो पच् धातु का फल क्षुन्निवृत्ति ही मानना पडेगा; तब क्षुन्निवृत्ति के न होने से *देवदत्तोऽपाक्षीत्* यह प्रयोग उपपन्न न हो सकेगा। किञ्च तब हमारी सम्पूर्ण सकर्मकाऽकर्मकव्यवस्था भी उच्छिन्न हो जायेगी। अतः यहाँ फल शब्द से पारिभाषिक ही समझना चाहिए।

धातु के व्यापार अर्थात् क्रिया-कलाप से जन्य विक्लित्ति (चावल आदियों का गल जाना) आदि को ही यहाँ फल शब्द से परिभाषित किया गया है। इस प्रकार फल का लक्षण होगा - "जो उस धातु के अर्थ

---

118. वै.भू.सा. – धात्वर्थनिर्णय, भैमीव्याख्या, पृष्ठ – १८॥

119. "व्यापारत्वं च धात्वर्थफलजनकत्वे सति धातुवाचकत्वम्"॥
प.ल.म. – धात्वर्थनिरुपणम्, आचार्यलोकमणिदहालः (संपा.) पृ.१२० ॥

120. "फलं विक्लित्त्यादि"। वै.भू.सा. – धात्वर्थनिर्णय, चन्द्रिका प्रसादद्विवेदी (संपा.) पृ. – ८ ॥

121. अष्टा – १।३।७२ ॥

122. अष्टा. – १।३।७८॥

व्यापार से पैदा होकर भी उसी धातु का अर्थ रहता है, वह फल कहलाता है"[123]। जैसे- विक्लित्ति (गलना) यह पच् का फल है, क्योंकि यह पच् के व्यापार से प्रसूत होकर पच् के अर्थ के ही अन्तर्गत समझी जाती है।

आचार्य नागेशभट्ट फल की परिभाषा में कहते है – "धातु से कर्त्ता में प्रत्यय होने पर उस धातु के अर्थ से जन्य तथा उस धातु के अर्थ में रहने वाली विशेष्यता द्वारा निरूपित विशेषणता जिसमें हो वह फल होता है"[124]। जैसे "*पचति*" में तिप् प्रत्यय कर्त्ता में हुआ है, तथा पच् धातु के अर्थ अर्थात् चूल्हे पर पात्र रखना, अग्नि प्रज्वलित करना, फूँक मारना आदि व्यापार समूह से उत्पन्न एवं उस धातु के अर्थ अर्थात् व्यापार में रहने वाली विशेष्यता द्वारा निरूपित विशेषणता फल प्रकारता व्यापार विशेष्यता विक्लित्ति में है अतः वह फल है। कर्म में प्रत्यय होने पर व्यापार विशेषण और फल विशेष्यक होता है।

१.३.१.सिद्धावस्था एवं साध्यावस्था का विवेचन –

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।

आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते[125]॥

अर्थात् जो सिद्ध या असिद्ध रूप जब साध्य के रूप में कहा जाता है तो वह क्रिया होता है। क्योंकि साध्य में अनेक गौण अथवा अवान्तर व्यापारों का एक क्रम समावेशित होता है जैसे – "पचति" में अग्नि जलाना, फुत्कारादि का समावेश है। यास्क भी कहते हैं – *"पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्"* अर्थात् पचति, व्रजति आदि तिङन्त-पदों से पाक इत्यादि क्रियाओं के प्रारम्भ से सम्पन्न होने तक अनेक क्रमिक व्यापारों का बोध होता है।

अतः सारांशतः कहा जा सकता है कि सिद्ध में सदैव अन्य दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा बनी रहती है यथा – "पाकः" यहाँ अस्ति, भवति, विद्यते इत्यादि क्रियाओं की आकाङ्क्षा बनी हुई है। ऐसी स्थिति में अन्य क्रिया का अध्याहार करके ही वाक्य पूर्ण हो सकता है। जबकि साध्य क्रिया की विशेषता है कि उसके अवयव क्रमिक होते हैं। इसमें अवयवभूत अनेक गौण क्रियाएँ होती हैं[126] और ये गौण क्रियाएँ क्रमशः एक के बाद एक करके सम्पन्न होती हैं। इस क्रम को मानसिक अभेद की कल्पना करके एक क्रिया के रूप में प्रयोग किया जाता है[127]।

एक शङ्का होती है कि यदि लिङ्संख्याविहीन (असत्त्वभूत) क्रिया धातु का वाच्यार्थ है, तब तो "पाकः" इस प्रयोग में पच् धातु होने के कारण यहाँ भी उस क्रिया का ज्ञान होगा (क्योंकि पचति व पाकः

---

123. "तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति तद्धातुजन्योपस्थितिविषयत्वम्, तद्धात्वर्थत्वं वा"।
वै.भू.सा., दर्पणव्याख्या, कारिका-१, पृष्ठ - १०॥

124. "फलत्वञ्च तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे
तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्"। प.ल.म. – धात्वर्थनिरूपणम्, पृष्ठ – १२०॥

125. वा.प. – ३।८।१॥

126. "साध्यत्वं – क्रियाऽन्तराऽऽकाङ्क्षाऽनुत्थापकताऽवच्छेदकरूपवत्त्वम्।
साधनत्वं – कारकत्वेनान्वयित्वम्"। वै.भू.सा. – धात्वर्थ-विमर्श, कारिका – १४ वृत्ति ॥

127. "गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताः भेदाः क्रियेति व्यपदिश्यते"॥ वा.प. – क्रियासमुद्देश - ९॥

दोनों में पच् धातु है)। और यदि पाकः में असत्त्वभूत क्रिया की प्रतीति को स्वीकार करते हो तो महाभाष्यकार के *"कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते"*[128] (कृत्-प्रत्ययों से अभिहित भाव द्रव्यवत्, सत्त्ववत् या सिद्धवत् होते हैं) इस महाभाष्य वचन से विरोध होगा। इस शङ्का की निवृत्ति में कौण्डभट्ट कहते हैं – जैसे *"पश्य मृगो धावति"* तथा "पचति भवति" वाक्य में दो दो भाग बनाकर साध्य-क्रिया और साधन (कारक) की कल्पना कर ली जाती है – *"मृगो धावति"* कर्मकारक है और पश्य क्रिया है। इसी प्रकार पचति कर्त्ता कारक है और भवति उसी की (साध्य) क्रिया है। यह तिङन्त वाले वाक्य में व्यवस्था है। इसी प्रकार कृदन्त के *पाकः* इत्यादि प्रयोगों में भी पाकः की प्रकृति पच् और घञ् प्रत्यय दोनों भागों से साध्य एवं सिद्ध क्रिया तथा साधन (कारक) की कल्पना कर ली जाती है। अर्थात् पच् से साध्य क्रिया का और घञ् प्रत्यय से सिद्ध क्रिया और साधन का बोध होता है, एवं तिङन्त का क्रम कृदन्त में भी लागु है[129]। इसी विषय को आचार्य कौण्डभट्ट एक अन्य कारिका द्वारा भी स्पष्ट किया है – *साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना। सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः* [130]॥ इनके (साध्यावस्था एवं साधनावस्था (सिद्धावस्था) के) अन्तर[131] को सारणी द्वारा समझा जा सकता है –

साध्यावस्था	**साधनावस्था (सिद्धावस्था)**
• क्रिया की साध्यावस्था में किसी दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं रहती, वह अपने आप में ही पूर्ण होती है। यथा – *"देवदत्तः पचति"* यहाँ *देवदत्तः किं करोति,* इस प्रश्न के उत्तर पचति कहने पर अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं रहती।	• साधनावस्था में हमेशा किसी दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा बनी रहती है। यथा – *पाकः* कहने पर *भवति, जायते, विद्यते, नश्यति* आदि किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा होती है। अतः अन्य क्रिया का अध्याहार करके ही वाक्य पूर्ण होता है।
• साध्यावस्था क्रिया का किसी दूसरी क्रिया में कारकत्वेन अन्वय नहीं हुआ करता, बल्कि दूसरे कारकों का उसमें अन्वय होता है।	• साधनावस्था क्रिया स्वयं कारकरूपेण किसी दूसरी क्रिया में अन्वित हुआ करती हैं, किसी दूसरी क्रिया का उसमें अन्वय नहीं होता। यथा – *पाको जायते, पाकं प्रवर्त्तयति, पाकेन क्षुन्निवर्त्तते* आदि।
• साध्यावस्था क्रिया में लिङादि का योग नहीं होता। यथा पचति साध्यावस्थापन्न क्रिया है, इसमें किसी लिङ्ग का योग नहीं।	• साधनावस्था वाली क्रिया में लिङ्गादि का योग होता है (परन्तु यदि वह आख्यात होगी तब तो नहीं, केवल घञादिप्रत्ययोपस्थाप्य में ही) यथा – *पाकः, पचनम्, गतिः, गमनम्* आदि ।

---

[128]. म.भा. – २।२।१९॥

[129]. "आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनरूपता।
प्रकल्पिता यथा शास्त्रे स घञादिष्वपि क्रमः"॥
वै.भू.सा. – धात्वर्थ-विमर्श, कारिका – १४॥

[130]. वै.भू.सा., कारिका – १५॥

[131]. वै.भू.सा. – भैमीव्याख्या,कारिका १४ पृष्ठ – १५०॥

उपर्युक्त विषय को प्रश्नोत्तर-विधि द्वारा समझा जा सकता है – १. साध्यावस्था में प्रमाण क्या है? = अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा न होना ही साध्यावस्था का लक्षण है, इसी अवस्था में क्रिया असत्त्वभूत होती है। २. धात्वर्थ से व्यापार व फल का ज्ञान होता है। पचति, पाकः - इनमें एक साध्य व दूसरी सिद्ध मानी गई है, जबकि दोनों में पच् धातु है। दोनों में नियामक क्या है? = पाकः आदि में साध्यावस्था को घञादि-प्रत्यय अभिभूत कर लेते हैं (साध्यत्वेन...घञादिनिबन्धनः) तथा घञ्-प्रत्ययोत्थापित सिद्धावस्था स्पष्टतः प्रतीत होने लगती है। "स्तोकः पाकः" में स्तोकः पुल्लिङ्ग व एकवचन में है जो द्रव्यवत् पाकः (सिद्धावस्था) का विशेषण है। यदि धातूपस्थाप्य क्रिया के साथ अन्वय होता तो लिङ्ग व संख्या का अभाव पाया जाता क्योंकि सामान्य में नपुंसकलिङ्ग (सामान्ये नपुंसकम्) होता है – स्तोकं पाकः। परन्तु यह अशुद्ध रूप है। शुद्ध – स्तोकौ पाकौ। इस प्रकार घञादि में शक्ति मानना आवश्यक है। इससे नव्यनैयायिकों का भी खण्डन होता है जो घञादि को मात्र प्रयोग-साधुता हेतु मानते हैं। ३. यदि पचति से अग्नि जलाना, फुत्कारादि का बोध माना जाय तो क्रिया नानार्थक हो जायेगी? = ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि बुद्धिविशेष के द्वारा इनको एकत्व में जानना चाहिए[132]।

१.३.२.वैयाकरणों से नागेश भट्ट का मतभेद –

प्राचीन वैयाकरण भर्तृहरि एवं उनके अनुयायियों (भट्टोजिदीक्षित आदि) का मत है कि धातु के मुख्यतया फल और व्यापार ये दो पृथक्-पृथक् अर्थ हैं। अतः "फलव्यापारयोर्धातुः .." इस कारिका में "फलव्यापारयोः" यह द्विवचनान्त पद का प्रयोग किया गया है। इसी फल और व्यापार दोनों में धातु की पृथक्-पृथक् शक्ति मानने वालों का खण्डन (फलव्यापारयोर्धातुः ..) नागेश द्वारा किया गया है। वस्तुतः उनको इस मत में कई आपत्तियाँ दिखाई देती हैं -

१. फल और व्यापार को धातु का अलग-अलग अर्थ मानने पर अर्थ के अनुसार कभी व्यापार को उद्देश्य एवं फल को विधेय मानना पडेगा तथा कभी फल को उद्देश्य एवं व्यापार को विधेय के रूप में स्वीकार करना पडेगा। क्योंकि दो भिन्न अर्थ होने पर इस प्रकार के उद्देश्य विधेय भाव की स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।[133] यथा – "नीलो घटः" यहाँ नीलः कभी उद्देश्य होता है तथा घटः विधेय, तो कभी नीलः विधेय होता है घटः उद्देश्य।

२. फल और व्यापार दोनों में धातु की पृथक्-पृथक् शक्ति मानने पर दो प्रकार की व्युत्पत्तियों अर्थात् कार्यकारणभावों की कल्पना करनी पडती है।[134] तात्पर्य है कि एक पद में दो-दो व्युत्पत्तियों की कल्पना में अतिगौरव होता है। जैसे कि फल विशेषण और व्यापार विशेष्य में होने वाले शाब्दबोध रूप कार्य के प्रति कर्तृवाचक प्रत्ययों से सम्बन्धित धातुजन्य अर्थ की उपस्थिति ही कारण होती है और जहाँ व्यापार विशेषण एवं फल विशेष्य वाला शाब्दबोध होता है, उस कार्य के प्रति कर्मवाचक

---

[132]. "गुणभतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्। बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते"॥ वा.प. – ३।८।४॥

[133]. "परे तु फलव्यापारयोर्धातोः पृथक् शक्तावुद्देश्यविधेयभावेनान्वयापत्तिस्तयोः स्यात्" ।
प.ल.म., धात्वर्थनिरूपणम्, आचार्यलोकमणिदहालः (संपा.) पृष्ठ -१२३ ॥

[134]. "एकपदे व्युत्पत्तिद्वयकल्पनेऽतिगौरवम्। तथा हि फलविशेषणव्यापारबोधे
कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितिः कारणम्। व्यापारविशेषणकफलबोधे
कर्मप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावद्वयकल्पनम्"।
प.ल.म., धात्वर्थनिरूपणम्, आचार्यलोकमणिदहालः (संपा.) पृष्ठ -१२३ ॥

प्रत्ययों से सम्बन्धित धातुजन्य अर्थ की उपस्थिति कारण होती है। इस तरह दो कार्यकारण भावों की कल्पना करनी पडेगी।

३. धातुओं के दो भिन्न-भिन्न अर्थ फल और व्यापार है। यहाँ धातुओं में इन दो अर्थों में दो-दो वाचकता शक्तियों की कल्पना करनी पडती है।[135]

४. धातुओं के दो भिन्न-भिन्न अर्थ फल और व्यापार है। अतः धातु के दो-दो बोधजनकत्व सम्बन्धों की कल्पना करनी पडेगी[136], जो कि अत्यन्त गौरव का विषय होगा। तृतीय एवं चतुर्थ आपत्ति में उक्त वाचकता शक्ति तथा बोधजनकता लगभग एक ही विषय को बताती हैं। बोधजनकता सम्बन्ध में उसी विषय को पुनः इसलिए कहा कि कुछ प्राचीन विद्वान् बोधजनकता को ही शक्ति मानते है। नागेशभट्ट वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध को शक्ति मानते हैं, अतः प्राचीनों की दृष्टि से यह चौथी आपत्ति प्रस्तुत की है।

वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जुषा में नागेश भट्ट ने प्रभाकर आदि मीमांसकों के मत को उद्धृत किया है।[137]जिसके अनुसार मीमांसक फल को धातु का अर्थ एवं व्यापार को प्रत्यय का अर्थ मानते हैं। मीमांसकों के इसी मत का खण्डन कौण्डभट्ट वैयाकरणभूषणसार में करते हैं जिसका महद् वर्णन ही टीकाकार हरिवल्लभ ने दर्पण टीका में किया है।[138]

१.४.तिङर्थ का निरूपण –

तिङन्त पद में दो अंश होते हैं – धातु एवं प्रत्यय। धात्वर्थ का विवेचन किया जा चुका है। अब यहाँ तिङर्थ का वर्णन अपेक्षित है।

वैयाकरण तिङन्त-पदों से व्यापार, फल और व्यापाराश्रय तथा फलाश्रय का संकेतग्रह मानते है। उनका मत है कि धातु का अर्थ फल एवं व्यापार होता है। व्यापार, क्रिया, भावना, उत्पादना आदि एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने वाले अलग-अलग शब्द हैं[139]। जबकि तिङ् का अर्थ (आख्यातार्थ) आश्रय, संख्या एवं काल है। यहाँ आश्रय से तात्पर्य धात्वर्थ = फल और व्यापार के आश्रय से होता है अर्थात् तिङ् की शक्ति फलाश्रय

---

135. "धातोरर्थद्वये शक्तिद्वयकल्पनम् ...." । प.ल.म. - धात्वर्थनिरूपणम्, आचार्यलोकमणिदहालः (संपा.) पृष्ठ -१२३ ॥

136. "धातोर्बोधजनकत्वसम्बन्धद्वरकल्पनं चातिगौरवम्"।
प.ल.म. - धात्वर्थनिरूपणम्, आचार्यलोकमणिदहालः (संपा.) पृष्ठ -१२३ ॥

137. "अत्र मीमांसकेषु मण्डनमिश्राः – फलमेव धात्वर्थः, अनुकूलव्यापारस्तु आख्यातार्थः, लडाद्यर्थवर्तमानत्वादीनांव्यापारेऽन्वयः, एकपदोपात्तत्वात्। फलस्याख्यातार्थ व्यापार प्रति विशेषणत्वम् इति। अन्ये मीमांसकास्तु – व्यापारमात्रं धात्वर्थः फलं च द्वितीयार्थ इति मन्यन्ते। नव्यमीमांसकाश्च – फलव्यापारौ धात्वर्थः उभयत्र खण्डशः एका शक्तिः। तत्र जन्यजनकभावः संसर्गः। व्यापारमुख्यविशेष्यकश्च कर्मकारकस्य च कर्तृपदसमभिव्याहारे फलेऽन्वयः इत्याहुः"।
वै.सि.म. - (धात्वर्थनिर्णयः) पृष्ठ – ३९॥

138. "दर्शनशास्त्रं न्यायादिः, अन्यदर्शनं दर्शनाऽन्तरं, तत्र भवा दर्शनान्तरीया, गहादित्वाच्छः। पचति इत्यस्य पाकं करोतीति विवरणात् फलं पच्याद्यर्थस्तिङ् तु व्यापारवचनं इति मीमांसका मन्यन्ते"॥
वै.भू.सा., धात्वर्थनिर्णयः, (टीका से उद्धृत) पृष्ठ - २१

139. "व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया"। वै.भू.सा. – धात्वर्थनिर्णय, चन्द्रिकाप्रसाद द्विवेदी (संपा.) पृ. ४५॥

और व्यापाराश्रय में होती है। फलाश्रय कर्म तथा व्यापार का सीधा सम्बन्ध कर्त्ता से होने के कारण व्यापाराश्रय कर्त्ता होता है।

इस प्रकार तिङ् कर्त्ता और कर्म का संकेत करता है, परन्तु इन दोनों का संकेत एक साथ नहीं होकर पृथक्-पृथक् होता है तिङ् के द्वारा जब कर्त्ता वाच्य होता है तो कर्म उस समय वाच्य नहीं होता तथा जब कर्म होता है तो कर्त्ता नहीं, यथा – *रामः पुस्तकानि पठति* यहाँ तिङ् के द्वारा व्यापाराश्रय राम वाच्य है अतः क्रिया प्रथम पुरुष एकवचन में है। *रामेण पुस्तकानि पठ्यन्ते* यहाँ तिङ् के द्वारा फलाश्रय कर्म (पुस्तकानि) वाच्य है अतः क्रिया भी बहुवचन हुई। अतः तिङन्तों के दो भेद होते हैं – कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य जो वक्ता की इच्छा पर निर्भर करते हैं कि वक्ता कर्त्ता को महत्त्व देता है या फल को।

१.४.१.मीमांसक - मत में तिङर्थ एवं वैयाकरणों से मतभेद -

मीमांसकों के अनुसार धातु का अर्थ केवल फल (विक्लिति = चावल का गलना) है, तथा तिङ् का वाच्य व्यापार (भावना) है। अर्थात् तिङर्थ व्यापार है। "पचति" आदि में "तिप्" व्यापार को ही प्रकट करता है। "पचति" आदि पद से जिस कर्त्ता का बोध होता है वह प्रत्यय का अर्थ नहीं है। ध्यातव्य है कि वैयाकरण धातु का अर्थ फल और व्यापार तथा तिङ् से फलाश्रय (कर्म) और व्यापाराश्रय (कर्त्ता) का ग्रहण करते हैं। मीमांसक वैयाकरणों के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं उनका मानना है कि तिङ् से कर्त्ता व कर्म का ज्ञान होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि इनका ज्ञान तो तीन कारणों = लक्षणा, आक्षेप व प्रथमान्त-पद के द्वारा हो सकता है[140] -

- **लक्षणा के द्वारा –** मीमांसक मत में लक्षणा के द्वारा कर्त्ता व कर्म की प्रतीति हो जाती है। यथा – गंगा शब्द का अर्थ "जल प्रवाह" है तट नहीं परन्तु "गंगायां घोषः" (गंगा में गाँव है) आदि शब्दों में गंगा शब्द से लक्षणा शक्ति के द्वारा "तट" अर्थ लिया जाता है वैसे ही यहाँ भी तिङों का निजी अर्थ व्यापार (भावना) है परन्तु लक्षणा के द्वारा उससे कर्त्ता एवं कर्म की प्रतीति भी हो जाती है।
- **आक्षेप के द्वारा –** मीमांसकों के अनुसार आक्षेप से अभिप्राय "अर्थापत्ति" से है एवं अर्थापत्ति को मीमांसक एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। जबकि नैयायिक इसका अन्तर्भाव अनुमान में ही करते है। अत एव नैयायिकों के मत में आक्षेप से तात्पर्य अनुमान से है। मीमांसकों के अनुसार कर्त्ता और कर्म की प्रतीति अर्थापत्ति के द्वारा हो जाती है। "येन विना यदनुपपन्नं तत् तेन कल्प्यते" अर्थात् जिसके बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता वह उससे कल्पना कर लिया जाता है। जैसे कोई कहे कि "पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" देवदत्त मोटा है परन्तु वह दिन में नहीं खाता है। इस प्रकार देवदत्त के मोटे होने तथा दिन में न खाने के कारण निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह रात्रि में खाता है। इसी प्रकार "भवति" आदि पदों में तिङ् वाच्य भावना कर्त्ता व कर्म के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः कर्त्ता व कर्म की ऊपर से कल्पना कर ली जायेगी।
- **प्रथमान्त पद के द्वारा –** मीमांसकों के अनुसार प्रथमान्त पद के द्वारा भी कर्त्ता व कर्म की प्रतीति हो सकती है। जैसे "देवदत्तः पचति" में "पचति" के साथ प्रथमान्त पद "देवदत्तः" आदि लगा रहता है। उससे कर्त्ता आदि की प्रतीति हो जाती है क्योंकि साथ लगे पद का वाक्यार्थ में उपयोग किया जा सकता है।

मीमांसकों ने उपर्युक्त तीन उपाय बताए हैं जिनसे कर्त्ता व कर्म की प्रतीति हो सकती थी, अतः उनका मानना था कि तिङ् द्वारा कर्त्ता व कर्म को वाच्य मानने में कोई प्रमाण नहीं। इस प्रश्न के उत्तर को

---

[140] . "प्रतीतेर्लक्षणया आक्षेपात् प्रथमान्तपदाद् वा सम्भवाद् इति चेत्"।
वै.भू.सा. - धात्वर्थनिरूपण पृष्ठ – १९॥

वैयाकरण आचार्य पाणिनि के इस विषय में उक्त *"कर्तरि कृत्"*[141] एवं *"लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः"*[142] सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं अर्थात् लकारों का विधान कर्तृवाच्य में कर्त्ता में तथा कर्मवाच्य में कर्म में होता है। सकर्मक धातुओं से लकार कर्मकारक में होते हैं चकार से कर्त्ता में भी, और अकर्मक धातुओं से भाव में तथा चकार से कर्त्ता में भी होते हैं।[143] सूत्र में यद्यपि लकारों के ही कर्म और कर्त्ता अर्थ बताये गए हैं तिङों के नहीं, तथापि लोक में वस्तुतः वे तिङों के ही अर्थ हैं। क्योंकि व्याकरण में लकार के स्थान पर ही तिङ् आदेश होते हैं अतः लकार के ही कर्त्तादि अर्थ कल्पित किये जाते हैं जो बाद में स्थानिवद्भाव से उनके स्थानों पर आदेश होने वाले तिङों में सङ्क्रान्त हो जाते हैं।

जैसे रामैः पद में विसर्गादियों का ही करण आदि अर्थ है जो व्याकरण में भिस् प्रत्यय में कल्पित कर बाद में विसर्गादियों में पुनः सङ्क्रान्त हुआ करता है। इसी प्रकार रामान् पद के नकारादियों का ही कर्मादि अर्थ है जो शस् में कल्पित कर बाद में स्थानिवद्भाव से पुनः नकारादियों को सङ्क्रान्त हुआ करता है। वैसे ही यहाँ तिङादियों के ही कर्त्ता व कर्म अर्थ हुआ करते हैं जो व्याकरण प्रक्रिया की सुविधा के लिए लकारों के अर्थ कल्पित कर बाद में स्थानिवद्भाव से तिङादियों को पुनः सङ्क्रान्त हो जाते हैं[144]। यहाँ शङ्का होती है कि जिस प्रकार अष्टा.-१।४।२२ सूत्र में एक से एकत्व व द्वि से द्वित्व का ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार **"लः कर्मणि.."** से कर्तृत्व व कर्मत्व का ग्रहण करना चाहिए जिसमें कर्तृत्व से कृति व कर्मत्व से फल का ज्ञान होगा, इस प्रकार व्यापार व फल से ही लकारों का विधान मान जायेगा। व्यापाराश्रय व फलाश्रय की आवश्यकता ही नहीं पडेगी। इसके समाधान में कह गया है कि ऐसा सोचना उचित नहीं क्योंकि व्यापार और फल तो धातु के अर्थ हैं। लकारों के साथ पुनः इनकी प्राप्ति अनर्थक है। अतः कर्म व कर्तृ अर्थ लकारों का है, सिद्ध है[145]।

इसके अतिरिक्त वैयाकरणों के अनुसार मीमांसकों के मत में पच् धातु से फल व भावना (व्यापार) से लकारों का ग्रहण करना उचित नहीं, क्योंकि **"अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ"** (शब्द का अर्थ वही मानना चाहिए जो अन्य शब्द से लभ्य या प्राप्य न हो) न्याय के अनुसार धातु से पहले ही फल व व्यापार का ग्रहण किया जा चुका है। इस पर मीमांसक कहते है कि यह अर्थ वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत है न कि मीमांसकों द्वारा। अतः न्याय में कोई विरोध नहीं। वैयाकरण कहते हैं यदि लकारों का अर्थ भावना (व्यापार) स्वीकृत है तो मीमांसकों के मत में कृत्-प्रत्यय भी कर्त्ता व कर्म के वाचक न हो सकेंगे। क्योंकि **"लः कर्मणि.." (अष्टा. – ३।४।६९)** सूत्र में कर्त्ता से कर्तृत्व = भावना (व्यापार) तथा कर्म से कर्मत्व= फल, मानने से **"कर्त्तरि कृत्" (अष्टा. – ३।४।६७)** में भी कर्तृ का अर्थ कर्तृत्व = भावना (व्यापार) मानना होगा जिससे मीमासकों के मत में कृत् भी भावना अर्थ में होने लगेंगे, जो कि अनिष्ट होगा। ध्यातव्य है कि मीमांसक तिङों को कर्त्ता वे कर्म का वाचक नहीं मानते परन्तु कृत्प्रत्ययों को मानते हैं। ऐसी स्थिति में वैयाकरणों का प्रश्न है कि मीमांसक तिङ् व कृत् में ऐसा भेद क्यों मान रहे हैं, जबकि अष्टा. - ३।४।६७ से कर्त्तरि की अनुवृत्ति अष्टा.-३।४।६९ में आ रही है[146]।

मीमांसक कृत्प्रत्ययों को कर्त्ता व कर्म का वाचक मानकर भावना का आक्षेप मानते हैं। इस सिद्धान्त पर वैयाकरण कहते हैं कि जैसे कृत्प्रत्ययों में भावना का आक्षेप मानते हो उसी प्रकार तिङों में भी मानना

---

141. अष्टा. – ३।४।६७॥

142. अष्टा. – ३।४।६९ ध्यातव्य है कि वैयाकरण मीमांसकों का खण्डन करने के लिए पाणिनि सूत्र को उद्धृत करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि प्राचीन आचार्यों में मतभेद नहीं था॥

143. "लकारः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्त्तरि च स्युः अकर्मकेभ्यः भावे कर्त्तरि च"। वै.सि.कौ. –३।४।६८॥

144. वै.भू.सा. - भैमीव्याख्या, पृष्ठ – ३२ ॥

145. "न च सूत्रे कर्तृ-कर्मपदे कर्तृत्व-कर्मत्वपरे। तथा च कर्तृत्वं कृतिः..."। वै.भू.सा. – धात्वर्थ-निर्णयः, कारिका -२, वृत्ति॥

146. "अथ दर्शनान्तरीय-रीत्या व्यापारस्य..."। वै.भू.सा. – धात्वर्थनिर्णयः, कारिका – २, वृत्ति॥

चाहिए। क्योंकि आप जाति (घटत्व) में शक्ति मानते हो तथा व्यक्ति (घट) का आक्षेप या अध्याहार करते हो ऐसी स्थिति में "घटमानय" में आक्षिप्त व्यक्ति की भी प्रधानता मान ली जाती है वैसे ही तिङों में भी आक्षिप्त भावना की प्रधानता स्वीकृत की जा सकती है (आक्षिप्त अर्थ सदा अप्रधान रहते हैं कभी प्रधान नहीं बन सकते)।

मीमांसक कहते हैं विवरण (विवृति) से भी शब्दों के अर्थ का निश्चय हुआ करता है जैसे लोक में "पचति" का विवरण "पाकं करोति" है। "पाकम्" धातु के अर्थ = फल को बताता है जबकि "करोति" में ति द्वारा वाच्य भावना (व्यापार) है। अतः धातु का अर्थ फल व तिङ् का अर्थ व्यापार (भावना) है। जिससे ज्ञात होता है कि भावना में ही तिङ्प्रत्ययों का विधान है। इस पर वैयाकरण कहते हैं "करोति" का उपर्युक्त भावनाप्रधान विवरण से अतिरिक्त भी इसका कर्तृप्रधान विवरण (देवदत्तः पचति = देवदत्तैककर्तृका पचिक्रिया) भी लोक में दिखाई देता है। इसके प्रत्युत्तर में मीमांसक कहते हैं कि वैयाकरणों का विवरण तात्पर्यानुसारी है जबकि हमारा शब्दानुसारी। अर्थों का विवेचन शब्दानुसारी विवरणों से ही होता है जैसे – पाकं करोति व धवखदिरौ। वैयाकरण इस विषय में कहते हैं कि "पाकम्" में कर्म विभक्ति लगाकर अर्थ किया गया है जबकि धात्वर्थ (पचति) में कर्म का नामोनिशान नहीं, इसी प्रकार अन्य समुच्चय का शब्द द्वारा उल्लेख नहीं तथापि चकार से ज्ञात माना जा सकता है। इस प्रकार विवरण से कोई परिणाम प्राप्त नहीं किया जा सकता।

१.४.२.नैयायिक-मत में तिङर्थ एवं वैयाकरणों से मतभेद –

व्याकरण-सिद्धान्त के अनुसार तिङों के चार अर्थ होते हैं - कर्त्ता, कर्म, संख्या और काल। इनमें विशेषण-विशेष्य भाव निम्नलिखित है – कर्त्ता व्यापार का विशेषण है – देवदत्तः पचति = देवदत्तनिष्ठो विक्लित्यनुकूलव्यापारः। कर्म फल का विशेषण है – तण्डुलाः पच्यन्ते = तण्दुलनिष्ठं विक्लितिरूपं फलम्। तिङर्थ संख्या कर्त्ता व कर्म की विशेषण है – देवदत्तौ पचतः = द्वित्वविशिष्टदेवदत्तकर्तृकं पचनम्; तण्डुलाः पच्यन्ते = बहुत्वविशिष्टतण्डुलकर्मकं पचनम्। इस प्रकार संख्या का अन्वय धातु के अर्थ (फल या व्यापार) के साथ न होकर कर्त्ता व कर्म के साथ होता है जबकि सुबन्तों में इसका अन्वय प्रकृति के अर्थ के साथ होता है। इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि कर्त्ता, कर्म व संख्या एक ही प्रत्यय से कहे जा रहे है जो कि धात्वर्थ की अपेक्षा सन्निहिततर है। अतः परस्पर अन्वित हो सकते हैं[147]।

नैयायिक तिङ्-प्रत्ययों का अर्थ कर्त्ता व कर्म के स्थान पर "कृति" स्वीकार करते हैं। अतः वे संख्या को अन्वित करने के लिए प्रथमान्त-पद का आश्रय लेते हैं। जैसे – "देवदत्तः पचति" यहाँ "पचति" के तिङर्थ एकवचन का अन्वय प्रथमान्त-पद "देवदत्तः" के साथ करते हैं। (मीमांसक भी तिङ् का अर्थ भावना मानकर कर्त्ता व कर्म का आक्षेप करते हैं। उन्हे आक्षिप्त अर्थ के साथ संख्या को अन्वित करना पडता है। वस्तुतः मीमांसकों व नैयायिकों के सिद्धान्त गौरवदोषग्रस्त हैं) परन्तु वैयाकरण तिङ् का अर्थ कर्त्ता व कर्म भी मानते है अतः तिङर्थ संख्या का अन्वय उसी तिङर्थ कर्त्ता व कर्म के साथ परस्पर हो जाता है। किसी अन्य का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती।

ध्यातव्य है कि नैयायिक व वैयाकरण दोनों के शाब्दबोध में कार्यकारणभाव के विचार से ज्ञात होता है कि दोनों मतों में तिङर्थ संख्या, कर्त्ता व कर्म की विशेषण बनती है तथा इससे जो बोध उत्पन्न होता है वह तिङर्थसङ्ख्याप्रकारक बोध (तिङर्थ सङ्ख्या प्रकार अर्थात् विशेषण है जिसमें ऐसा बोध) कहलाता है। यह बोध यदि कार्य है तो वैयाकरण मत में इसका कारण कर्त्ता व कर्म हैं इसमें किसी बाह्य पद की उपस्थिति का आश्रय नहीं लिया जायेगा, अतः बोधरूप कार्य का कारण स्वयमेव फलित हो जायेगा। परन्तु नैयायिक ऐसे

---

[147] . "पदार्थं निरूप्य वाक्यर्थं निरूपयति - ....समानप्रत्ययोपात्तत्वात्"। वै.भू.सा. – धात्वर्थ-निर्णय, कारिका – २, वृत्ति॥

बोधरूप कार्य के कारण के रूप में बाह्य प्रथमान्त पद के अर्थ को ग्रहण किया जायेगा। अतः नैयायिकों का मत गौरव-ग्रस्त है।

नैयायिक तिङर्थ सङ्ख्या का अन्वय प्रथमान्त पद के साथ करते हैं। प्रश्न होता है कि **"चन्द्रः इव मुखं दृश्यते"** में "दृश्यते" की तिङ्गत सङ्ख्या का अन्वय मात्र "मुखम्" के साथ क्यों? जबकि "चन्द्रः" भी प्रथमान्त पद है। ऐसी स्थिति में नैयायिकों को कहना होगा कि तिङर्थ सङ्ख्या का अन्वय उस प्रथमान्त पद के साथ होगा जो किसी अन्य का विशेषण नहीं होगा। यहाँ चन्द्र यद्यपि प्रथमान्त पद है परन्तु वह इव के अर्थ सादृश्य का विशेषण है। जबकि वैयाकरणों के साथ ऐसी समस्या नहीं है क्योंकि वे तिङ् के कर्त्ता व कर्म भी अर्थ होते हैं सङ्ख्या भी[148]।

नैयायिक तिङ् का अर्थ कृति मानते हैं एवं "पचति" आदि आख्यातों में भावना (व्यापार) को प्रधान नहीं मानते। कृति आश्रय के बिना नहीं रह सकती अतः इसका अन्वय "देवदत्त" आदि प्रथमान्त कर्त्ताओं के साथ किया जाता है। इसी कारण "पचति" आदि "देवदत्तः" आदि कर्त्ताओं के विशेषण हैं। "देवदत्तः" विशेष्य है – "पाकानुकूल-वर्त्तमानकालिक-कृत्याश्रयो देवदत्तः" (विक्लिति को पैदा करने वाली, वर्त्तमानकालिक जो कृति उसका आश्रय देवदत्त है)। यद्यपि वैयाकरण तिङ्-प्रत्ययों को कर्त्तादि अर्थों में मानते हैं तथापि उनके मत में व्यापार (भावना) ही प्रधान है तिङर्थ तो विशेषण (तिङर्थस्तु विशेषणम्) है – "देवदत्तकर्त्तृक-वर्त्तमानकालिक-पाकानुकूलो व्यापारः"। नैयायिक मत में दोष दिखाते हुए वैयाकरण कहते हैं कि यदि **"प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्"** इस सिद्धान्त को तिङन्त में मानोगे तो "प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक" (प्रथमान्त पद का अर्थ जिसमें मुख्य विशेष्य है) का बोध मानना पडेगा। क्योंकि तब तिङ् के अर्थ कर्त्ता का "देवदत्त" आदि प्रथमान्तपदों के अर्थ के साथ अभेदान्वय मानना पडेगा। इसके कारण "पश्य मृगो धावति" (देखो मृग दौडता है) में एकवाक्यता सम्बन्धि वाक्यार्थ में दोष आएगा। एकवाक्यता में मुख्य विशेष्य एक होता है। नैयायिक-मतानुसार प्रत्ययार्थ की प्रधानता मानने पर "मृगो धावति" (वर्त्तमानकालिक-धवनानुकूल-कृत्याश्रयो मृगः) "पश्य" (तत्कर्मकदर्शनाश्रयस्त्वम्) दो वाक्य बन जायेंगे तथा पृथक्-पृथक् विशेष्य होने से एकवाक्यता नहीं रहेगी। जबकि वाक्य-लक्षण है – **"एकतिङ् वाक्यम्"**। इसके अतिरिक्त यदि "तम्" कर्म का अध्याहार करके (मृगो धावति तम् पश्य) अर्थ करेंगे तो मृग में द्वितीया की प्रसक्ति नहीं होगी। क्योंकि महाभाष्यकार इस वाक्य में एकवाक्यता मानते हैं एकवाक्य में एक ही मुख्य विशेष्य होता है जबकि यहाँ मृग तथा त्वम् (पश्य) विशेष्य हैं जो महाभाष्यविरुद्ध है। द्वितीय = वक्ता का अभिष्ट सिद्ध नहीं होगा वक्ता कहना चाहता है – मृग के दौडने को देख, नैयायिक कह रहे हैं - मृग को देख। इस प्रकार नैयायिकों के मत में महाभाष्यसिद्ध एकवाक्यता नहीं रहेगी[149]।

१.५.सकर्मक एवं अकर्मक –

पूर्वोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि वैयाकरण धातु के अर्थ में फल और व्यापार को स्वीकार करते हैं तथा तिङर्थ में फलाश्रय व व्यापाराश्रय को। इसी फलाश्रय व व्यापाराश्रय के आधार पर ही सकर्मक व अकर्मक का ज्ञान सम्भव हो पाता है।

जब व्यापार और फल का आश्रय एक ही होता है तो वहाँ अकर्मकत्व मानना चाहिए, जैसे – "शेते" यहाँ व्यापार का आश्रय व फल का आश्रय दोनों समान हैं। जब फल का आश्रय व्यापाराश्रय से भिन्न होता है वहाँ सकर्मकत्व होता है, जैसे – "रामः फलं खादति" यहाँ खादन क्रिया का व्यापार राम में स्थित है तथा

---

[148]. "तथा चाऽऽख्यातार्थ-सङ्ख्याप्रकारकबोधं प्रति..."। वै.भू.सा. – धात्वर्थ-निर्णय, कारिका -२, वृत्ति॥

[149]. वै.भू.सा. – धात्वर्थ-निर्णय, कारिका – २ वृत्ति॥

उसका फल गलविलाध संयोग "फल" में स्थित है अतः फल और व्यापार भिन्न होने के कारण खाद् धातु सकर्मक कहलाती है। वस्तुतः सकर्मकता और अकर्मकता उसके आश्रय में भेद और अभेद पर आधारित है। व्यापाराश्रय से भिन्न किसी वस्तु या व्यक्ति में जिस धातु का फल रहता है उसे सकर्मक कहते है तथा व्यापाराश्रय तथा फलाश्रय में अभेद की स्थिति अकर्मक है – *"सकर्मकत्वञ्च फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्, फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम्"*[150]। अन्य - *फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः। धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः*[151]॥ वैयाकरणों सकर्मक और अकर्मक की परिभाषा में – "धातु के अपने अर्थ व्यापार से भिन्न अधिकरण में फल को बताने वाली धातु सकर्मक तथा धातु के अपने अर्थ व्यापार के ही अधिकरण में फल को बताने वाली धातु अकर्मक होती है"।

उपर्युक्त वैयाकरणों की यह व्यवस्था व्यापार को प्रत्ययार्थ मानने पर नहीं बन सकती। अतः मीमांसक मण्डनमिश्रादि सकर्मक और अकर्मक को निम्न प्रकार से परिभाषित करते हैं – "प्रत्यय के अर्थ व्यापार से भिन्न अधिकरण में रहने वाले फल की वाचक धातुएँ सकर्मक हैं, तथा प्रत्यय के अर्थ व्यापार के ही अधिकरण में रहने वाले फल की वाचक धातुएँ अकर्मक हैं।[152]" यथा – "देवदत्तः तण्डुलं पचति" में पच् धातु सकर्मक है क्योंकि पचति में तिप् प्रत्यय का अर्थ व्यापार कर्त्ता देवदत्त में है तथा पच् धातु का अर्थ फल (विक्लित्ति) कर्म तण्डुल (चावलों) में हैं। अतः व्यापार और फल के अधिकरण भिन्न-भिन्न है। परन्तु शीङ् धातु अकर्मक है क्योंकि शीङ् धातु का अर्थ फल (आराम करना) देवदत्तादि कर्त्ता में है, तथा "त" प्रत्यय का अर्थ व्यापार (लेटना) भी देवदत्तादि कर्त्ता में ही है अतः व्यापार और फल दोनों का अधिकरण एक ही कर्त्ता है।

उपसंहार - वैयाकरणभूषणसार में धात्वर्थ-प्रकरण में क्रिया का व्याख्यान किया गया है। इस प्रकरण की निम्नलिखित कारिका ही सम्पूर्ण व्याख्यान का आधार मानी गई है –

"फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।

फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्"[153]॥

अर्थात् धातु से फल और व्यापार कहे जाते है। अतः धातु इन दोनों का वाचक है। तिङ् से इनके (फल और व्यापार के) आश्रय (फलाश्रय = कर्म; व्यापाराश्रय = कर्त्ता) का वाचन होता है। अतः तिङ् इन आश्रयों के वाचक हैं। यद्यपि धातु से फल व व्यापार दोनों कहे जाते हों। तथापि दोनों में फल के प्रति व्यापार प्रधान होता है। व्यापार के प्रधान होने से यह विशेष्य भी है तथा फल विशेषण है। क्रिया का क्रियात्व उसके व्यापार के कारण होता है। अन्य दृष्टि से व्यापार जनक है व फल जन्य तथा व्यापार के कारण ही फल की प्राप्ति होती है। अतः वैयाकरण "रामः गच्छति" में व्यापार की प्रधानता के कारण "रामकर्तृकगमनानुकूलो व्यापारः" शाब्दबोध करते हैं। जिसका अर्थ – राम के द्वारा किया जाने वाला गमन के अनुकूल व्यापार अर्थात् राम के द्वारा कोई व्यापार किया जा रहा है जो गमन के अनुकूल है। इस प्रकार की व्याख्या में अर्थ के व्यापार (क्रिया अंश) की प्रधानता है।

---

150. प.ल.म. – धात्वर्थ-निरुपण ॥

151. वै.भू.सा. – धात्वर्थ-निर्णय, कारिका-१३ ॥

152. "प्रत्ययार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वम् सकर्मकत्वम्।
प्रत्ययार्थव्यापारसमानाधिकरणफलवाचकत्वञ्चाऽकर्मकत्वम्"।
वै.सि.म. (धात्वर्थ-निर्णय) – नागेश भट्ट पृष्ठ -४०॥

153. वै.भू.सा. – धात्वर्थ-प्रकरणम्, कारिका-२॥

उक्त विषय के साथ-साथ विभिन्न दार्शनिकों व महाभाष्यकार के क्रिया के सम्बन्ध में मन्तव्य को भी वैयाकरणभूषणसार के सन्दर्भ में प्रथम अध्याय – **"तिङन्त-पद में धात्वंश एवं प्रत्ययांश का अर्थवैज्ञानिक अध्ययन"** में बताया गया है।

द्वितीय अध्याय

तिङन्त-पदों का स्वर की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

द्वितीय-अध्याय

तिङन्त-पदों का स्वर की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

वेद के गम्भीरतम अर्थ को समझने के लिए ऋषियों ने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और कल्प वेदाङ्गों का प्रणयन किया है[154]। जैसे हस्त, पाद मुख आदि शरीर के अङ्ग है वैसे ही उपर्युक्त षड् शास्त्र भी वेद के अङ्ग माने जाते हैं।[155] इन वेदाङ्गों में व्याकरण को प्रधानतम माना गया है।[156] वेदार्थ के सूक्ष्म अर्थ को जानने में सहायक स्वर-प्रकरण व्याकरण का ही एक विषय है। जिसके बिना न केवल मन्त्र के अर्थ का अवबोध नहीं हो सकता अपितु अनर्थ की भी आशंका सदैव बनी रहती है। ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कटमाधव के अनुसार अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ मनुष्य मार्ग में कहीं ठोकर नहीं खाता है। इसी प्रकार स्वरों की सहायता से किए गए अर्थ स्फुट (संदेह रहित) होते हैं।[157] भर्तृहरि अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-नियमन के लिए अनेकविध हेतुओं (चतुर्दश) का उल्लेख करते हैं[158] जिनमें स्वर का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है - १. संयोग २. विप्रयोग ३. साहचर्य ४. विरोधिता ५. अर्थ ६. प्रकरण ७. लिङ्ग (अर्थ विशेषवाचक शब्द) ८. अन्य पद की समीपता, ९. सामर्थ्य १०. औचित्य ११. देश १२. काल १३. व्यक्ति (स्त्रीपुन्नपुंसक) और १४. स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि)। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में[159] वेदार्थ में स्वरों को उपयोगी मानते हैं।

मीमांसा के तृतीय वर्णक (व्याख्या) में भाष्यकार शबर स्वामी कहते हैं कि यज्ञ में मन्त्रों में तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) का पाठ अर्थज्ञान के लिए होता है।[160]जबकि साहित्यदर्पणकार वेदार्थ में स्वर को विशेष अर्थ का बोधक मानते हैं।[161] पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है – स्वर अथवा वर्ण से अशुद्ध उच्चरित हीन मन्त्र अपने अर्थ को नहीं कहता तथा वह वाग्-रूपी वज्र यजमान को नष्ट करता है, जैसे स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु ने किया।[162]

आख्यायिका – इन्द्रशत्रु के अनुसार त्वष्टा नाम के असुर ने अपने पुत्र की वृद्धि के लिए जो यज्ञ किया था, उसमें इन्द्र के अथवा उसकी भेदनीति के द्वारा अपनी ओर मिलाए गए ऋत्विजों ने *इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व* मंत्र में अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु पद के स्थान में इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व आद्युदात्त पद का प्रयोग कर दिया उससे इन्द्र वृत्र का शत्रु-मारने वाला है यह अर्थ प्रकट हो गया।

---

154. "बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङानि च"। नि. – १।२०॥

155. "छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते"।
पा.शि. – ४१,४२

156. "प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्"। म.भा. – १।१। आ.-१॥

157. "अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति"। स्व.अनु. - १।८॥

158. "संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥"
वा.प. - पुण्यराज की टीका, पृ. - २१६)॥

159. "वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते"| ऋ.भा.भू. - संस्करण – ३, पृ. ३७४॥

160. "अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति? उच्यते, अर्थावबोधनार्थं भविष्यति"। मी.सू. – ९।२।३१, भाष्य से उद्धृत॥

161. "स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्"। सा.द. – परिच्छेद – ३॥

162. "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्"॥ पा.शि. – कारिका – ५२॥

२.१.पाणिनि-प्रोक्त स्वर-मीमांसा -

स्वर पर ध्यान दिए बिना वेद के सत्यार्थ का निर्णय नहीं हो सकता – यथा ***भ्रातृव्यस्य (वृङ्क्ते = वर्जयति)***[163] "भ्रातृव्य" शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं – एक शत्रु, दूसरा भतीजा। यहाँ निश्चित नहीं किया जा सकता कि शत्रु को वर्जित करें या भतीजे को। स्वरशास्त्र का आश्रय लेने पर ज्ञात हो जाता है कि आद्युदात्त भ्रातृव्य पद का अर्थ शत्रु है और अन्तस्वरित का अर्थ भतीजा।[164] यहाँ मन्त्र में आद्युदात्त भ्रातृव्य पद प्रयुक्त है, अतः वेद में शत्रु के वर्जन का विधान है, भतीजे का नहीं।[165] नाम और आख्यात का विभाग स्वर से ही जाना जाता है यथा – स कर्त्ता और स कृत्ता यहाँ प्रथम कर्त्ता पद तृन्नन्त है जो कि नित् होने से[166] आद्युदात्त है। इस प्रकार प्रथम-पद नाम है तथा द्वितीय कर्त्ता पद अन्तोदात्त है[167] तिङन्त- आख्यात है। यहाँ *"न लुट्[168]"* सूत्र से तिङन्त सर्वानुदात्त नहीं होता है। तृच् प्रत्ययान्त "कृत्ता" शब्द भी चित्[169] होने से अन्तोदात्त ही होता है।

इनके अतिरिक्त भी जब किसी भी धातु के सन्नन्त रूप में तिप्, सिप्, मिप् प्रत्ययों के परे सन् प्रत्यय के नित्[170] होने से आद्युदात्त स्वर होता है, अर्थात् मूल धातु में उदात्तत्व रहता है। यथा – चिकीर्षति, चिचीषति इत्यादि। इन प्रयोगों को उच्चारण करने वाले व्यक्ति का इतना तात्पर्य नहीं होता कि देवदत्त इन क्रियाओं के करने की इच्छा मात्र करके कार्यान्तर में व्यापृत हो जाएगा, अपितु उनका भाव है कि यह देवदत्त शीघ्र ही इन क्रियाओं के करने में प्रवृत्त होगा। इसलिए चिकीर्षति, चिचीषति प्रयोगों में इच्छा अर्थ की प्रधानता नहीं है, अपितु इच्छापूर्वक मूलभूत कृ, चि धातुओं के अर्थों की प्रधानता है। इसलिए इन शब्दों (सन्नन्तों) में सन् प्रत्यय का सकार उदात्त न होकर मूल धातु उदात्त होता है। ***कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजु. ४०।२॥*** इन मन्त्र में 'जिजीविषेत्' पद में सन् प्रत्यय का 'ष' भाग उदात्त है।[171] यह 'जीव' धातु का सन्नन्त रूप है। जहाँ इस रूप में, अन्य सन्नन्त रूपों से स्वर में भिन्नता है वहाँ अर्थ में भी भिन्नता है। स्वरशास्त्र के अनुसार यहाँ सन्=इच्छा अर्थ की प्रधानता होनी चाहिए, जीव धातु की नहीं। "जिजीविषति" में अर्थ ठीक इसी के अनुरूप है। "जीव" धातु का अर्थ है – "प्राणधारण क्रिया" प्राणधारण और पूर्वोक्त बनाना चुनना क्रियाओं में बहुत भिन्नता है। बनाना, चुनना क्रियाएँ कर्त्ता के अधीन हैं। वह चाहे तो इन क्रियाओं को करे, चाहे न करे। परन्तु प्राणधारण-क्रिया मनुष्य के अधीन नहीं है। चिकीर्षति, चिचीषति

---

163. तै.सं. – ६।१।१॥

164. "भ्रातुर्व्यच्च"। अष्टा. – ४।१।१४ = भ्रातृ शब्द से अपत्य अर्थ में व्यत् तथा चकार से छ प्रत्यय होता है, जैसे – भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः, भ्रात्रीयः॥ व्यत् में तकार की इत् संज्ञा होने से तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से अन्त स्वरित होता है। "व्यन्सपत्ने"। अष्टा. – ४।१।१४५=भ्रातृ शब्द से सपत्न अर्थात् शत्रुवाच्य हो, तो व्यन् प्रत्यय होता है॥ जैसे – भ्रातृव्यः कण्टकः। व्यन् प्रत्यय को नित् होने से "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६।१।१९१) से आद्युदात्त स्वर रहेगा॥

165. वै. स्व. मी. – युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. - ९९-१०१॥

166. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१॥

167. कृ धातु अन्तोदात्त ("धातोः" अष्टा. – ६।१।१७२), तासि प्रत्यय आद्युदात्त ("आद्युदात्तश्च" अष्टा. -३।१।३), तिप्=डा प्रत्यय अनुदात्त ("अनुदात्तौ सुप्पितौ" अष्टा. – ३।१।४) डित् होने तासि का त् शेष रहा, अतः तासि में उदात्त का लोप होने से परवाला अनुदात्त ही उदात्त होता है ("अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" अष्टा. – ६।१।१५५), शिष्ट अनुदात्त।

168. अष्टा. – ८।१।२९॥

169. "चितः"। अष्टा. – ६।१।१५७॥

170. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१॥

171. यासुट् का उदात्तत्व अदुपदेश के कारण नष्ट हो जाता है। अष्टा. – ६।१।१८६॥

क्रियाओं के प्रयोग में कर्त्ता केवल इन क्रियायों की इच्छा मात्र करके कृतकार्य नहीं हो जाता, अपितु वह अपने पूर्ण प्रयत्न से इन क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। जिजीविषति क्रिया का कर्त्ता केवल प्राणधारण की इच्छा मात्र कर सकता है, वह स्वयं प्राणधारण क्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि प्राणधारण-क्रिया पर उसका प्रभुत्व नहीं है। यही कारण है कि जिजीविषेत् में सन् प्रत्यय में उदात्तत्व है, धातु में नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वर अर्थ ज्ञान में सहायक है।

२.१.१.स्वर –परिचय -

प्रस्तुत अध्याय में स्वर-विषयक सभी नियमों का व्याख्यान पाणिनि के अनुसार[172] किया जायेगा। स्वर को मुख्यतः चार प्रकार का माना गया है -

२.१.१.१.उदात्त –

आचार्य पाणिनि उच्च स्वर से उदात्त का उच्चारण होना स्वीकार करते है।[173] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य गात्र का आयाम (दैर्घ्य), स्वर में दारुण्य (काठिन्य) तथा कण्ठविवर की संवृत्तता को शब्द के उदात्त होने का कारण मानता है।[174] महाभाष्यकार पाणिनि सूत्र में उक्त उच्चारण की व्यवस्था को मानने के पक्षधर हैं उनका मानना है कि वर्णों के उच्चारण-स्थान के ऊर्ध्व भाग से निष्पन्न ही उदात्त होता है[175] तथा महाभाष्यकार तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की उच्च नीच की व्यवस्था को अनवस्थित मानते हैं[176]। क्योंकि दुर्बल व सबल व्यक्ति के कारण इसमें भिन्नता दिखाई देगी। अतः यह व्यवस्था पूर्णतः अनैकान्तिक है।[177]तैत्तिरीय-संहिता (ब्राह्मण, आरण्यक) में उदात्त स्वर को अचिह्नित छोड दिया जाता है, जैसे – अग्निः। यहाँ नि उदात्त है और इसे अचिह्नित छोड दिया गया है।

२.१.१.२.अनुदात्त -

आचार्य पाणिनि नीच स्वर से अनुदात्त का उच्चारण होना स्वीकार करते हैं[178]। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य गात्र में शीथलता, स्वर में मार्दव तथा कण्ठविवर में उरुता को शब्द के अनुदात्त होने का कारण मानता है।[179] महाभाष्यकार पाणिनि सूत्र में उक्त उच्चारण की व्यवस्था को मानने के पक्षधर है उनका अभिप्राय है

---

172. प्रस्तुत शोध में जहाँ भी पाणिनि सूत्र की व्याख्या की जायेगी वहाँ अष्टाध्यायी पर ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की प्रथमावृत्ति व्याख्या को सूत्रार्थ के रूप में सहायक बनाया जायेगा।

173. "उच्चैरुदात्तः"। अष्टा.– १।२।२९ ॥

174. "आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य"। तै.प्रा. – २२।९ ॥

175. "सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात् (वा.)। सिद्धमेतत्। कथम्? समानप्रक्रमवचनात्। समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिरः इति"। म.भा.१।२।२९,३०.
"प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन्वर्णा इति प्रक्रमः स्थानमुच्यते। तेनायमर्थः – एकस्मिन् ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः"। म.भा. - कैय्यट, प्रदीप, १।२।२९,३०॥

176. "इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकत्वम्, तदेव हि कश्चित्प्रत्युच्चैर्भवति, कश्चित्प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित्कञ्चिदधीयानमाह – किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽधीयानमपर आह – किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात्संज्ञाया अप्रसिद्धः"। म.भा. – १।२।२९-३०॥

177. "एतदप्यनैकान्तिकम्। यध्यल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचैः।.... तथाहि – महाप्राणो नीचैरप्युच्चारयन्स्वरेण महान्तं देशं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्ल्पं देशं व्याप्नोति"। म.भा. - कैय्यट, प्रदीप, १।२।२९,३०॥

178. "नीचैरनुदात्तः"। अष्टा. – १।२।३० ॥

179. "अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि"। तै.प्रा. २२।१०॥

कि वर्णों के उच्चारण में निम्न भाग से जब उच्चारण होता है तो अनुदात्त होता है[180]। महाभाष्यकार ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की नीच व्यवस्था को अनवस्थित तथा अनैकान्तिक कहा है[181] तथा कैय्यट आचार्य इस अन्तर को बहुत अभ्यास से गम्य मानते हैं।[182] तैत्तिरीय-संहिता (ब्राह्मण, आरण्यक) में अनुदात्त स्वर को वर्ण के नीचे एक पडी रेखा से चिह्नित किया जाता है, जैसे – अ॒ग्निः। यहाँ अ अनुदात्त है।[183]

२.१.१.३.स्वरित –

स्वरित स्वर को उदात्त और अनुदात्त का समाहार माना जाता है।[184] इस प्रकार स्वरित एक मध्यम स्वर है। स्वरित में उक्त इस उदात्त व अनुदात्त के समाहार में कितना उदात्तांश है तथा कितना अनुदात्तांश इस विषय में तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य तथा पाणिनि स्वरित में प्रारम्भ की आधी ह्रस्व मात्रा उदात्त मानते है[185], शेष अनुदात्त। काशिकाकार भी इस सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि जब स्वरित ह्रस्व है तो आधी मात्रा उदात्त और शेष आधी मात्रा अनुदात्त, जब स्वरित दीर्घ है तो आधी मात्रा उदात्त और डेढ मात्रा अनुदात्त और जब स्वरित प्लुत है तो प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त और शेष ढाई मात्रा अनुदात्त होगी।[186] स्वरित के अन्तर्गत जो उदात्तांश है, उसका उच्चारण उदात्त से भी कुछ उच्चतर होता है। इसीलिए महाभाष्यकार ने उदात्त से भिन्न पृथक् स्वर के रूप में उदात्ततर स्वर का उल्लेख किया है।[187] याज्ञवल्क्य शिक्षा में स्वरित के आठ भेद बताये हैं – जात्य, प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, अभिनिहित, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त तथा ताथाभाव्य।[188]

तैत्तिरीय-संहिता (ब्राह्मण, आरण्यक) में सभी स्वरितों को वर्ण के ऊपर एक खडी रेखा से चिह्नित किया जाता है, जैसे – अ॒ग्निना। यहाँ ना अनुदात्त है अतः इसके ऊपर रेखा चिह्नित है।[189]

२.१.१.४.प्रचय -

उपर्युक्त तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) के अतिरिक्त भी प्रचय नामक एक अन्य स्वर होता है। स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्त की चाहे एक हों या अनेक प्रचय संज्ञा (एकश्रुति) होती है।[190] प्रचय को तैत्तिरीय संहिता में अचिह्नित छोड दिया जाता है। इस प्रकार उदात्त तथा प्रचय वर्ण अचिह्नित होने के कारण सन्देह उत्पन्न करते है। इसके निवारण के लिए दोनों में कुछ अन्तर निम्न है – १. पाद के आदि में आने वाला अचिह्नित वर्ण उदात्त होता है जैसे – *बृ॑हस्पते प्रथ॒मम्* (यहाँ बृ उदात्त है)। २. जिस अचिह्नित वर्ण से पूर्व अनुदात्त का चिह्न हो, वह वर्ण उदात्त होता है, जैसे - *अ॒ग्नि* (ग्नि)। ३. सामान्य स्वरित से पूर्व

---

180. म.भा. - १।२।२९,३०. कैय्यट, प्रदीप, १।२।२९,३०॥
181. म.भा. – १।२।२९-३०॥
182. "अभ्याससमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः"। म.भा. कैय्यट, प्रदीप – १।२।२९,३०॥
183. वै. स्व. बो. – व्रज बिहारी चौबे, पृ.- १५॥
184. "समाहारः स्वरितः"। अष्टा. – १।२।३१॥
185. "तस्यादिरुञ्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्थं ह्रस्वस्य"। तै.प्रा. १।४१॥
"तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्"। अष्टा. – १।२।३२॥
186. का.वृ. – १।२।३२॥
187. "त एते तन्त्रे तरब्-निर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति – उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः"। म.भा. १।२।३२ ॥
188. याज्ञ.शि. – १।७९-८८ ॥
189. वै. स्व. बो. – व्रज बिहारी चौबे, पृ.- १६॥
190. "स्वरितात्संहितायामनुदातानाम्"। अष्टा. – १।२।२९॥

आने वाला बिना चिह्न वाला वर्ण उदात्त होता है, जैसे – *इन्द्र* (इ)। ४. दो अनुदात्तों के बीच आने वाला बिना चिह्न का वर्ण उदात्त होता है, जैसे – *अ॒स्य पी॒त्वा* (स्य) [191]।

२.१.२.स्वर-विषयक सामान्य नियम -

पद में स्वरांकन हेतु (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित व प्रचय के प्रयोग हेतु) प्रथमदृष्ट्या निम्नलिखित नियमों पर ध्यान दिया जाता है - (क) **धातु** अन्तोदात्त होती है[192] जैसे – ऊर्णुञ् धातु में दो अच् होने से अन्त का अच् उदात्त हुआ, परन्तु पठ् धातु में एक ही अच् है, अतः आदि या अन्त एक ही होने से पकार का अकार उदात्त हुआ[193] (ख) **प्रत्यय** आद्युदात्त होता है[194] (ग) **सुप्** अनुदात्त होता है[195] (घ) **समास** का अन्तोदात्त होता है[196] (ङ) **प्रातिपदिक** अन्तोदात्त होता है[197] (च) **निपात** आद्युदात्त होता है[198] (छ) **उपसर्ग** आद्युदात्त होते हैं[199]। एक पद के उदात्त या स्वरित विधान होने के पश्चात्, उसका शिष्ट भाग अनुदात्त होता है[200]। उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित होता है[201] जैसे – ग॒णानां त्वा। गार्ग्य, काश्यप तथा गालव आचार्यों के अनुसार उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित परे होने पर भी स्वरित हो जाता है[202]। यहाँ पूर्व सूत्र *"उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (पा.सू. – ८।४।६५)* से स्वरित की प्राप्ति थी उसका प्रतिषेध कर दिया। संहिता विषय में (जब पद-पाठ का संहिता पाठ करना हो तो) स्वरित से उत्तर अनुदात्तों को (एक दो या बहुतों को) एकश्रुति होती है जैसे – *इ॒मं मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि*[203]।

२.१.२.१.उदात्त विधायक नियम -

अष्टाध्यायी में अनेक सूत्रों के द्वारा उदात्त का विधान किया गया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनमें सर्वदा उदात्त का विधान होता है -

- देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में पूर्व और उत्तरपद दोनों को प्रकृतिस्वर अर्थात् उदात्त होता है जैसे – इन्द्रा॒वरु॑णौ।[204]
- वनस्पत्यादि समस्त शब्दों के पूर्वपद तथा उत्तरपद को एक साथ प्रकृतिस्वर होता है जैसे – *व॒न॒स्पतिः*[205]। यहाँ *"अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (६।१।१५२),* सूत्र के कारण एक साथ उदात्तत्व प्राप्त नहीं था, अतः युगपत् कह दिया।

---

[191]. वै. स्व. बो. – व्रज बिहारी चौबे, पृ.- १८-१९॥

[192]. "धातोः"। अष्टा. – ६।१।१५७॥

[193]. "आद्यन्तवदेकस्मिन्"। अष्टा. – १।१।२०॥

[194]. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥

[195]. "अनुदात्तौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥

[196]. "समासस्य"। अष्टा. – ६।१।२१७॥

[197]. "फिषोऽन्तः उदात्तः"। फिट्सू. – १।१॥

[198]. "निपाताः आद्युदात्तः"। फिट्सू. – ४।१२॥

[199]. "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्"। अष्टा. – ४।१३॥

[200]. "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५२॥

[201]. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥

[202]. "नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्"। अष्टा. – ८।४।६६, (सूत्रार्थ – उदात्त उदय=परे है जिससे, एवं स्वरित उदय=परे है जिससे, ऐसे अनुदात्त को स्वरित आदेश नहीं होता, गार्ग्य, काश्यप, गालव आचार्यों के मत को छोडकर, अर्थात् इन आचार्यों के मत में स्वरित होता ही है)॥

[203]. "स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्"। अष्टा. – १।२।३९॥

[204]. "देवताद्वन्द्वे च"। अष्टा. – ६।२।१४१॥

- तवै प्रत्यय को अन्त उदात्त तथा अनन्तर पूर्वपद गति को प्रकृतिस्वर एक साथ प्राप्त होता है[206] जैसे – *अन्वेतवै, परिपातवै। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२),* सूत्र के कारण पद में एक अच् को ही उदात्त होता प्राप्त था, अतः यहाँ युगपत् कहकर एक साथ दो उदात्त कह दिये।

२.१.२.२.अनुदात्त विधायक नियम –

- सर्वनाम पद अस्मद् तथा युष्मद् के द्वितीया, चतुर्थी एवं षष्ठी के तीनों वचनों में जो आदेश रूप होते हैं[207] – *मा, नौ, नः, मे, नौ, नः, त्वा, वाम्, वः, ते, वाम्, वः।*
- जिसकी आम्रेडित संज्ञा होती है वह अनुदात्त होता है जैसे – भुङ्क्ते *भुङ्क्ते। पशून् पशून्*[208]। *नित्यवीप्सयोः*[209] से भुङ्क्ते आदि द्वित्व होता है। उस द्वित्व किये हुए के परवाले (अर्थात् दूसरे) शब्द की आम्रेडित संज्ञा होती है।[210]
- सर्वनाम इदम् शब्द को अनुदात अश् आदेश होता है, यदि वह इदम् शब्द अन्वादेश हो, तृतीयादि विभक्तियों के परे रहते[211], जैसे – *युञ्जन्त्यस्य काम्या (ऋ.१।६।२)*। कहे हुए वाक्य के पीछे उसी को कुछ और कहने को "अन्वादेश" कहते हैं जैसे – अस्मै छात्राय कम्बलं देहि (आदेशवाक्य); अथोऽस्मै शाकटमपि देहि (अन्वादेशवाक्य)।
- अन्वादेशविषय में एतद् शब्द को अनुदात्त अश् आदेश होता है, त्र, तस् प्रत्ययों के परे रहते, यहाँ त्र और तस् प्रत्यय अनुदात्त भी होते हैं जैसे – *अत्र, अतः।*[212] अन्वादेश से अन्यत्र अत्र तथा अतः पर आद्युदात्त होते हैं।
- अन्वादेश में इदम् तथा एतद् को अनुदात्त एन आदेश होता है, द्वितीया, टा, ओस् विभक्तियों के परे रहते[213] जैसे – *एमेनं सृजता सुते (ऋ.- १।९।२), त्वं पुरं इन्द्र चिकिदेना (ऋ.- ८।९८।१४)।* अन्वादेश न होने पर एन के रूप सर्वानुदात्त न होकर उदात्तयुक्त होते हैं, जैसे – *एनाङ्गूषेण (ऋ.- १।१०५।१९)।*
- पद से उत्तर सम्पूर्ण आमन्त्रित-संज्ञक पद को अपादादि में (पाद के आदि में न हो) अनुदात्त होता है[214] जैसे – पचति देवदत्त, पचसि यज्ञदत्त इत्यादि।

---

[205]. "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्"। अष्टा. – ६।२।१४०॥

[206]. "तवै चान्तश्च युगपत्"। अष्टा. – ६।२।५१॥ (प्रस्तुत सूत्र में ***प्रकृतिस्वर*** का विधान "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपद अष्टा.६।२।१" से होता है = बहुव्रीहि समास में पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है। "समासस्य"। अष्टा. – ६।१।१५२" सूत्र से समास को अन्तोदात्त होकर शेष पद अनुदात्त होने से पूर्वपद को अनुदात्तत्व ही होता। अब प्रकृतिस्वर विधान करने से पूर्वपद का समास करने से पूर्व जो स्वर था वही हो जायेगा अन्तोदात्तत्व नहीं होगा)

[207]. "युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वानावौ"। अष्टा. – ८।१।२०, "बहुवचनस्य वस्नसौ"। अष्टा. – ८।१।२१, "तेमयावेकवचनस्य"। अष्टा. – ८।१।२२, "त्वामौ द्वितीयायाः"। अष्टा.. – ८।१।२३, "अनुदात्तं सर्वमपादादौ"। अष्टा. – ८।१।१८॥

[208]. "अनुदात्तं च"। अष्टा. – ८।१।३॥

[209]. अष्टा. – ८।१।४ – नित्यता एवं वीप्सा अर्थ में जो शब्द उस सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व होता है।

[210]. "तस्य परमाम्रेडितम्"। अष्टा. – ८।१।२, "सर्वस्व द्वे"। अष्टा. – ८।१।१॥

[211]. "इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ"। अष्टा. – २।४।३२॥

[212]. "एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ"। अष्टा. – २।४।३३॥

[213]. "द्वितीयाटौस्स्वेनः"। अष्टा. – २।४।३४॥

[214]. "आमन्त्रितस्य च"। अष्टा. – ८।१।१९॥

- आमन्त्रितसंज्ञक के आदि को उदात्त होता है[215] जैसे – देवदत्त! देवदत्तौ! इत्यादि। सम्बोधन की *सामन्त्रितम् (२।३।४८)* सूत्र से आमन्त्रित संज्ञा होती है।
- अतिङ् पद से उत्तर सम्पूर्ण तिङ् पद को अनुदात्त होता है, जैसे – देवदत्तः पचति, यज्ञदत्तः पचति[216]। यहाँ "देवदत्त" अतिङ् पद से उत्तर "पचति" तिङ् पद है।
- **गतिसंज्ञक को अनुदात्तादेश** - (क) गतिसंज्ञक के परे रहते गतिसंज्ञक को अनुदात्त होता है[217] जैसे – अभ्युद्धरति। यहाँ "अभ्युद्धरति" पद में अभि उपसर्ग होने से आद्युदात्त था परन्तु उसका निषेध हो गया[218] आद्युदात्त निषेध होने से इसको अन्तोदात्त प्राप्त हुआ[219]। ऐसी स्थिति में उत् गतिसंज्ञक के परे रहते इसको अनुदात्त हो गया। पश्चात् यणादेश होने के कारण 'अभि' का 'अ' ही अनुदात्त रहा। एवं 'उत्' का 'उ' *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्" (फिट्-सूत्र ८०)* से उदात्त हो गया। (ख) उदात्तवान् तिङन्त के परे रहते गतिसंज्ञक को निघात होता है[220]जैसे – यत् प्रपचति, यत् प्रकरोति। उदाहरणों में पचति, करोति तिङन्त को *निपातैर्यद्यपि..*[221] अथवा *यद्वृत्तान्नित्यम्*[222] से निघात का प्रतिषेध हो जाने से ये उदात्तवान् हैं। अतः इनके परे रहते 'प्र' गतिसंज्ञक को अनुदात्त हो गया है। इस प्रकार *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्" (फिट्-सूत्र ८०)* से 'प्र' उदात्त नहीं हुआ।

२.१.३.आख्यात (क्रिया-पद) में स्वर - विधान -

आचार्य पाणिनि ने धातुओं का परिगणन धातु-पाठ नामक ग्रन्थ में किया है। जिसमें धातुओं को दश गणों में विभाजित किया है – भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि और चुरादि। प्रत्येक गण का अपना एक विकरण प्रत्यय है। उदाहरणस्वरूप – तुदादिगण में श विकरण प्रत्यय।[223] विकरण के कारण ही एक धातु के भिन्न-भिन्न गणों में पठित होने के बाद भी भिन्न स्वरांकन वाली होती है।

प्रत्येक गण की धातुओं के रूप दश लकारों में होते हैं। इन लकारों को विकरण के आधार पर सार्वधातुक तथा आर्द्धधातुक दो भागों में विभक्त किया जाता है। ऐसे लकार जिनमें धातु के साथ तिङ्[224] और शित् प्रत्यय लगे उन्हें सार्वधातुक[225] लकार कहते है। जिनमें तिङ् और शित् प्रत्यय न लगे हों अर्थात् उनसे शेष को आर्द्धधातुक लकार कहते हैं।[226] लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् तथा लेट् (वर्तमानकालिक)

---

[215]. "आमन्त्रितस्य च"। अष्टा. – ६।१।१९२॥

[216]. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥

[217]. "गतिर्गतौ"। अष्टा. – ८।१।७०॥

[218]. "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्"। फिट्सू. – ४।१३॥

[219]. "फिषोऽन्तः उदात्तः"। अष्टा. – १।१॥

[220]. "तिङि चोदात्तवति"। अष्टा. – ८।१।७१॥

[221]. अष्टा. – ८।१।३० = यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र, इन निपातों से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥

[222]. अष्टा. – ८।१।६६ = यद्वृत्त शब्द से उत्तर तिङन्त को नित्य ही अनुदात्त नहीं होता है, यद्वृत्त से यहाँ यद् शब्द से उत्पन्न जो विभक्तियाँ तद्-विभक्त्यन्त शब्द लिये गये हैं॥

[223]. "तुदादिभ्यः शः"। अष्टा. – ३।१।७७॥

[224]. "तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्"। अष्टा. – ३.४.७८॥

[225]. "तिङ्शित्सार्वधातुकम्"। अष्टा. – ३.४.११३॥

[226]. "आर्धधातुकं शेषः"। अष्टा. – ३.४.११४ ॥

सार्वधातुक लकार है शिष्ट सभी लकार आर्द्धधातुक हैं। ध्यातव्य है कि लिट् आदि आर्द्धधातुक लकारों में भी तिङादि प्रत्यय होते हैं परन्तु इनकी आर्द्धधातुक-संज्ञा हेतु आचार्य पाणिनि ने पृथक् सूत्रों का पाठ किया है।

२.१.३.१.सार्वधातुक लकारों में स्वर - विधान –

१. *भू सत्तायाम्* धातु से प्रारब्ध गण में पठित धातुओं के साथ सार्वधातुक लकारों में शप् (अ) विकरण लगता है[227] जो कि पकार की इत् संज्ञा होने से पित् है तथा पित् होने के कारण अनुदात्त है।[228] यहाँ धातु उदात्त है अतः उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो गया है।[229] स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्त की चाहे एक हों या अनेक प्रचय संज्ञा होती है।[230] इस कारण लट् लोट्, तथा लेट् तथा लिङ् लकार में उदात्त स्वर धात्वंश पर दिखाई देता है। जैसे – *भवति*।

२. *अद भक्षणे* धातु से प्रारम्भ होने वाले अदादिगण की धातुओं से परे शप् का लुक् हो जाता है।[231]लुक् एक संज्ञा है जो प्रत्यय के अदर्शन की होती है।[232] इस प्रकार अदादिगण में विकरण का प्रयोग नहीं होता है। लट् लकार के तीनों पुरुषों के एकवचन परस्मैपद के रूप अर्थात् तिप्, सिप्, मिप् के पित् होने के कारण, लेट् (वर्तमानकालिक) के रूप तथा पित् होने से लोट् परस्मैपद के प्रथमपुरुष एकवचन (यहाँ सिप्[233] तथा मिप् पित् नहीं होते हैं) के रूपों में धात्वंश पर ही उदात्त होता है यथा – *एति*, यहाँ इण् धातु अन्तोदात्त है[234] तथा तिप् प्रत्यय अनुदात्त है[235] ऐसी स्थिति में उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो गया है।[236] अन्य रूप *"इतः"* (प्र.पु.द्वि.व.) में इण् धातु अन्तोदात्त तथा तस् प्रत्यय आद्युदात्त[237] है। दोनों ओर उदात्त होने से पीछे आने वाला स्वर बलवान् हो गया[238] तथा शिष्ट सभी अनुदात्त[239]।

परन्तु अदादिगण में पठित स्वप् श्वस् आदि धातुओं के सार्वधातुक लकारों में अजादि अनिट् लसार्वधातुक परे हो, तो विकल्प से आदि को उदात्त हो जाता है।[240] यथा – *स्वपन्ति, स्वपन्ति । श्वसन्ति श्वसन्ति।* यहाँ झि को अन्ति आदेश करने पर अजादि लसार्वधातुक हो जाता है। अतः स्वपन्ति आदि में पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त होता है।

३. *हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके* धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर श्लु होता है।[241] श्लु एक संज्ञा है जो प्रत्यय के अदर्शन की होती है।[242] इस श्लु के परे रहने पर

---

[227]. "कर्त्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८ ॥

[228]. "अनुदातौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४ ॥

[229]. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥

[230]. "स्वरितात्संहितायामनुदातानाम्"। अष्टा. – १।२।२९ ॥

[231]. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"। अष्टा. २।४।७२॥

[232]. "प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः" । अष्टा. – १।१।६०॥

[233]. "सेर्ह्यपिच्च"। अष्टा. – ३।४।८७॥

[234]. "धातोः"। अष्टा. – ६।१।१५६॥

[235]. "अनुदातौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥

[236]. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥

[237]. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥

[238]. "सति शिष्टस्वरो बलीयान्"। म.भा. – ६।१।१५२॥

[239]. "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५२॥

[240]. "स्वपादिहिंसामच्यनिटि"। अष्टा. – ६।१।१८२॥

[241]. "जुहोत्यादिभ्यः श्लुः" । अष्टा. – २।४।७५॥

अनभ्यास धातु के प्रथम एकाच् और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होता है।[243] यहाँ अभ्यास से द्वित्व में जो पूर्व है उसका ग्रहण होता है।[244] इसी क्रम में जो द्वित्वरूप से कहे गये है, वे दोनों (द्वित्व किये हुए दोनों) अभ्यस्त संज्ञक होते हैं।[245] अभ्यस्त संज्ञकों के आदि को उदात्त होता है अजादि अनिट् लसार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते।[246] यथा – *ददति, दधति, जक्षति, जक्षतु, जाग्रति, जाग्रतु। ये ददति प्रिया वसु (ऋ.७।३२।१५)।* तथा जिसमें उदात्त अविद्यमान है, ऐसे लसार्वधातुक के परे रहते भी अभ्यस्तसंज्ञकों के आदि को उदात्त होता है।[247] यथा – ददाति, जहाति, दधाति, जिहीते, मिमीते। दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषे (ऋ.१।९४।१४)। भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा तथा जागृ धातु के अभ्यस्त को पित् लसार्वधातुक परे रहते प्रत्यय से पूर्व उदात्त होता है।[248] यथा – बिभेति, *जिह्रेति, बिभर्त्ति, जुहोति, ममत्तु नः परिज्मा (ऋग्वेदः १।२२२।३), जजनदिन्द्रम्। दधनत् (ऋग्वेदः – १०।७३।१), दरिद्राति, जागर्त्ति।* "अनुदात्ते च"(६।१।१८४) से अभ्यस्त को आद्युदात्त प्राप्त था। यहाँ प्रत्यय से पूर्व उदात्त कह दिया, अतः 'तिप्' पित् लसार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते उससे पूर्व को उदात्त हुआ है। एकवचन से भिन्न लसार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर *अभ्यस्तानामादिः (पा.सू. – ६।१।१८३)* इस सूत्र के अनुसार द्वित्व वर्ण को ही उदात्त स्वर होता है, जैसे – बिभ्रति, जाग्रति इत्यादि। लसार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर जिन रूपों में गुण नहीं होता, वहाँ प्रत्ययांश को ही उदात्त होता है, जैसे - बिभृतः, बिभृथः, बिभृथ, बिभृमः, बिभृमसि इत्यादि। गुण होने पर आद्युदात्त ही होता है, जैसे – बिभर्त्ति, बिभर्षि, बिभर्मि इत्यादि।

४. *दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु* धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर श्यन् प्रत्यय होता है।[249] श्यन् प्रत्यय के नकार की इत् संज्ञा होने से इसका लोप होता है।[250] नकार इत्संज्ञक हैं, जिनका ऐसे प्रत्ययों के परे रहते नित्य ही आदि को उदात्त होता हैं। जैसे – दीव्यति, दीव्यतु इत्यादि।[251]ध्यातव्य है कि कर्मवाच्य रूपों में तथा दिवादिगण की आत्मनेपद वाली धातुओं के रूपों में "य" प्रत्ययांश पाया जाता है जिससे इन दोनों के मध्य अन्तर कर पाना कठिन होता है। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए स्वरों का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि धात्वंश आदि उदात्त दिवादिगण आत्मनेपद तथा प्रत्यय का "य" उदात्त कर्मवाच्य होता है जैसे – दीङ् क्षये = दीयते – दिवादिगण आत्मनेपद, दीयते – कर्मवाच्य रूप हैं।

५. *षुञ् अभिषवे* धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर श्नु प्रत्यय होता है।[252] यहाँ श्नु के शकार की इत् संज्ञा होकर लोप होकर नु शेष रहता है।[253] जिन रूपों में नु जो कि

---

242. "प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः" । अष्टा. – १।१।६०॥
243. "श्लौ"। अष्टा. – ६।१।९०॥
244. "पूर्वोऽभ्यासः"। अष्टा.- ६।१।४॥
245. "उभे अभ्यस्तम्"। अष्टा. – ६।१।५॥
246. "अभ्यस्तानामादिः"। अष्टा. – ६।१।१८३॥
247. "अनुदात्ते च"। अष्टा. – ६।१।१८४॥
248. "भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति"। अष्टा.– ६।१।१८६॥
249. "दिवादिभ्यः श्यन्" । अष्टा. – ३।१।६९॥
250. "हलन्त्यम्"। अष्टा. १।३।३, "तस्य लोपः"। अष्टा. – १।३।९ ॥
251. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१॥
252. "स्वादिभ्यो श्नुः" । अष्टा. – ३।१।७३॥
253. "लशक्वतद्धिते"। अष्टा. - १।३।८, "तस्य लोपः"। अष्टा. -१।३।९॥

आद्युदात्त है[254], को गुण होकर नो या नव् बनता है, उन रूपों में उदात्त स्वर विकरण पर ही होता है, जैसे – *कृणोति, कृणोषि, कृणवंन्* इत्यादि। किन्तु जिन रूपों में नु का गुण (नो) या गुण का नव् नहीं होता उनमें तथा जिनमें नु का यण् रूप (न्व्) हो जाता है, उदात्त स्वर तिङ् प्रत्ययों पर चला जाता है, जैसे – *कृणुतः, कृण्वन्ति, कृणुथः*।

६. *तुद व्यथने* धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर श प्रत्यय होता है कर्त्तावाची सार्वधातुक परे होने पर।[255] जो कि उदात्त होता है[256]। यहाँ श के शकार की इत् संज्ञा होकर लोप होकर अकार शेष रहता है।[257]यथा - *तुदति, तुदतः, तुदन्ति, तुदतु, तुदताम्, तुदन्तु* 'इत्यादि। उपदेश में जो अवर्णान्त उससे उत्तर लकार के स्थान में जो सार्वधातुकसंज्ञक तस् आदि प्रत्यय, वे अनुदात्त होते हैं यथा - *तुदतः, नुदतः इत्यादि*[258] अर्थात् सार्वधातुक लकारों में विकरण अ के बाद प्रत्यय अनुदात्त होता है। वस्तुतः यह नियम प्रत्यय स्वर *आद्युदात्तश्च (पा.सू. - ३।१।३)* का अपवाद है। उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित होता है[259]।

७. *रुधिर् आवरणे* धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर श्नम् प्रत्यय होता है कर्त्तावाची सार्वधातुक परे होने पर।[260] जो कि उदात्त है। यहाँ श्नम् के शकार तथा मकार की इत् संज्ञा होकर लोप होकर नकार शेष रहता है।[261]श्नम् प्रत्यय के मकार की इत् संज्ञा होने के कारण इसका प्रयोग अचों के बीच में जो अन्तिम अच् है उससे परे होता है।[262]जहाँ श्नम् का न दिखाई देता है, वहाँ निश्चित रूप से न उदात्त होता है। किन्तु न के अ का लोप होने पर उदात्त तिङ् प्रत्ययों पर होता है[263]। यथा – युनक्ति, युङ्क्तः, युञ्जन्ति इत्यादि।

८. *तनु विस्तारे* धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर उ प्रत्यय होता है कर्त्तावाची सार्वधातुक परे होने पर।[264] जो कि उदात्त है। जिन रूपों में उ का गुण ओ या अव् होता है, वहाँ उदात्त स्वर इसी ओ या अव् पर होता है, जैसे – *तनोति, तनोषि, तनोमि* इत्यादि। किन्तु जिन रूपों में उ का गुण नहीं होता या यण् रूप व् हो जाता है, वहाँ उदात्त तिङ् प्रत्यय पर चला जाता है जैसे – *तनुतः, तनुथः, तन्वन्ति, तन्वाते* इत्यादि। क्योंकि गुणादेश होने में पित् प्रत्यय (तिप्, सिप् व मिप्) होते हैं जो अनुदात्त होते हैं[265] परन्तु तसादि प्रत्यय अपित् होने से ङित्वत् होते हैं[266] अतः उनमें गुण का निषेध होता है[267] तथा ये आद्युदात्त होते हैं[268]। जिस कारण धातु, उ-प्रत्यय

---

254. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥

255. "तुदादिभ्यः शः" । अष्टा. – ३।१।७७॥

256. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥

257. "लशक्वतद्धिते"। अष्टा. १।३।८, "तस्य लोपः"। अष्टा. -१।३।९॥

258. "अदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमङित्वङोः"। अष्टा. – ६।१।१८०॥

259. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥

260. "रुधादिभ्यः श्नम्" । अष्टा. – ३।१।७८॥

261. "लशक्वतद्धिते"। अष्टा. - १।३।८, "हलन्त्यम्"। अष्टा. - १।३।३, "तस्य लोपः"। अष्टा.-१।३।९॥

262. "मिदचोऽन्त्यात् परः"। अष्टा. - १।१।४६॥

263. अष्टा. – ३।१।३ सूत्र से प्रत्यय को आद्युदात्त प्राप्त था। यहाँ उदात्त एकाधिक होने से पर वाला उदात्त शेष रहा (सतिशिष्ट स्वरो बलीयान् – म.भा. - ६।१।१५२) शिष्ट अनुदात्त हो गया (अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। अष्टा. – ६।१।१५२) ।

264. "तनादिकृञ्भ्य उः" । अष्टा. – ३।१।७९॥

265. "अनुदात्तौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥

266. "सार्वधातुकमपित्"। अष्टा. – १।२।४॥

267. "क्ङिति च"। अष्टा. – १।१।५॥

268. अष्टा. – ३।१।३॥

तथा तस् सभी के उदात्त होने के कारण पर वाला उदात्त महाभाष्यवचन से शेष रहता है[269], शिष्ट अनुदात्त होते हैं[270]।

९. *डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये* धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर श्ना प्रत्यय होता है कर्त्तावाची सार्वधातुक परे होने पर।[271] यहाँ श्ना के शकार की इत् संज्ञा होकर लोप होकर ना शेष रहता है।[272]जो कि उदात्त है। जैसे – *गृभ्णाति, गृभ्णासि, गृभ्णामि* इत्यादि। किन्तु हलादि तिङ् प्रत्ययों से पूर्व जब ना नी में तथा अजादि तिङ् प्रत्ययों से पूर्व न् में बदल जाता है, तब उसका उदात्त स्वर तिङ् प्रत्यय पर चला जाता है, जैसे – *गृभ्णीतः, गृभ्णीथः, गृभ्णीथ*।

१०. चुर स्तेये धातु से प्रारम्भ होने वाले गण में पठित धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है।[273] जो कि सभी रूपों में उदात्त होता है। चुरादिगण की धातुओं के साथ णिच् होने से सनाद्यन्त कहलाता है जिससे पुनः धातु संज्ञा होती है।[274]णिच् के इकार को गुण होकर अय् होता है जैसे – *वर्तयति, वर्तयते* इत्यादि।

सभी उपर्युक्त दश गणों की धातुओं से सार्वधातुक लङ् लकार में अट् (अ) का आगम होता है और यह सर्वत्र उदात्त होता है।[275] जैसे – *अभवत्, अब्रवीत्* इत्यादि। अट् का आगम टित् होने के कारण पूर्व मे हुआ है।[276]

२.१.३.२.आर्धधातुक लकारों में स्वर - विधान –

केआर्द्धधातुक लकारों के स्वरांकन में स्वर-प्रक्रिया का व्याख्यान न करते हुए मात्र दृष्ट रूप में स्वर की स्थिति की चर्चा की गई है। दृष्टरूप का स्वर सामान्य स्वर-नियम के विधान के पश्चात् आता है। जिसको पूर्व में परिभाषित किया जा चुका है -

१. लिट् लकार के तीनों पुरुषों के एकवचन परस्मैपद के रूप तथा लेट् के सभी रूपों में उदात्त स्वर मूल धात्वंश पर होता है, यथा – *चकार, चकर्थ* इत्यादि। लिट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन में थल् प्रत्यय अन्त में होता है और यदि इसके पूर्व इट् का आगम हो तो इट् को विकल्प से उदात्त स्वर होता है, यथा – *बभूविथ / बभूविथ*।[277]

२. लुङ् लकार में सभी गणों की धातुओं के पूर्व में अट् का आगम होता है और वह उदात्त होता है।[278] यथा – अधुक्षत्, अगमत्, अगात्।

---

[269]. म.भा. – ६।१।१५३॥

[270]. "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५३॥

[271]. "क्र्यादिभ्यः श्ना" । अष्टा. – ३।१।८१॥

[272]. "लशक्वतद्धिते"। अष्टा. - १।३।८, "तस्य लोपः"। अष्टा. - १।३।९॥

[273]. "सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्"। अष्टा. – ३।१।२५॥

[274]. "सनाद्यन्ता धातवः"। अष्टा. – ३।१।३२॥

[275]. "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"। अष्टा. – ६।४।७१॥

[276]. "आद्यन्तौ टकितौ"। अष्टा. – १।१।४५॥

[277]. "थलि च सेटीडन्तो वा"। अष्टा. – ६।१।१९०॥ अर्थ – सेट् थल् परे रहते इट् को अन्यतरस्याम् =विकल्प से उदात्त होता है, एवं (च) चकार से आदि को, (अन्तः) अन्त को (वा) विकल्प से होता है, यथा – लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ (पर्यायेण चत्वारः स्वराः)॥

[278]. "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"। अष्टा. – ६।४।७१॥

३. लेट् लकार के रूपों में धातु से सिप् प्रत्यय होता बहुल करके, लेट् परे रहते।[279] सिप् के इप् की इत् संज्ञा होकर स् शेष रहता है।[280] ऐसे रूपों में उदात्त स्वर धात्वंश पर होता है, जैसे – स्तु = स्तोषति, स्तोषति इत्यादि। परन्तु यदि सिप् के स् के साथ इडागम भी पाया जाता है तो ऐसी अवस्था उदात्त स्वर धात्वंश पर होता है, यथा – बुध = बोधिषत्।

४. लुङ् लकार में सिच् अन्त वाले रूपों को विकल्प से आद्युदात्त होता है (जहाँ अट् का अभाव होता है) उदाहरण – *मा हि कार्ष्टाम्, मा हि कार्ष्टाम्। मा हि लाविष्टाम्, मा हि लाविष्टाम्॥*[281]कार्ष्टाम् एक पक्ष में प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त, तथा पक्ष में प्रत्यय स्वर से आन्तोदात्त है। इसी प्रकार लाविष्टाम् पक्ष में आद्युदात्त, एवं पक्ष में सिच् को हुआ इट् आगम सिच् का भाग माना जाने से सिच् के चित् होने से चित्स्वर से उदात्त होता है।[282] उदाहरणों में *हि च (८।१।३४)*[283] सूत्र से निघात का प्रतिषेध हो जाता है।

५. लुट् लकार में धात्वंश के बाद तास् प्रत्यय लगता है[284] और उसके बाद तिङ् प्रत्यय लगते हैं। तास् विकरण के बाद तिङ् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं[285], उदात्त स्वर तास् के अच् पर लगता है, जैसे – भवि॒ता, भवि॒तारौ, भवि॒तारः इत्यादि।

६. लृट् लकार में स्य प्रत्यय होता है[286] तथा उदात्त स्वर भी इसी प्रत्यय पर होता है। जैसे – क॒रिष्यति, क॒रि॒ष्याः, क॒रि॒ष्यते इत्यादि।

७. लृङ् लकार में धातु के पूर्व अडागम होता है और वह उदात्त होता है।[287] जैसे – अकरिष्यत्, अभविष्यत् इत्यादि।

८. आशीर्लिङ् में उदात्त स्वर प्रत्यय पर होता है। जैसे – भूयाः, भूयास्तं, भूयास्म् इत्यादि।

२.१.४.विभक्तियों में स्वर - विधान –

अर्थ की पूर्णाभिव्यक्ति वाक्य के द्वारा होती है तथा वाक्यस्थ पदों का अन्वय क्रिया के साथ साक्षात् या परम्परया होती है। अतः जिसमें क्रियानिष्पादकशक्ति होती है वह कारक कहलाता है।[288] कारक को ही साधन भी कहा जाता है। तथा इसी में क्रिया की निष्पत्ति का सामर्थ्य होता है।[289] कारकों की संख्या षड् है

---

279. "सिब् बहुलं लेटि"। अष्टा. – ३।१।३४॥

280. "हलन्त्यम्"। अष्टा. – १।३।३, "उपदेशेऽजनुनासिक इत्"। अष्टा. – १।३।२॥

281. "आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्"। अष्टा. – ६।१।१८१॥

282. "चितः"। अष्टा. – ६।१।१५७ सूत्रार्थ – चित् है जिस समुदित शब्द में उस शब्द को अन्तोदात्त होता है॥

283. "हि से युक्त तिङन्त को भी अप्रतिलोम्य गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता। जैसे – त्वं हि कुरु, त्वं हि पठ ॥

284. "स्यतासी लृलुटोः"। अष्टा. – ३।१।३३॥

285. "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः"। अष्टा. – ६।१।१८०॥

286. "स्यतासी लृलुटोः"। अष्टा. – ३।१।३३॥"

287. "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"। अष्टा. – ६।४।७१॥

288. "क्रियान्वयित्वं कारकत्वम् । क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्"। प.ल.म. – पृ.९१ ॥

289. स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे।
क्रियाणामभिनिष्पतौ सामर्थ्यं साधनं विदुः॥
वा.प. - तृतीय-काण्डम्,साधनसमुद्देशः – कारिका ३५,३६ ॥

– कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण। ये सभी अष्टाध्यायी के *"कारके"*[290] सूत्र के अधिकार में होते हैं। विभक्तियाँ इन्हीं कारकों की द्योतक होती हैं, परन्तु कदाचित् उन कारकों से भिन्न अर्थों को भी बतलाती है। ये दो प्रकार की होती हैं – कारकविभक्ति – "देवदत्तः कटं करोति" (यहाँ कटम् में द्वितीयाविभक्ति) और उपपदविभक्ति – "नमो गुरुभ्यः" (यहाँ नमः योग में चतुर्थी है)। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में *'अनभिहिते'*[291] के अधिकार में विभक्तियों का नाम उल्लेख किया गया। कर्त्ता, कर्मादि कारकों के योग में क्रमशः प्रथमा द्वितीयादि विभक्तियाँ होती हैं। प्रथमा द्वितीयादि विभक्ति के कथन से तात्पर्य सु, औ,जसादि प्रत्ययों से है[292] जो कि अनुदात्त होते हैं।[293]

इस प्रकार प्रातिपदिकों में उदात्त स्वर जिस वर्ण पर होता है, सभी विभक्तियुक्त पदों में वह प्रायः उसी वर्ण पर रहता है, किन्तु कभी- कभी प्रातिपदिक का उदात्त स्वर परिवर्तित भी हो जाता है। विभक्ति स्वर में जहाँ परिवर्तन होता है उन स्थानों को आचार्य पाणिनि द्वारा विभिन्न नियमों द्वारा स्पष्ट किया गया है। तिङन्त पदों पर शोध-प्रबन्ध होने के कारण यह विषय प्रबन्ध से साक्षात् सम्बन्ध नहीं रखता तथापि मंत्रों में प्रयुक्त स्वर समष्टि में होने कारण अर्थ-निर्धारण के लिए प्रातिपदिक स्वरों को भी आवश्यक है क्योंकि इनके बिना कर्त्ता – कृ धातु लुट् लकार प्रथम-पुरुष एकवचन तथा कर्त्ता – तृन्-प्रत्ययान्त के अर्थ का ज्ञान का नहीं हो सकता। आचार्य पाणिनि ने विभक्तियों के स्वर का उल्लेख अष्टाध्यायी में किया हैं। जो सङ्क्षेप में निम्नलिखित है -

- सु (सप्तमी बहुवचन) के परे रहते जो एकाच्, उससे परे जो तृतीया विभक्ति से लेकर आगे की विभक्तियाँ, उनको उदात्त होता है।[294] जैसे – वा॒चा, वा॒ग्भ्याम्, वा॒ग्भिः, वा॒ग्भ्यः।
- ऊठ्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै तथा दिव् शब्दों से उत्तर सु से लेकर औट् तक की विभक्तियों को छोडकर शेष विभक्तियाँ उदात्त होती हैं।[295] जैसे – ऊठ् – प्र॒ष्ठौ॒हः, प्र॒ष्ठौ॒हा।
- नुम्-आगम रहित अन्तोदात्त शतृ प्रत्ययान्त शब्द, उससे परे नदीसंज्ञक प्रत्यय एवं अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है। जैसे – नदी - तु॒द॒ती, नु॒द॒ती, लु॒न॒ती। अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिः – तु॒द॒ता, नु॒द॒ता।[296]
- हल् पूर्व में है जिससे, ऐसा जो उदात्त के स्थान में यण् (इ, उ = य्, व्), उससे परे नदीसंज्ञक[297] प्रत्यय को तथा अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है। जैसे – कॄ॒र्त्री, हॄ॒र्त्री, चो॒द॒यि॒त्री सू॒नृ॒ता॑नाम् (ऋ॰१।३।११)।[298]

---

[290]. अष्टा. - १।४।३७॥

[291]. अष्टा. – २।३।१॥

[292]. "स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्....."। अष्टा. – ४।१।२॥

[293]. "अनुदात्तौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥

[294]. "सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः"। अष्टा. – ६।१।१६२॥

[295]. "ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः"। अष्टा. – ६।१।१६५॥

[296]. "शतुरनुमो नद्यजादी"। अष्टा. – ६।१।१६७॥

[297]. "यू स्त्र्याख्यौ नदी"। अष्टा. – १।४।३॥

[298]. "उदात्तयणो हल्पूर्वात्"। अष्टा. – ६।१।१६८॥

- ऊङ् तथा धातु का जो उदात्त के स्थान में हुआ यण् हल् पूर्व वाला हो, तो उससे अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त नहीं होता। जैसे – ऊङ् – ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वे। धातुयण् – सुकृल्व्वं, सुकृल्व्वे।[299]
- मतुप् प्रत्यय के परे रहते जो ह्रस्वान्त अन्तोदात्त शब्द, उससे उत्तर विकल्प से नाम् को उदात्त हो जाता है। जैसे – अग्रीनाम्। पक्ष में – अग्रीनांम्। चेतन्ती सुमतीनाम् (ऋ.१।३।११)।[300]
- दिव् शब्द से परे झलादि विभक्ति उदात्त नहीं होती, जैसे – द्युभ्यांम्, द्युभिः इत्यादि।[301] जबकि नृ से परे झलादि विभक्ति को विकल्प को उदात्त नहीं होता अर्थात् होता है। जैसे – नृभिः, पक्ष में – नृभिः।[302]
- गो, श्वन्, सावर्वर्ण=सु प्रथमा के एकवचन के परे रहते जो अवर्णान्त शब्द, राट्, अङ्, क्रुङ् तथा कृत् से जो कुछ भी ऊपर (स्वरविधान) कह आये हैं, वह नहीं होता। जैसे – गवा, गवे, गोभ्यांम्। श्वन् – शुना, शुने। सावर्वर्ण – येभ्यः, तेभ्यः।[303]
- अञ्चु धातु से उत्तर वेदविषय में सर्वनामस्थानभिन्न विभक्ति को उदात्त होता है। जैसे – *इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ.१।८३।१३)*
- पथिन् तथा मथिन् शब्द को सर्वनामस्थान परे रहते आदि उदात्त हो जाता है। जैसे – पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः। मन्थाः मन्थानौ, मन्थानः।
- षट्संज्ञक शब्दों से उत्तर तथा त्रि चतुर शब्दों से उत्तर हलादि विभक्ति विभक्ति को उदात्त होता है जैसे – षट्संज्ञक – षड्भिः, षड्भ्यः। त्रि – त्रिभिः, त्रिभ्यः। चतुर्- चतुर्णाम्।[304]
- तिसृ शब्द से उत्तर जस् को अन्तोदात्त होता है जैसे - तिस्रो।[305] षष्ठी विभक्ति में उदात्त विभक्ति पर होता है हलादि विभक्ति परे रहते, जैसे – तिसृणाम्, चतसृणाम्।[306] षट्संज्ञक, त्रि, तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो झलादि विभक्ति, तदन्त शब्द में उपोत्तम को उदात्त होता है जैसे – पञ्चभिस्तपस्तपति। सप्तभिः परान् जयति, चतसृभिः, चतसृभ्यः।[307] उपोत्तम = उत्तम तीन और तीन से अधिक वर्णों वाले शब्द के अन्तिम वर्ण को कहते है उस अन्त्य वर्ण अर्थात् उत्तम के समीप जो वर्ण वह उपोत्तम कहाता है।
- चतुर् शब्द उरन्[308] प्रत्ययान्त होने के कारण नित् होने के कारण नित् होने से आद्युदात्त है[309], किन्तु पुल्लिङ् तथा नपुंसकलिङ् में जस् प्रत्यय परे होने पर चतुर् का चत्वार आदेश होता है और यह

---

[299]. अष्टा. – ६।१।१६९॥

[300]. अष्टा. – ६।१।१७१॥

[301]. "दिवो झल्"। अष्टा. - ६।१।१७७॥

[302]. "नृ चान्यतरस्याम्"। अष्टा. – ६।१।१७८॥

[303]. "न गोश्वन्सावर्वर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः"। अष्टा. – ६।१।१७६॥

[304]. "षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः"। अष्टा. – ६।१।१७३, "सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः"। अष्टा. – ६।१।१६२॥

[305]. "तिसृभ्यो जसः"। अष्टा. – ६।१।१६०, "उदात्तयणो हल्पूर्वात्"। अष्टा. – ६।१।१६८॥

[306]. "षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः"। अष्टा. – ६।१।१७३॥

[307]. "झल्युपोत्तमम्"। अष्टा. – ६।१।१७४॥

[308]. "चतेरुरन्"। उ.को. – ७३६॥

[309]. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१॥

अन्तोदात्त होता है, जैसे – च॒त्वारः॑ च॒त्वारि। जस् विभक्ति का अच् उदात्त नहीं होता है। इसी प्रकार पु. में शस् प्रत्यय परे होने पर चतुर् शब्द अन्तोदात्त बन जाता है[310]। जैसे – च॒तुर॑ः। षष्ठी में हलादि विभक्ति परे होने के कारण विभक्ति पर उदात्त स्वर चला जाता है।[311] जैसे – च॒तुर्णाम्। किन्तु जिन विभक्ति-रूपों में झलादि विभक्ति प्रत्यय परे हों तो विभक्ति के उपधा वाले अच् पर उदात्त रहता है[312] जैसे – च॒तुर्भि॑ः, च॒तुर्भ्य॑ः, च॒तुर्षु।

- दीर्घ अन्त वाला जो अष्टन् शब्द, उससे उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है।[313] जैसे – अ॒ष्टा॒भिर्दशभिः (ऋ॒.-२।१८।४), अ॒ष्टा॒भ्यः।

२.१.५.समासों में स्वर-विधान –

समास समर्थ पदों का होता है।[314] आचार्य पाणिनि ने समास के चार भेद माने हैं – अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व। किन्तु कुछ वैयाकरण समासों को षड्विध स्वीकार करते है।[315] –

१. सुबन्त का – सुबन्त के साथ, यथा – राजपुरुषः ।

२. सुबन्त का – तिङन्त के साथ, यथा – पर्यभूषयत् ।

३. सुबन्त का – नाम के साथ, यथा – कुम्भकारः ।

४. सुबन्त का – धातु के साथ, यथा – कुटप्रः ।

५. तिङन्त का – तिङन्त के साथ, यथा – पिबतखादता ।

६. तिङन्त का – सुबन्त के साथ, यथा – कृन्तविवक्षणा ।[316]

समास का अध्ययन करते समय स्वर का विशेष महत्त्व है। महाभाष्यकार व्याकरण अध्ययन के प्रयोजनों में स्थूलपृषती पद के अर्थ को स्वर से ही निर्धारित करते हैं यदि स्थूलपृषतीशब्द में पूर्वपदप्रकृति स्वर है तो इस शब्द में बहुव्रीहि समास होगा, यदि समास के अन्त में उदात्तत्व है तो तत्पुरुष समास।[317] समास में स्वर – विधान के विषय में ध्यातव्य है कि सभी समास प्रथमदृष्ट्या अन्तोदात्त होते हैं।[318] किन्तु अपवादस्वरूप

---

310. "षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः"। अष्टा. – ६।१।१७३॥
311. "झल्युपोत्तमम्"। अष्टा. – ६।१।१७४॥
312. "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ"। अष्टा. – ७।२।९९॥
313. "अष्टनो दीर्घात्"। अष्टा. – ६।१।१६६॥
314. "समर्थः पदविधिः" अष्टा. – २।१।१॥
315. "सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङा तिङा।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड् विधो बुधैः"॥ वै.सि.कौ. – सर्वसमासशेषप्रकरणम्, पृ.९५॥
316. भा. और सं.भा. – रूपिमप्रक्रिया, पृ. २७५
317. "यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति"।
म.भा. – पस्पशाह्निक, व्याकरणाध्ययन-प्रयोजन॥
318. "समासस्य"। अष्टा. – ६।१।२१७॥

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के षष्ठ-अध्याय के द्वितीय पाद में मुख्य रूप से समास में स्वर का वर्णन किया है, जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं -

२.१.५.१.अव्ययीभाव-समास में स्वर – विधान -

पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समास होता है[319] *जैसे - हरौ इति अधिहरि।*[320] अव्ययीभाव समास होने के कारण अन्त उदात्त होता है। जैसे – यथास्थानम्, अधियज्ञम्। समास के भिन्न-भिन्न पदों को पृथक्-पृथक् स्वर होते हैं। इस सूत्र से समास का एक ही स्वर अन्तोदात्त विधान कर दिया। किन्तु पूर्वपद भूत परि, प्रति, उप, अप इन शब्दों को वर्ज्यमान तथा दिन एवं रात्रि के अवयववाची शब्दों के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर हो जाता है। जैसे – परित्रिगर्तम्, प्रतिपूर्वरात्रम्, उपपूर्वाह्णम्।[321] सर्वत्र पूर्वपद परि प्रति आदि *निपाता आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् – ८०, ८१)* से आद्युदात्त हैं।

कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, सम ये शब्द उत्तरपद हो तो इनको आद्युदात्त होता है *जैसे – परिकूलम्, परितीरम्, उपतूलम्, परिशालम्, पर्यक्षम्, सुषमम्।*[322]

२.१.५.२.तत्पुरुष-समास में स्वर - विधान –

उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष होता है[323] - *राज्ञः पुरुषः*।[324] तत्पुरुष में जिनका समान अधिकरण हो उनको कर्मधारय कहते हैं।[325] तत्पुरुष का ही एक अन्य भेद द्विगु होता है।[326] समास के भिन्न-भिन्न पदों को पृथक्-पृथक् स्वर होते हैं। परन्तु तत्पुरुष समास होने के कारण समस्त पद का अन्तोदात्त होता है। *जैसे – राजपुत्रः, इन्द्रशत्रु।* किन्तु तत्पुरुष समास में पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों को ही **प्रकृति - स्वर** प्राप्त होता है -

- अहीनवाची समास में क्तान्त उत्तरपद रहते द्वितीयान्त **पूर्वपद** को प्रकृतिस्वर होता है, – *कष्टश्रितः, ग्रामंगतः।*[327] कर्मवाचि क्तान्त उत्तरपद रहते तृतीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है – *अहिहतः, वज्रहतः, नखभिन्नम्।*[328] कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ अनन्तर अर्थात् अव्यवहित गति को प्रकृतिस्वर होता है – *प्रकृतः, प्रहृतः*।[329] यहाँ कृत तथा हृत शब्द क्तान्त हैं, उनसे अव्यवहित पूर्व "प्र" गति है। तु शब्द को छोडकर तकारादि, एवं नकार इत्संज्ञक है जिसका

---

319. म.भा. - २।१।६,२०,४९

320. अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि ....साकल्यन्तवचनेषु। अष्टा. २।१।५ – २।१।२०

321. "परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु"। अष्टा. – ६।२।३३॥

322. "कूलतीरतूलमूलशाखाऽक्षसममव्ययीभावे"। अष्टा. – ६।२।१२॥

323. म.भा. - २।१।६,२०,४९

324. "तत्पुरुषः"। अष्टा.-२।१।२१–२२

325. "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः"। अष्टा. – १।२।४२॥

326. "द्विगुश्च"। अष्टा. – २।१।२२॥

327. "अहीने द्वितीया"। अष्टा. – ६।२।४७॥

328. "तृतीया कर्मणि"। अष्टा. – ६।२।४८॥

329. "गतिरनन्तरः"। अष्टा. – ६।२।४९॥

ऐसे कृत् के परे रहते भी अनन्तर पूर्वपद गति को प्रकृतिस्वर होता है – प्रकर्त्ता, प्रकर्त्तुम्।[330] तवै प्रत्यय को अन्त उदात्त भी होता है तथा अनन्तर पूर्वपद गति को भी प्रकृतिस्वर एक साथ होता है – अन्वेतवै, परिपातवै।[331]

- चतुर्थी पूर्वपद को तदर्थ=चतुर्थ्यन्तार्थ के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है – *यूपदारुः, कुण्डलहिरण्यम् इत्यादि*।[332] अर्थ शब्द उत्तरपद रहते चतुर्थ्यन्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है – *मात्रे इदम् = मात्रर्थम्, देवतार्थम्*।[333] क्तान्त शब्द उत्तरपद रहते भी चतुर्थ्यन्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है – *गोरक्षितम्, गोहितम्*।[334]
- ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है – *सेनापतिः, नरपतिः*।[335] परन्तु ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद भू, वाक्, चित्, दिधिषू शब्दों को प्रकृतिस्वर नहीं होता – *भूपतिः, वाक्पतिः, आदि*।[336] पूर्वसूत्र से प्रकृतिस्वर प्राप्त होने पर यह निषेध है। पूर्व सूत्र भी "*समासस्य* (*अष्टा. ६।१।२१७*)" का अपवाद है। अतः प्रकृतिस्वर का निषेध होने पर सर्वत्र उदाहरणों में समासस्य से अन्तोदात्त ही हुआ।
- वेद विषय में उत्तरपद पर = सक्थ शब्द के आदि को बहुल करके अन्तोदात्त होता है – *अश्निसक्थम् आलभेत, वाक्पतिः, चित्पतिः इत्यादि*।[337]
- तुल्य अर्थवाले, तृतीयान्त सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय द्वितीयान्त तथा कृत्यप्रत्ययान्त जो पूर्वपद में स्थित शब्द हैं उन्हे प्रकृतिस्वर होता है जैसे – तुल्यार्थ – तुल्यश्वेतः। तृतीया – शङ्कुलाखण्ड। सप्तमी – अक्षशौण्ड। उपमानवाची – शस्त्रीश्यामा। अव्यय – अब्राह्मण (अव्यय से यहाँ नञ्, कु और निपातों का ही ग्रहण होता है)।[338]
- वर्णवाची शब्द के उत्तरपद में रहते वर्णवाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है, एत शब्द यदि उत्तरपद में न हो तो – कृष्णसारङ्गः, लोहितसारङ्गः।[339]
- प्रमाणवाची गाध लवण इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को - शम्बगाधमुदकम्, गोलवणम्[340] तथा दायाद शब्द उत्तरपद रहते दायाद्यवाची पूर्वपद को - विद्यादायादः[341] एवं चिर तथा कृच्छ्र

---

330. "तादौ च निति कृत्यातौ"। अष्टा. – ६।२।५०॥
331. "तवै चान्तश्च युगपत्"। अष्टा. – ६।२।५१॥
332. "चतुर्थी तदर्थे"। अष्टा. – ६।२।४३॥
333. "अर्थे"। अष्टा. – ६।२।४४॥
334. "क्ते च"। अष्टा. – ६।२।४५॥
335. "पत्यावैश्वर्ये"। अष्टा. – ६।२।१८॥
336. "न भुवाक्चिद्दिधिषु"। अष्टा. – ६।२।१९॥
337. "परादिश्छन्दसि बहुलम्"। अष्टा. – ६।२।१९९॥
338. "तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः"। अष्टा. – ६।२।२॥
339. "वर्णो वर्णेष्वनेते"। अष्टा. – ६।२।३॥
340. "गाधलवणयोः प्रमाणे"। अष्टा. - ६।२।४॥
341. "दायाद्यं दायादे"। अष्टा. – ६।२।५॥

शब्द उत्तरपद परे रहते प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद को - गमनचिरम्, गमनकृच्छ्रम्[342] तथा अपदेशवाची पद शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है - मूत्रपदेन प्रस्थितः, उच्चारपदेन प्रस्थितः।[343]

- अनार्तववाची शारद शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को - दृषत्शारदाः सक्तवः[344] तथा अध्वर्यु तथा कषाय शब्द उत्तरपद रहते जातिवाची पूर्वपद को - प्राच्याध्वर्युः, उमापुष्पकषायम्[345] तथा सदृश व प्रतिरूप शब्द उत्तरपद हों तो सादृश्यवाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है - मातृसदृशः, मातृप्रतिरूपः।[346]
- प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में द्विगु उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है जैसे – गान्धारसप्तसमः।[347]
- इनके अतिरिक्त भी अष्टाध्यायी में तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। जैसे – मद्रवाणिजः।[348] पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्।[349] गमनसुखम्।[350] कन्याप्रियो मृदङ्गः।[351] गोस्वामी।[352]॥
- अब पाणिनि द्वारा उक्त तत्पुरुष समास के उत्तरपद में स्वर को कहा जायेगा - गति कारक तथा उपपद से उत्तर कृदन्त **उत्तरपद** को प्रकृतिस्वर होता है - प्रकारकः।[353] उत्तरपद में आने वाले दत्त तथा श्रुत पद आशीष अर्थ में अन्तोदात्त होते हैं – देवदत्तः (देवता इसे प्रदान करें, इस प्रकार प्रार्थित देवताओं द्वारा दिया गया)।[354] कारक से उत्तर मन्प्रत्ययान्त, क्तिन्-प्रत्ययान्त, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान तथा याजकादिगणपठित शब्द एवं क्रीत शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है – रथवर्त्म। गोस्थानम्।[355]

२.१.५.३.कर्मधारय-समास में स्वर – विधान -

कर्मधारय समास अन्य समास के समान प्रथम दृष्ट्या अन्तोदात्त होता है – महाधन। इसके अतिरिक्त इसमें क्तान्त उत्तरपद रहते अनिष्ठान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है – श्रेणिकृताः,

---

342. "प्रतिबन्धि चिरकृच्छ्रयोः"। अष्टा. – ६।२।६॥
343. "पदेऽपदेशे"। अष्टा. – ६।२।७॥
344. "शारदेऽनार्तवे"। अष्टा. – ६।२।९॥
345. "अध्वर्युकषाययोर्जातौ"। अष्टा. – ६।२।१०॥
346. "सदृशप्रतिरूपयोः"। अष्टा. – ६।२।११॥
347. "द्विगौ प्रमाणे"। अष्टा. – ६।२।१२॥
348. "गन्तव्यपण्यं वाणिजे"। अष्टा. – ६।२।१३॥
349. "मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके"। अष्टा. – ६।२।१४॥
350. "सुखप्रिययोर्हिते"। अष्टा. – ६।२।१५॥
351. "प्रीतौ च"। अष्टा. – ६।२।१६॥
352. "स्वं स्वामिनि"। अष्टा. – ६।२।१७॥
353. "गतिकारकोपपदात् कृत्"। अष्टा. – ६।२।१३९॥
354. "कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि"। अष्टा. – ६।२।१४८॥
355. "मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः"। अष्टा. – ६।२।१५१॥

नि॒धनंकृताः।[356]कतर तथा कतम पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है – क॒त॒रकठः, क॒त॒र॒कठः।[357] ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद आर्य शब्द एवं राजा शब्द को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है। जैसे – आ॒र्यब्रा॒ह्मणः, आ॒र्य॒ब्रा॒ह्मणः।[358]

२.१.५.४.द्विगु-समास में स्वर – विधान -

द्विगु समास समास का ही एक प्रकार होने के कारण इसको भी अन्तोदात्त होता है – त्रि॒युगम्, इसके अतिरिक्त -

- द्विगु समास में इगन्त उत्तरपद रहते, तथा कालवाची, एवं कपाल भगाल शराव इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है – इगन्त – पञ्चा॑रत्रिः। काल – पञ्चमा॑स्यः। कपाल – पञ्चकपा॑लः।[359] परन्तु उपर्युक्त के उत्तरपद रहते पूर्वपद में बहु शब्द है तो उसको विकल्प करके प्रकृतिस्वर होता है – इगन्त – बह्वं॑रत्रिः, ब॒ह्व॒र॒त्रिः। काल – बहु॑मास्यः, ब॒हु॒मा॒स्यः। कपाल – बहु॑कपालः, ब॒हु॒क॒पा॒लः।[360] तथा दिष्टि वितस्ति शब्दों के उत्तरपद रहते भी विकल्प करके पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। जैसे – पञ्चा॑दिष्टिः, प॒ञ्च॒दि॒ष्टिः। पञ्चं॑वितस्तिः, प॒ञ्च॒वि॒त॒स्तिः।[361]
- कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड इन उत्तरपद शब्दों को द्विगु समास में आद्युदात्त होता है, जैसे – द्वि॒कंस॑ः, त्रि॒मन्थ॑ः, द्वि॒शूर्प॑ः इत्यादि।[362]

२.१.५.५.बहुव्रीहि-समास में स्वर - विधान –

अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास होता है[363] जैसे – *प्राप्तम् उदकं यं सः प्राप्तोदकः ग्रामः।*[364] बहुव्रीहि समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है। जैसे – स्नातकपुत्रः, राजपुत्रः।[365] *"समासस्य" (६।१।२१७)* से समास को अन्तोदात्त होकर शेष पद अनुदात्त (६।१।५२) होने से पूर्वपद को अनुदात्तत्व ही होता। अब प्रकृतिस्वर विधान करने से पूर्वपद का समास करने से पूर्व जो स्वर था वही हो जायेगा, अन्तोदात्तत्व (६।१।२१७) नहीं होगा। इसके कुछ अपवाद भी हैं –

- बहुव्रीहि समास में निम्नलिखित पूर्वपदों को अन्तोदात्त होता है - संज्ञा विषय में उदर, अश्व, इषु के उत्तरपद रहते पूर्वपद को - यौ॒व॒नाश्वः, वृकोदं॑रः[366], इन्हीं शब्दों के उत्तरपद रहते क्षेप (निन्दा)

---

[356]. "कर्मधारयेऽनिष्ठा"। अष्टा. – ६।२।४६॥

[357]. "कतरकतमौ कर्मधारये"। अष्टा. – ६।२।५७॥

[358]. "आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः"। अष्टा.- ६।२।५८॥

[359]. "इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ"। अष्टा. – ६।२।२९॥

[360]. "बह्वन्यतरस्याम्"। अष्टा. – ६।२।३०॥

[361]. "दिष्टिवितस्त्योश्च"। अष्टा. – ६।२।३१॥

[362]. "कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ"। अष्टा.- ६।२।१२२॥

[363]. म.भा. - २।१।६,२०,४९॥

[364]. "शेषो बहुव्रीहिः" । अष्टा.-२।२।२३-२८

[365]. "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्"। अष्टा. – ६।२।१॥

[366]. "उदराश्वेषु"। अष्टा. – ६।२।१०७॥

गम्यमान होने पर संज्ञा विषय में पूर्वपद को - कुण्डोदरः, कटुकाश्वः[367], पूर्वपद विश्व शब्द को संज्ञा विषय में – विश्वदेवः, विश्वयशाः[368], बन्धु शब्द उत्तरपद रहते नद्यन्त पूर्वपद को – गार्गीबन्धुः, वात्सीबन्धुः[369]। उपसर्ग पूर्ववाले निष्ठान्त पूर्वपद को विकल्प से – प्रधौतमुखः, प्रधौतमुखः[370] (मुख शब्द यदि यहाँ स्वाङ्गवाची लिया जाये, तो पक्ष में प्रधौतमुखः आदि *निष्ठोपमा.(६।२।१६९)* से अन्तोदात्त होंगे। यदि अस्वाङ्गवाची ग्रहण हो, तो *गतिरनन्तरः(६।२।४९)* से उपरिनिर्दिष्ट पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा)।

- बहुव्रीहि समास में निम्नलिखित उत्तरपदों को आद्युदात्त होता है[371] - वर्णवाची तथा लक्षणवाची से परे कर्ण शब्द को – शुक्लकर्णः, दात्राकर्णः[372] (यहाँ बहुव्रीहौ प्रकृत्या...(अष्टा.६।२।१) सूत्र पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, यह उसका अपवाद है), संज्ञा तथा उपमा विषय में भी – मणिकर्णः, गोकर्णः[373]। संज्ञा तथा उपमा विषय में ही कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा शब्दों को – नीलकण्ठः, सुग्रीवः[374]। अवस्था गम्यमान होने पर तथा संज्ञा एवं उपमा विषय में शृङ्ग शब्द को – ऋष्यशृङ्गः, गोशृङ्गः[375]। नञ् से उत्तर जर, मर, मित्र, मृत को – अजरः, अमृतः[376] (यह नियम ***नञ्सुभ्याम् (६।२।१७२)*** नियम का अपवाद है)। सु से उत्तर मन् अन्त वाले तथा अस् अन्तवाले शब्दों को लोमन् तथा उषस् शब्दों को छोडकर – सुकर्म्मा, सुमनाः[377]। सु से उत्तर क्त्वादि शब्दों को – सुक्रतुः, सुदृशीकः[378]। सु से ही उत्तर जो दो अच् वाले आद्युदात्त शब्द को वेद विषय में – *स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्ज्जयेम (ऋ. ४।४।८)*[379]। वेद विषय में ही सु से उत्तर वीर तथा वीर्य शब्दों को – *सुवीरेण ते । सुवीर्यस्य पतयः स्याम (ऋ. ४।५१।१०)*।[380]
- शिति शब्द से उत्तर नित्य ही जो अबह्वज् उत्तरपद उसको बहुव्रीहि समास में प्रकृतिस्वर होता है, भसत् शब्द को छोडकर जैसे – शितिपादः, शित्योष्ठः।[381]
- बहुव्रीहि समास में निम्नलिखित उत्तरपदों को अन्तोदात्त होता है - संज्ञा विषय में मित्र एवं अजिन को – देवमित्रः, कृष्णाजिनः[382]। व्यवधायकवाची शब्द से उत्तर अन्तर को – वस्त्रान्तरः[383]।

---

[367]. "क्षेपे"। अष्टा. – ६।२।१०८॥
[368]. "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्"। अष्टा. - ६।२।१०६॥
[369]. "नदी बन्धुनि"। अष्टा. – ६।२।१०९॥
[370]. "निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम्"। अष्टा. – ६।२।११०॥
[371]. "उत्तरपदादिः"। अष्टा. ६।२।१११॥
[372]. "कर्णो वर्णलक्षणात्"। अष्टा. ६।२।११२॥
[373]. "संज्ञौपम्ययोश्च"। अष्टा.६।२।११३॥
[374]. "कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घं च"। अष्टा. ६।२।११४॥
[375]. "शृङ्गमवस्थायां च"। अष्टा. ६।२।११५॥
[376]. "नञो जरमरमित्रमृताः"। अष्टा. ६।२।११६॥
[377]. "सोर्मनसी अलोमोषसी"। अष्टा. ६।२।११७॥
[378]. "क्त्वादयश्च"। अष्टा. ६।२।११८"
[379]. "आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि"। अष्टा. ६।२।११९॥
[380]. "वीरवीर्यौ च"। अष्टा. ६।२।१२०॥
[381]. "शितेर्नित्याबह्वज् बहुव्रीहावभसत्"। अष्टा. – ६।२।१३८॥
[382]. "संज्ञायाम् मित्राजिनयोः"। अष्टा. ६।२।१६५॥
[383]. "व्यवायिनोऽन्तरम्"। अष्टा. ६।२।१६६॥

स्वाङ्गवाची मुख शब्द को – भद्रमुखः[384]। निष्ठान्त तथा उपमानवाची से उत्तर स्वाङ्ग मुख शब्द को विकल्प से – प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः, सिंहमुखः सिंहमुखः[385]। नञ् तथा सु से परे उत्तरपद को – अयवः (देशः), सुयवः[386]। उत्तरपदार्थ के भूम्नि=बहुत्व को कहने में बहु शब्द को, उससे नञ् के समान स्वर होता है नञ्सुभ्याम् (अष्टा.६।२।१७२) से उत्तरपद को अन्तोदात्त कहा है, अतः वह अन्तोदात्तत्व बहु से उत्तर भी हो जायेगा – बहुव्रीहिः, बहुतिलः[387]। उपसर्ग से उत्तर पशुवर्जित ध्रुव स्वाङ्ग को – प्रपृष्ठः, प्रोदरः।[388]

- द्वि तथा त्रि से उत्तर पाद्, दत्, मूर्धन् इन शब्दों के उत्तरपद रहते बहुव्रीहि समास में विकल्प से अन्तोदात्त होता है, जैसे – द्विपात्, द्विपात्। त्रिपात्, त्रिपात्।[389]

२.१.५.६.द्वन्द्व-समास में स्वर - विधान –

उभयपदप्रधान द्वन्द्व[390] समास में होता है।[391] द्वन्द्वसमास में स्वर प्रक्रिया के तीन प्रकार दृष्टिगत होते हैं जिनका उदाहरण सहित वर्णन निम्न प्रकार है –

- दोनों पद में प्रकृतिस्वर होना - देवतावाची शब्दों का जो द्वन्द्वसमास उसमें एक साथ दोनों अर्थात् पूर्व और उत्तरपद को प्रकृतिस्वर अर्थात् उदात्त होता है जैसे – इन्द्रासोमौ, इन्द्रावरुणौ इत्यादि।[392] परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं जैसे देवतावाची शब्दों का जो द्वन्द्वसमास उसमें अनुदात्तादि उत्तरपद रहते पृथिवी, रुद्र, पूषन्, मन्थी को छोडकर एक साथ पूर्व और उत्तरपद को प्रकृतिस्वर नहीं होता है जैसे – इन्द्राग्नी, इन्द्रावायू इत्यादि।[393]
- पूर्वपद प्रकृतिस्वर होना – राजन्य=क्षत्रियवाची जो बहुवचनान्त शब्द हैं, उनका द्वन्द्व अन्धक तथा वृष्णि वंश को कहने में वर्त्तमान हो, तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, जैसे – चैत्रकरोधकाः, शिनिवासुदेवाः। द्वन्द्व समास में सङ्ख्यावाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है, जैसे – एकादश, त्रयोदश। आचार्य है अप्रधान जिसमें ऐसे शिष्यवाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास उनके पूर्वपद को भी प्रकृतिस्वर होता है, जैसे – आपिशलपाणिनीयाः।
- उत्तरपद अन्तोदात्त होना – सामान्य रूप से बनने वाले बहुवचनान्त द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होते हैं जैसे – भद्रपापाः, अहोरात्राणि इत्यादि। एकवचनान्त समाहार द्वन्द्व समास भी अन्तोदात्त होते हैं जैसे - भद्रपापम्, कृताकृतम् इत्यादि।

---

384. "मुखं स्वाङ्गम्"। अष्टा. ६।२।१६७॥
385. "निष्ठोपमानादन्यतरस्याम्"। अष्टा. ६।२।१६९॥
386. "नञ्सुभ्याम्"। अष्टा. ६।२।१७२॥
387. "बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि"। अष्टा. – ६।२।१७५॥
388. "उपसर्गात् स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु"। अष्टा. – ६।२।१७७॥
389. "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ"। अष्टा. – ६।२।१९७॥
390. म.भा. - २।१।६,२०,४९॥
391. "चार्थे द्वन्द्वः"। अष्टा. – २।२।२९ इत्यनेन द्वन्द्वसमासः॥
392. "देवताद्वन्द्वे च"। अष्टा. – ६।२।१४१॥
393. "नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु"। अष्टा. – ६।२।१४२॥

२.१.६.प्रातिपदिकों में स्वर-विधान –

धातु व प्रत्यय से रहित अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक-संज्ञा होती है इनके अतिरिक्त कृदन्त, तद्धितान्त व समास भी प्रातिपदिक होते हैं[394]। इनमें से समास में स्वर की चर्चा हो चुकी है। शिष्ट प्रातिपदिकों में स्वर-विधान प्रत्ययों के आधार पर किया जायेगा। अष्टाध्यायी में प्रत्ययों का वर्णन तृतीय, चतुर्थ व पञ्चम-अध्यायों में हैं। प्रत्यय सामान्यतः आद्युदात्त होते है[395]।

- **ञित् नित् प्रत्यय-स्वर –** ञकार व नकार इत्संज्ञक प्रत्ययों के परे रहते आदि को उदात्त होता है – ञित् – गार्ग्यः, नित् - वासुदेवकः। अपवाद – कतिपय शब्द ञित् व नित् होने के पश्चात् भी आद्युदात्त नहीं होते - १. कृष (विलेखने) धातु तथा आकारान्त घञन्त शब्द के अन्त को उदात्त होता है[396] – कर्षः, आकारान्त घञन्त - पाकः। २. उञ्छादि शब्द अन्तोदात्त होते हैं – उञ्छः[397]। ३. ऊति, यूति इत्यादि क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त निपातन किये जाते है। ४. मन्त्रविषय में वृष् इष् आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग भाव में क्तिन् प्रत्यय उदात्त होता है – इष्टिः। ५. त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ शब्दों को आद्युदात्त विकल्प से होता है – त्यागः, त्यागः[398]। ६. वेणु व इन्धान शब्द आद्युदात्त विकल्प से होते हैं - वेणुः, वेणुः[399]।
- **चित् प्रत्यय-स्वर** – चिदन्त शब्द को अन्तोदात्त होता है – दातृ[400] (तृच्-प्रत्यय)। तथा तद्धित जो चित्-प्रत्यय उसको भी अन्तोदात्त हो जाता है – कौञ्जायनाः[401]। अपवाद – १. शानच्-प्रत्ययान्त इन्धानः शब्द विकल्प से आद्युदात्त होता है – इन्धानः, इन्धानः[402]। २. आत्मनेपद की धातुओं के साथ जब शानच्-प्रत्यय लगता है तो उससे बने शब्द अन्तोदात्त नहीं होते – शयानः, वर्तमानः[403]।
- **कित् प्रत्यय-स्वर** – तद्धितसंज्ञक कित् प्रत्यय को अन्तोदात्त होता है – नाडायनः[404]।
- **तित् प्रत्यय-स्वर** – तकार इत्-संज्ञक है जिसका, उसको स्वरित होता है – कार्यम्[405] (ण्यत्)। अपवाद – किन्तु निम्नलिखित अवस्थाओं में तकार इत्संज्ञक प्रत्यय वाले शब्द स्वरितान्त नहीं होते – १. दो अचों वाले यत्-प्रत्ययान्त शब्दों को आद्युदात्त होता है, नौ शब्द को छोडकर – चेयम्[406]। जब नौ शब्द के साथ यत्-प्रत्यय होता है तो वह द्व्यच् होने पर भी स्वरितान्त होता है - नाव्यं।

---

394. अष्टा. - १।२।४५-४६॥
395. अष्टा. – ३।१।३॥
396. "कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः"। अष्टा. – ६।१।१५३॥
397. "उञ्छादीनाम्"। अष्टा. – ६।१।१५४॥
398. "त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम्"। अष्टा. – ६।१।२१०॥
399. "विभाषा वेण्विन्धानयोः"। अष्टा. – ६।१।२०९॥
400. "चितः"। अष्टा. – ६।१।१५७॥
401. "तद्धितस्य"। अष्टा. – ६।१।१५८॥
402. अष्टा. – ६।१।२०९॥
403. "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमहन्विङोः"। अष्टा. – ६।१।१८०॥
404. "कितः"। अष्टा. – ६।१।१५९॥
405. "तित्स्वरितम्"। अष्टा. – ६।१।१७९॥
406. "यतोऽभावः"। अष्टा. – ६।१।२०७॥

परन्तु यत् प्रत्ययान्त शब्द त्र्यच् होने पर वह सामान्य नियमानुसार स्वरितान्त ही होगा – अवद्य (अवट्+यत्)। २. ण्यत्-प्रत्ययान्त ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह धातुओं से निर्मित शब्द आद्युदात्त होते हैं – ईड्यम्, वार्यम्[407]।

- **लित् प्रत्यय-स्वर** – लकार इत्संज्ञक प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है – चिकीर्षकः, यत्र (यत्+त्रल्)[408]। णमुल् परे रहते (पूर्व धातु को) विकल्प से आदि को उदात्त होता है – लोलूयंलोलूयम्; पक्ष में – लोलूर्यंलोलूयम्[409]।
- **रित् प्रत्यय-स्वर** – रेफ इत् वाले शब्द के उपोत्तम को उदात्त होता है – करणीयंम्[410] (कृ+अनीयर्)।
- **पित् प्रत्यय-स्वर** – सुप् व पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं – सुप् – दुषदः, पित् - पचंति[411]। अपवाद – १. अन्तोदात्त ह्रस्वान्त तथा नुट् से उत्तर मतुप् को उदात्त होता है – अग्निमान्, वायुमान्[412]। २. अवती-शब्दान्त को संज्ञाविषय में अन्तोदात्त होता है – खदिरवती, हंसवती[413] (यहाँ ङीप् प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्तत्व प्राप्त था, उसे इस सुत्र से उदात्त कह दिया)। ३. ईवती शब्दान्त पद को संज्ञाविषय में अन्तोदात्त होता है, जैसे – अहीवती, मुनीवती[414]।
- **निष्ठा प्रत्यय-स्वर** – दो अचों वाले निष्ठान्त शब्द के आदि को उदात्त होता है, संज्ञाविषय में आकार को छोडकर, अर्थात् उदात्तभावी आकार न हो – दत्तः, बुद्धः[415]। अपवाद – १. शुष्क तथा धृष्ट शब्द को आद्युदात्त होता है – शुष्कः, धृष्टः[416]। २. कर्तृवाची आशित शब्द को आद्युदात्त होता है – आशितो देवदत्तः[417]। ३. रिक्त शब्द विकल्प से आद्युदात्त है – रिक्तः, रिक्तः[418]। ४. जुष्ट तथा अर्पित शब्दों को वेदविषय में विकल्प से आद्युदात्त हैं – जुष्टः, जुष्टः; अर्पितः, अर्पितः[419]।
- **तुमुन्नर्थीय प्रत्यय-स्वर** – वेद-विषय में तुमर्थ में धातु से से, सेन् असे, असेन्, क्से इत्यादि प्रत्यय होते हैं[420]। तवै प्रत्ययान्त शब्द का अन्त और आदि को युगपत् उदात्त होता है - कर्त्तवै[421]।

---

407. "ईडवन्दवृशसदुहां ण्यतः"। अष्टा. – ६।१।२०८॥
408. "लिति"। अष्टा. – ६।१।१८७॥
409. "आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्"। अष्टा. – ६।१।१८८॥
410. "उपोत्तमं रिति"। अष्टा. – ६।१।२११॥
411. "अनुदात्तौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥
412. "ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्"। अष्टा. – ६।१।१७०॥
413. "अन्तोऽवत्याः"। अष्टा. – ६।१।२१४॥
414. "ईवत्याः"। अष्टा. – ६।१।२१५॥
415. "निष्ठा च द्यजनात्"। अष्टा. – ६।१।१९९॥
416. "शुष्कधृष्टौ"। अष्टा. – ६।१।२००॥
417. "आशितः कर्त्ता"। अष्टा. – ६।१।२०१॥
418. "रिक्ते विभाषा"। अष्टा. – ६।१।२०२॥
419. "जुष्टार्पिते च च्छन्दसि"। अष्टा. – ६।१।२०३॥
420. "तुमर्थे सेसेनसे...तवेनः"। अष्टा. – ३।४।९॥
421. "अन्तश्च तवै युगपत्"। अष्टा. – ६।१।१९४॥

२.१.७.वाक्य में प्रयुक्त स्वर - विधान –

वाक्य में सभी पदों का प्रकृतिस्वर प्रायः यथावत् बना रहता है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु कुछ पदों में वाक्य में प्रयुक्त होने पर स्थिति विशेष में परिवर्तन हो जाता है। इन पदों को निम्न प्रकार है –

- तिङन्त पद से उत्तर कुत्सन (निन्दा) तथा आभीक्ष्ण्य (पौनःपुण्य) अर्थ में वर्त्तमान गोत्रादिगण-पठित पदों (गोत्र, ब्रुवम्, प्रवचन, प्रकथन, प्रत्ययन इत्यादि) को अनुदात्त होता है – पचति गो॒त्र॒म्, पचति ब्रु॒व॒म्। (जो अपने पुरुषार्थ को त्यागकर अपने गोत्र की उच्चतादि बताकर जीवन-यापन करता है, उसे "पचति गोत्रम्" कहते हैं)।
- सर्वनाम इदम् शब्द को, जो अश् आदेश होता है, वह अन्वादेश होने पर तथा पाद के प्रारम्भ में न आने पर सर्वानुदात्त होता है, तृतीयादि विभक्तियों में[422], जैसे – *यु॒ञ्जन्त्य॑स्य॒ काम्या॒ (ऋ. १।६।२)।*
- अन्वादेशविषय में वर्त्तमान जो एतद् शब्द, उसे अनुदात्त अश् आदेश होता है, त्र, तस् प्रत्ययों के परे रहते, और वे त्र तस् प्रत्यय अनुदात्त भी होते हैं जैसे – *अ॒त्र, अ॒त॒:।*[423] अन्वादेश से अन्यत्र अत्र तथा अतः पर आद्युदात्त होते हैं।
- द्वितीया, टा, ओस् विभक्तियों के परे रहते अन्वादेश में वर्त्तमान जो इदम् तथा एतद् शब्द उनको अनुदात्त एन आदेश होता है[424] जैसे – *एमेनं सृजता सुते (ऋ.- १।९।२), त्वं पुरं इन्द्र चि॒किदे॒ना॒ (ऋ.- ८।९८।१४)।* अन्वादेश न होने पर एन के रूप सर्वानुदात्त न होकर उदात्तयुक्त होते हैं, जैसे – *एनाङ्गूषेण (ऋ.-१।१०५।१९)।*

२.१.७.१.सम्बोधन पद का वाक्य में स्वर - विधान –

- आमन्त्रितसंज्ञक के आदि को उदात्त होता है[425] जैसे – देवदत्त! देवदत्तौ! इत्यादि। सम्बोधन की ***सामन्त्रितम् (२।३।४८)*** सूत्र से आमन्त्रित संज्ञा होती है। पद से उत्तर आमन्त्रित-संज्ञक सम्पूर्ण पद को पाद के आदि में वर्त्तमान न हो, तो अनुदात्त होता है[426] जैसे – पचति दे॒व॒द॒त्त, पचसि य॒ज्ञ॒द॒त्त इत्यादि।
- किसी पद से (जिसे निघातादि कार्य कहे हों) पूर्व आमन्त्रितसंज्ञक पद हो, तो वह आमन्त्रित पद अविद्यमान (= न होना) के समान माना जाये। अर्थात् आमन्त्रित को मानकर जो कार्य प्राप्त हो रहे हों, वे कार्य उसके अविद्यमानवत् होने से नहीं होते। एवं जो कार्य उसके न रहने पर प्राप्त होते हैं, वे हो जाते हैं। जैसे – *देवदत्त यज्ञदत्त*[427] यहाँ दोनों ही पद आमन्त्रितसंज्ञक (अष्टा.२।३।४८) से हैं, अतः *"आमन्त्रितस्य च (८।१।१९)"* से देवदत्त पद से उत्तर यज्ञदत्त को निघात प्राप्त था। किन्तु पूर्ववाला आमन्त्रित पद देवदत्त, यज्ञदत्त की अपेक्षा से अविद्यमानवत् हो गया। तो पद से उत्तर न मिलने से "यज्ञदत्त" को निघात नहीं हुआ, किन्तु षाष्ठिक *"आमन्त्रितस्य च"* से आद्युदात्त पद रहा।

---

[422]. "इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ"। अष्टा. – २।४।३२॥

[423]. "एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ"। अष्टा. – २।४।३३॥

[424]. "द्वितीयाटौस्स्वेनः"। अष्टा. – २।४।३४॥

[425]. "आमन्त्रितस्य च"। अष्टा. – ६।१।१९२॥

[426]. "आमन्त्रितस्य च"। अष्टा. – ८।१।१९॥

[427]. "आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्"। अष्टा. – ८।२।१७२॥

- समान अधिकरण वाला आमन्त्रितपद परे हो तो उससे पूर्ववाला आमन्त्रित पद अविद्यमानवत् न हो, किन्तु विद्यमानवत् ही होता है जैसे – *अग्ने गृहपते।*[428] विशेषवाची समानाधिकरण आमन्त्रित परे रहते सामान्यवचन आमन्त्रित को विकल्प से अविद्यमानवत् होता है। जैसे - *देवाः शरण्याः*। पक्ष में – *देवाः शरण्याः*।[429]

२.१.७.२.आख्यात-पदों का वाक्य में स्वर - विधान -

- अतिङ् पद से उत्तर सम्पूर्ण तिङ् पद को अनुदात्त होता है जैसे – *देवदत्तः पचति, यज्ञदत्तः पचति।*[430]
- यावत् एवं यथा से युक्त अनन्तर (अव्यवहित) तिङन्त को पूजा विषय में अनुदात्त होता है – *यावत् पचति शोभनम्, यथा पचति शोभनम्।*[431] यावत् एवं यथा से युक्त एवं उपसर्ग से व्यपेत (व्यवहित) अनन्तर तिङन्त को भी पूजा विषय में अनुदात्त होता है – *यावत् प्रपचति शोभनम्, यथा प्रपचति शोभनम्।*[432]
- पूजनवादियों से उत्तर गतिसहित तिङन्त को, तथा (सूत्र में अपि ग्रहण से) गतिभिन्न तिङन्त को भी अनुदात्त होता है। जैसे – *अगतिः – यत्काष्ठं पचति।*[433] गतिसंज्ञक के परे रहते गतिसंज्ञक को अनुदात्त होता है जैसे – *अभ्युद्धरति*।[434] उदात्तवान् तिङन्त के परे रहते भी गतिसंज्ञक को निघात होता है जैसे – *यत् प्रपचति, यत् प्रकरोति।*[435] इन विधान के कुछ वैकल्पिक नियम भी पाये जाते हैं जहाँ तिङन्तों को अनुदात्त का निषेध पाया जाता है -
- जैसे - पद से उत्तर लुडन्त को – *श्वः कर्त्ता, श्वः कर्त्तारौ।*[436] यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण, कच्चित्, यत्र निपातों से युक्त होने पर – *यत् करोति, यत् पचति* [437]*।* नह से युक्त व प्रत्यारम्भ होने पर – नह भोक्ष्यसे[438]। सत्यम् शब्द से युक्त व प्रश्न होने पर – *सत्यं भोक्ष्यसे* [439]। अप्रातिलोम्य (अनुकूलता) गम्यमान हो तो अङ्ग शब्द से युक्त होने पर – अङ्ग कुरु, अङ्ग पच [440]। हि से युक्त व अप्रातिलोम्य गम्यमान होने पर – *त्वं हि कुरु*[441]। हि से युक्त साकाङ्क्ष अनेक तिङन्तों को भी तथा अपि ग्रहण से एक को भी कहीं कहीं अनुदात्त नहीं होता छन्द विषय में, – अनेक – *अनृतं हि मत्तो*

---

[428]. "नामन्त्रिते समानाधिकरणे"। अष्टा. – ८।१।७३॥

[429]. "सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने"। अष्टा. – ८।१।७४॥

[430]. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥

[431]. "पूजायां नानन्तरम्"। अष्टा. – ८।१।३७॥

[432]. "उपसर्गव्यपेतं च" ।अष्टा. – ८।१।३८॥

[433]. "सगतिरपि तिङ्"। अष्टा. – ८।१।६८॥

[434]. "गतिर्गतौ"। अष्टा. – ८।१।७०॥

[435]. "तिङि चोदात्तवति"। अष्टा. – ८।१।७१॥

[436]. "न लुट्"। अष्टा. – ८।१।२९॥

[437]. "निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेण्कच्चिद्यत्रयुक्तम्"। अष्टा. – ८।१।३०॥

[438]. "नह प्रत्यारम्भे"। अष्टा. – ८।१।३१॥

[439]. "सत्यं प्रश्ने"। अष्टा. – ८।१।३२॥

[440]. "अङ्गाप्रातिलोम्ये"। अष्टा. – ८।१।३३॥

[441]. "हि च"। अष्टा. – ८।१।३४॥

वदति पाप्मा एनं विपुनाति, एक – *अग्निर्हि अग्रे उदजयत्, तमिन्द्रोऽनूदजयत्*[442]। यावत् एवं यथा से युक्त होने पर – *यावद् भुङ्क्ते, यथा भुङ्क्ते*।[443]

- इनके अतिरिक्त भी तिङन्तोम् में निम्नलिखित पदों के युक्त होने पर विशेष अर्थों में अनुदात्त का निषेध पाया जाता है, जैसे – तु, पश्य, पश्यत, अह से युक्त, अहो से युक्त, पुरा से युक्त, ननु से युक्त, किम् से युक्त, एहि से युक्त, मन्ये से युक्त, जातु से युक्त, किंवृत्त = कतरश्चिदादि से युक्त, आहो व उताहो से युक्त, लोडन्तसे युक्त, हन्त से युक्त, आमन्त्रित पद को, यत् हि व तु परे रहते, चन चित् इव गोत्रादिगणपठित तद्धित-प्रत्यय आम्रेडित संज्ञकों के परे रहते, चादिगणपठित के परे रहते, च वा के योग में प्रथम तिङन्त को, ह से युक्त प्रथम तिङन्त को, अह से युक्त प्रथम तिङन्त को, वै वाव से युक्त प्रथम तिङन्त को यद्वृत्त = यस्मै आदि से उत्तर *(पाणिनि सूत्र - अहो च, शेषे विभाषा, पुरा च परीप्सायाम्, ननित्यनुज्ञैषणायाम्, किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम्, लोपे विभाषा, ऐहिमन्ये प्रहासे लृट्, जात्वपूर्वम्, किंवृत्तं च चिदुत्तरम्, आहो उताहो चानन्तरम्, शेषे विभाषा, गत्यर्थलोटा लृण्न् चेत् कारकं सर्वान्यत्, लोट् च, विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम्, हन्त च, आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके, यद्धितुपरं छन्दसि, चनचिदिगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः, चादिषु च, चवायोगे प्रथमा, हेति क्षियायाम्, अहेति विनियोगे च, चाहलोप एवेत्यवधारणम्, चादिलोपे विभाषा, वैवावेति चच्छन्दसि, एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम्, यद्वृत्तान्नित्यम्)*।[444]

२.२.तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त तिङन्त-पदों का स्वर की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन -

अभ्यानट् - "पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडर्कम्"[445]। पदपाठ – पथस्पथ इति पथः - पथः। परिपतिमिति परि-पतिम्। वचस्या। कामेन। कृतः। अभीति। आनट्। अर्कम्। यह पद क्विप्-प्रत्यय तथा लुङ् लकार में सम्पन्न किया जा सकता है। दोनों के स्वरांकन में अन्तर आने का कारण आङ् का गतिसंज्ञक तथा आट् का आगम होना है। ज्ञानयज्ञभाष्यकार ने इसको लुङ् लकार में मानकर मन्त्र का अर्थ किया है – "अभ्यानट् अभिप्राप्नोति तस्मादहमपि अद्य त्वाम् उपागतोऽस्मीति भावः[446]" -

लुङ् लकार –

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
अभि+आट्[447]+अश्+च्लि[448]+लुङ् (तिप्=त्[449]) स्वादिगणपठित "अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च" धातु	अभि+आ(आट्)+अ न(श्नम्)ट्(श्) यहाँ आट् आगम उदात्त है[452] अश् धातु अन्तोदात्त है[453]। श्नम् प्रत्यय का शिष्ट भाग "न" भी आदि उदात्त है[454]। अभि उपसर्ग को अन्य उपसर्गों के समान

[442]. "छन्दस्यनेकमपि साक्षाङ्क्षम्"। अष्टा. – ८।१।३५॥

[443]. "यावद्यथाभ्याम्"। अष्टा. – ६।१।३६॥

[444]. अष्टा. – ८।१।३९ - ६६॥

[445]. तै.सं. – १।१।१४॥

[446]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।१४॥

[447]. "छन्दस्यापि दृश्यते"। अष्टा. – ६।४।७३॥

[448]. मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः। अष्टा. – २।४।८० लि का लुक्॥

[449]. "इतश्च"। अष्टा. – ३।४।१००, संयोगान्तस्य लोपः। अष्टा. – ८।२।२३ संयोगान्त का लोप॥

से श्नु के स्थान में व्यत्यय से श्नम् प्रत्यय हुआ[450] तथा वह अन्तिम अच् से परे होता है[451] अश् के शकार को षकारादेश, जश्त्व एवं चर्त्व हो। (आ अ न श्) - अभ्यानट्।	आद्युदात्त प्राप्त हुआ परन्तु इसका निषेध हो गया (उपसर्गाश्चाभिवर्जम् – फिट्सू. – ४।१३)। अतः "फिषोऽन्तः उदात्तः" (फिट्सू. – १।१) से अन्तोदात्त हुआ शिष्ट को अनुदात्त[455] हुआ। अभि के अन्तोदात्त होने से आनट् को सर्वानुदात्त हो गया[456]। अभि+आनट् यहाँ यणादेश प्राप्त हुआ, ऐसी स्थिति में उदात्त के स्थान में जो यण्[457], उससे उत्तर अनुदात्त के स्थान में स्वरित आदेश होता है[458]। स्वरित से उत्तर अनुदात्त को एकश्रुति (प्रचय) होती है[459]। (अभ्यानट्)।

क्विप् प्रत्यय –

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
अभि+आङ्+नश्+क्विप् दिवादिगणपठित णश अदर्शने धातु से क्विप् - प्रत्यय[460]। सम्पूर्ण क्विप् का लोप होता है[461]। नश् के शकार को षकारादेश[462], जश्त्व एवं चर्त्व[463] हो। उपसर्गों में यणादेश हो[464] = अभ्यानट्।	यहाँ अभि के विपरीत आङ् उपसर्ग आदि उदात्त है[465]। अभि व आङ् दोनों के गति संज्ञक होने से[466] गतिसंज्ञक आङ् के परे रहते गतिसंज्ञक अभि को अनुदात्त होता है[467](अभ्या-नट् = शिष्ट को अनुदात्त[468] तथा उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित[469] अभ्यानट्) यहाँ अभि को "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्" से निषेध होने से "फिषोऽन्तः उदात्तः" से अन्तोदात्त प्राप्त था – सभी का बाध हो

---

[452] . "आडजादीनाम्"। अष्टा. – ६।४।७२ इसमें उदात्त की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से आ रही है।

[453] . "धातोः"। अष्टा. – ६।१।१५६॥

[454] . "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. - ३।१।३, जिस रूप में श्नम् के "न" के अकार का लोप (रुन्धः) होता है वहाँ उदात्त तिबादि प्रत्यय पर होता है भावार्थ – जिस (अनुदात्त) के परे रहते (तसादि प्रत्यय के परे रहते = तास्येनुदा. अष्टा. – ६।१।१८०) उदात्त का लोप होता है, उस अनुदात्त को भी आदि उदात्त हो जाता है॥

[450] . व्यत्ययो बहुलम्। अष्टा. – ३।१।८५॥

[451] . "मिदचोऽन्त्यात्परः"। १।१।४६॥

[455] . "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५२॥

[456] . "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥

[457] . "इको यणचि"। अष्टा. – ६।१।७५॥

[458] . "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य"। अष्टा. – ८।२।४॥

[459] . "स्वतितात्संहितायामनुदात्तानाम्"। अष्टा. – १।२।३९॥

[460] . "क्विप् च"। अष्टा. – ३।२।७६॥

[461] . उपदेशेऽजनुनासिक इत्। अष्टा. – १।३।१, हलन्त्यम्। अष्टा. – १।३।२ सूत्रों से इत् संज्ञा; तस्य लोपः। अष्टा. - १।३।९ इत् संज्ञक का लोप; वेरपृक्तस्य। अष्टा. – ६।१।६५ अपृक्तसंज्ञक वि का लोप होता है।

[462] . "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः"। अष्टा. - ८।२।३६॥

[463] . "झलां जशोऽन्ते"। अष्टा. – ८।२।३९; "वावसाने"। अष्टा. – ८।४।५४ चर्त्व॥

[464] . "इको यणचि"। अष्टा. – ६।१।७५॥

[465] . "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्"। फिट्सू. – ४।१३॥

	गया।

अवद्यात् - "निदो मित्रमहो अवद्यात्"[470]। पदपाठ – निदः। मित्रमहः इति मित्र-महः। अवद्यात्। भट्टभास्कर ने इस मन्त्रांश अर्थ "अवद्यात् परिवादात् परकर्तृकात्" तथा सायणाचार्य ने "अवद्यात् अशास्त्रीयानुष्ठानदोषाच्च अस्मान् पाहि" किया है। जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने इस पद को यत्-प्रत्यय से निष्पन्न माना है। परन्तु इसको आशीर्लिङ् में भी माना जा सकता है। जिसमें स्वरांकन निम्नलिखित अन्तर होगा -

यत् प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
अ+वद्+यत्(अवद्यम्[471])+ ङसि (आत्)[472] यत् प्रत्यय से निष्पन्न पद से पञ्चमी विभक्ति एकवचन से रूप यह सम्पन्न है।	वद् धातु अन्तोदात्त है। परन्तु यत् प्रत्यय तित् होने के कारण स्वरित हो गया (वद्यम्) जिसके कारण शिष्ट अनुदात्त हो गया। यदि नञ् से उत्तर यत्प्रत्ययान्त हो तो तदन्त उत्तरपद को अन्त उदात्त होता है[473] (अवद्य) शिष्ट अनुदात्त होता है[474]। पञ्चमी विभक्ति में ङसि के स्थान में आत् अनुदात्त होता है[475]। अवद्य+आत् स्थिति में एकादेश उदात्त होता है[476] (अवद्यात्)।

आशीर्लिङ् -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
अव+द्यै[477]+यासुट्[478]+लिङ्[479] (तिप्=त्) यह भ्वादिगणपठित द्यै न्यक्करणे (नीचों का तिरस्कार करना) धातु से आशीर्लिङ् में है। यहाँ वेद विषय में	धातु अन्तोदात्त है अतः रूप में धातु पर उदात्त होगा - "द्यात्"। अवं उपसर्ग आद्युदात्त है, शिष्ट को अनुदात्त पश्चात् स्वरित। परन्तु अव अतिङ् से उत्तर द्यात् तिङ् को सर्वानुदात्त होता है[481]। अवं द्यात्

---

466. "गतिश्च"। अष्टा. – १।४।५९ प्रादियों की क्रिया के योग में गति व उपसर्ग संज्ञा होती है॥
467. "गतिर्गतौ"। अष्टा. – ८।१।७०॥
468. "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५२॥
469. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥
470. तै.सं. – १।२।१४, पृ. – ३७०॥
471. "शरीरावयवाच्च"। अष्टा. – ४।३।५५, सूत्र से यत् प्रत्यय॥ "अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपठितव्यानिरोधेषु"। अष्टा. – ३।१।१०१ = अवद्य गर्ह्य (निन्दा) अर्थ में निपातन किया जाता है (अवद्यं पापम्)॥
472. "टाङसिङसामिनात्स्याः"। अष्टा. – ७।१।१२॥
473. "ययतोश्चातदर्थे"। अष्टा. – ६।२।१५६॥
474. "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५२॥
475. "अनुदातौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥
476. "एकादेश उदात्तेनोदात्तः"। अष्टा. – ८।२।५ अनुदात्त के साथ उदात्त का एकादेश उदात्त होता है॥
477. "आदेच उपदेशेऽशिति"। अष्टा. – ६।१।४४ एजन्त धातु को आकारादेश॥
478. यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च। अष्टा. – ३।४।१०३ यासुट् प्रत्यय॥
479. आशिषि लिङ्लोटौ। अष्टा. – ३।३।१७३ आशीर्वाद में लिङ्॥

यासुट् का व्यत्यय करके लोप होता है[480]।	अनुदात्त को स्वरित, स्वरित को एकश्रुति (अवद्यात्)।

असत् - "सुदिना सासंदिष्टिः"[482]। पदपाठ – सुदिनेति सु-दिना। सा। असत्। इष्टिः। इस पद का निर्माण अस भुवि धातु से लेट् लकार व शतृ प्रत्यय में किया जा सकता है। इसके साथ-साथ यह एक निपात भी है। भट्टभास्कर इसको मन्त्रांश में लेट् लकार में मानते हैं - "सुदिना शोभनदिना असत् भवति"।

लेट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
अस्+अट्[483]+तिप्[484] अदादिगणपठित परस्मैपदी अस भुवि धातु से लेट् लकार में सम्पन्न है।	धातु अन्तोदात्त है, तिप् पित् होने के कारण अनुदात्त है[485]। सम्पूर्ण लोपादि प्रक्रिया के पश्चात् धातु-स्वर को माना गया। पश्चात् शिष्ट को अनुदात्त, उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित हुआ।

शतृ लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
अस्+शप्[486](अ)+लट्(शतृ=अत्)[487]+सु (स्[488]) अस् धातु से लट् लकार तथा लट् के स्थान में शतृ; शतृ के शिष्ट अत् का शप् के अकार के साथ एकादेश[489] होता है। शतृ के अत् से उत्तर सु का लोप होता है।[490] प्रस्तुत रूप को नपुंसकलिङ्ग में सिद्ध किया गया है (शतृ प्रत्यय में स्त्रीलिङ्ग व पुल्लिङ्ग एवं शि को नुम् का आगम होता[491] है क्योंकि सु औ जस् अम् औट् प्रत्ययों की सर्वनामस्थानसंज्ञा यहीं होती है)।	धातु अन्तोदात्त, शप् पित् होने से अनुदात्त[492] तथा शतृ आद्युदात्त है[493] (अस् अ अत्) शप् के अकार व शतृ के अकार के मध्य एकादेश, जो कि उदात्त है[494](अ+अत्)। "अस् अत्" दो उदात्त होने पर पर वाला शेष रहता है[495], शिष्ट अनुदात्त = असत्।

---

481. अष्टा. – ८।१।२८॥
480. "व्यत्ययो बहुलं"। अष्टा. – ३।१।८५॥
482. तै.सं. – १।२।१४, पृ. - ३६१॥
483. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. – ३।४।९४॥
484. "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु"। अष्टा. ३।४।९७ इकार का लोप॥
485. "अनुदात्तौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥
486. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७३ शप् प्रत्यय॥
487. "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणेन"। अष्टा. – ३।२।१२४ शतृ प्रत्यय॥
488. "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६६॥
489. "अतो गुणो"। अष्टा. – ६।१।९५॥
490. "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६६॥
491. "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"। अष्टा. – ७।१।७०॥
492. "अनुदातौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥
493. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥
494. "एकादेश उदात्तेनोदात्तः"। अष्टा. – ८।२।५॥
495. "सतिशिष्टस्वरो बलीयान्"। म.भा. – ६।१।१५३॥

असत् (निपातसंज्ञक) -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
"यद् असत्करोति" असत् शब्द अनादर अर्थ में वर्त्तमान होने पर क्रियायोग में गति व निपात संज्ञक होता है[496]।	यत् असत्करोति यहाँ उदात्तवान् "करोति" तिङन्त के परे रहते असत् निघात है।[497] असत् को निपात होने के कारण आद्युदात्त प्राप्त था[498]।

असि - "ऋतमस्यृतसदनमस्यृतश्रीरसि धा असि स्वधा अस्युर्वी चासि वस्वी चासि"[499]। पदपाठ – ऋतम्। असि। ऋतसदनमित्यृत-सदनम्। असि। ऋतश्रीरित्यृत-श्रीः। असि। धाः। असि। स्वधेति स्व-धा। असि। उर्वी। च। असि। वस्वी। च। असि। मन्त्र में असि पद का अनेकधा प्रयोग है। प्रत्येक असि पद एक विशेषण के साथ है, तथा उनमें स्वरांकन भी भिन्न हैं। ध्यातव्य है कि स्वरांकन में उदात्त को प्रधान माना जाता है तथा उसी के आधार पर व्याख्या की जाती है। भट्टभास्कर के अनुसार इसका अर्थ – "हे वेदे, ऋतं सत्यं यज्ञो वा त्वम् असि तदाधारत्वात्।...। ऋतस्य सदनम् असि गृहमसि।...। हविषामाधारः त्वम् असि। स्वधा अन्नं स्वं पुरुषं दधातीति...। स्वधा एव त्वम् असि तत्साधनत्वात्।..। उर्वी महती च असि। वस्वी वासहेतुः च असि" है।

लट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
अस्+शप्+सिप् अदादिगणपठित अस भुवि धातु से लट् लकार का मध्यमपुरुष एकवचन। शप् का लुक्[500] व अस् धातु के सकार का लोप[501] होता है।	यदि किसी पद का द्वित्व होना पाया जाता है तो उस द्वित्व में पर वाले की आम्रेडित-संज्ञा होती है[502] यथा – असि "असि" में परवाला आम्रेडितसंज्ञक है। "अनुदात्तं च[503]" सूत्र के अनुसार आम्रेडितसंज्ञक अनुदात्त होता है जैसे – भुङ्क्ते भुङ्क्ते। परन्तु यह नियम मात्र द्वित्व तक सीमित है। जबकि मन्त्रांश में "असि" पद का अनेकधा प्रयोग है। यदि च तथा वा के योग में ऐसी क्रियाओं की व्यवस्था हो तो प्रथम तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता अर्थात् प्रथम तिङन्त को निघात का प्रतिषेध होता है[504]। जहाँ निषेध नहीं होगा वहाँ सर्वनिघात प्राप्त होता है[505]। पद-पाठ को देखने से ज्ञात होता है कि मन्त्रांश में "चासि" में चकार से पूर्ववर्ती अतिङ् से उत्तर तिङ् को सर्वनिघात प्राप्त था परन्तु निषेध हो

---

496. "आदरानादरयोः सदसती"। अष्टा. – १।४।६२॥

497. "तिङि चोदात्तवति"। अष्टा. – ८।१।७१॥

498. "निपाताः आद्युदात्ताः"। फिट्सू. – ४।१२॥

499. तै.सं. – १।१।९, पृ. - १२८॥

500. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"। अष्टा. – २।४।७२ शप् का लुक्॥

501. "तासस्त्योर्लोपः"। अष्टा. – ७।४।५०॥

502. "सर्वस्य द्वे"। अष्टा. – ८।१।१, "तस्य परमाम्रेडितम्"। अष्टा. – ८।१।२॥

503. अष्टा. - ८।१।३॥

	गया जिससे "ऋतम्-अस्यृ-तसदनम-स्यृत..." में ऋतम् में तकार उदात्त के पश्चात् असि का अकार स्वरित हो गया[506]। स्वरित अकार के बाद ..स्यृ में ..यृ एकश्रुति हो गया[507]। इसी प्रकार शिष्ट मन्त्रांश का स्वरांकन है। "चासि" को पदच्छेद करने से ज्ञात होता है कि चकार अनुदात्त है[508]। "असि" में धातु पर उदात्त है। परन्तु च व अकार में एकादेश होने से "चा.." उदात्त हो गया। ध्यातव्य है कि इस मन्त्रांश का विषय वेदि –मान व वेदिकरण है।

आगतम् - "इन्द्राग्नी आ गतँ सुतं"[509]। पदपाठ – इन्द्राग्नी इतीन्द्र-अग्नी। एतिं। गतम् सुतम्। "आगतम्" पद भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "गम्लृ गतौ" से लोट् लकार मध्यमपुरुष द्विवचन में निष्पन्न है यद्यपि लोट् लकार में रूप "गच्छतु, गच्छताम्" इत्यादि होते है। परन्तु छन्द विषय में इसके विकरण (शप्) का लुक् हो जाता है।[510] भट्टभास्कर ने भी इसको लोट् लकार में माना है – "हे इन्द्राग्नी, आ गतम् आगच्छतम्" है। इस पद को क्त-प्रत्यय में सम्पन्न किया जा सकता है, जिसमें अन्तर हेतु स्वर का विधान करना आवश्यक है –

लोट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
गम्+थस् (तम्[511]) गम् धातु से लोट् लकार मध्यमपुरुष द्विवचन। गम् के मकार का लोप[512]। शप् को लुक् हो गया।[513]	धातु अन्तोदात्त, तम् आद्युदात्त है (गतम्) परन्तु आङ् उपसर्ग के "गतम्" को सर्वानुदात्त होता है[514]। आङ् आद्युदात्त है[515] (आगतम् = आगंतम्)।

क्त-प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर

---

504. "चवायोगे प्रथमा"। अष्टा. – ८।१।५९॥
505. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥
506. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥
507. "स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्"। अष्टा. – १।२।३९॥
508. "चादयोऽनुदात्ताः"। फिट्सू. – ४।१६॥
509. तै.सं. – १।४।१५. पृ. – ५६७॥
510. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७३॥
511. "लोटो लङ्वत्"। अष्टा. – ३।४।९८ लोट् लकार को लङ् के समान कार्य हो, "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१ तमादेश॥
512. अष्टा. – ६।४।३७॥
513. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७३॥
514. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥
515. "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्"। अष्टा. – ४।१३॥

गम्[516]+क्त[517]+सु (अम्[518]) गम् धातु से क्त प्रत्यय। क्त में ककार की इत् संज्ञा[519]।	धातु अन्तोदात्त[520] व क्त प्रत्यय आद्युदात्त[521] है (अतः "सती शिष्टस्वरो बलीयान्"[522] सिद्ध होगा = गतम्)। परन्तु अपवादस्वरूप दो अच् वाले निष्ठान्त शब्द के आदि को उदात्त प्राप्त हुआ[523] शिष्ट को अनुदात्त, उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित (गतम्)।

आवः (मर्त्यमावः) - "यमग्ने पुत्सु मर्त्यमावो वाजेषु यं जुनाः"[524]। पदपाठ - यम्। अग्ने। पृत्स्विति पृत्-सु। मर्त्यम्। आवः। वाजेषु। यम्। जुनाः। प्रस्तुत पद को सन्धि विच्छेद कर "मर्त्यम्+आवः" जिसमें आवः क्रिया पद है, निष्पन्न किया जाता है, इसके इतर इसको उपपदसमास में (मर्त्यम् मवते) में भी निष्पन्न किया जा सकता है उभयविध रूपों के मध्य अन्तर को स्वर से जाना जा सकता है। भट्टभास्कर ने इसका अर्थ – "हे अग्ने, यं मर्त्यं पृत्सु संग्रामेषु आवः रक्षसि" किया है।

लङ् लकार -

प्रकृति – प्रत्यय	स्वर
आट्[525]+अव्+शप्+लङ्[526] (सिप्=स्[527]) अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगम-प्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्य-वाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु धातु से लङ् लकार मध्यमपुरुष एकवचन।	आट् आगम उदात्त, धातु अन्तोदात्त, शप् पित् होने से अनुदात्त[528] = आ+अव् यहाँ वृद्धि एकादेश[529] होकर। आव्: = आवः।

मर्त्यमावः -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
मर्त्यं मवते इति मर्त्यमावः[530] (मर्त्य	धातु अन्तोदात्त, अण् आद्युदात्त[533]। पर वाला उदात्त शेष रहता है[534] शिष्ट अनुदात्त होता है[535]

---

[516]. "अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिक लोपो झलि क्ङिति"। अष्टा. – ६।४।३७ गम् के मकार का लोप॥

[517]. "निष्ठा"। अष्टा. – ३।२।१०२॥

[518]. "अतोऽम्"। अष्टा. – ७।१।२४ अकारान्त नपुंसकलिङ्ग से उत्तर सु और अम् को अमादेश॥

[519]. "लशक्वतद्धिते"। अष्टा. – १।३।८॥

[520]. "धातोः"। अष्टा. – ६।१।१५७

[521]. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥

[522]. म.भा. – ६।१।१५२

[523]. "निष्ठा च द्व्यजनात्"। अष्टा. – ६।१।१९९॥

[524]. तै.सं. - १।३।१३, पृ. – ४८५॥

[525]. "आडजादीनाम्"। अष्टा. – ८।४।७२ वह आट् उदात्त भी इसी सूत्र से होता है॥

[526]. "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

[527]. इतश्च। अष्टा. – ३।४।१०० इकार लोप॥

[528]. "अनुदात्तौ सुप्पितौ"। अष्टा. – ३।१।४॥

[529]. "आटश्च"। अष्टा. – ६।१।८७ आट् से उत्तर अच् को वृद्धि एकादेश॥

[530]. "उपपदमतिङ्"। अष्टा. – २।२।१९ उपपद समास॥

मूङ्+अण्[531]) मूङ् बन्धने धातु से अण् प्रत्यय। अण् के णित् होने से वृद्धि तथा औ को आवादेश[532]। (मर्त्य को बांधने वाला)	(मा॒वः)। मर्त्य के उपपद होने से कृदन्त "मावः" को प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ[536]। "मा॒वः" के प्रकृतिस्वर होने से शेष अनुदात्त प्राप्त हुआ। परन्तु अनुदात्त न होकर "गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्[537]" उणादिसूत्र से पूर्वपद भी प्रकृतिस्वर हो गया।

इषुध्यसि - "विश्वे॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वृणीत स॒ख्यं विश्वे॑ रा॒य इ॑षुध्यसि"[538]। पदपाठ – विश्वे॑। दे॒वस्य॑। ने॒तुः। मर्तः॑। वृ॒णी॒त। स॒ख्यम्। विश्वे॑। रा॒यः। इ॒षु॒ध्य॒सि॒। मंत्र में "रा॒यः" पद के यकार को उदात्त होने के कारण इससे परे "इ॑षुध्यसि" का इकार स्वरित है[539] इकार के स्वरित होने के कारण शिष्ट भाग को एकश्रुति[540] हो गई (इ॑-षुध्यसि)। इस विवरण को पदपाठ के माध्यम से सम्यक्-रूपेण जाना जा सकता है। जिसमें "रा॒यः" से उत्तर "इ॒षु॒ध्य॒सि॒" को सर्वानुदात्त[541] बताया गया है। यह कण्ड्वादिगणपठित "इषुध शरधारणे" धातु से लट् लकार में[542] तथा क्यच् प्रत्यय[543] से निष्पन्न किया जा सकता है तथा दोनों ही प्रत्ययों का स्वरांकन प्रत्ययों के सनाद्यन्त होने के कारण समान है। अतः भट्टभास्कर ने दोनों ही प्रत्ययों में अर्थ को स्पष्ट किया है। क्यच् होने का अर्थ – "इषुध्यसि त्वमपि देवसख्यं वृतवन्तमिमं जनमिषुधिमिवाचरसि, यथा इषुधिरिषूणां निधानं भवति, एवमिमं सर्वसिद्धीनां भाजनत्वेनाचरसि, तादृशमेनं करोषीति"। यत् प्रत्यय होने का अर्थ – "देवसख्यं वृतवतोऽस्य त्वमिषुध्यसि, इषूणामिषुधिरिव इषुस्थानीयानां सिद्धीनामपादानत्वेनाधारत्वेन च वर्तस इत्यर्थः" होगा।

यक्-प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
इषुध्+यक्+शप्+सिप् कण्ड्वादिगणपठित पर इषुध शरधारणे धातु से यक् प्रत्यय[544]।	धातु अन्तोदात्त (इ॒षुध्), यक् आद्युदात्त है। यक् प्रत्यय के साथ मिलकर यह सनाद्यन्त धातु कहलाती है। पुनः धातु को अन्तोदात्त

---

[533]. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥

[534]. "सतिशिष्टस्वरो बलीयाब्"। म.भा. – ६।१।१५३॥

[535]. "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५३॥

[531]. "कर्मण्यण्"। अष्टा. – ३।२।१॥

[532]. "अचोऽञ्णिति"। अष्टा. – ७।२।११५ वृद्धि, एचोऽयवायावः। अष्टा. – ६।१।७६॥

[536]. "गतिकारकोपपदात् कृत्"। अष्टा. – ६।२।१३९॥

[537]. उ.को. – ६७६ पृ.३९६॥

[538]. तै.सं. – १।२।२॥

[539]. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥

[540]. "स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्"। अष्टा. – १।२।३९॥

[541]. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥

[542]. "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। अष्टा. ३।१।२७॥

[543]. "जनमिषुधिमिवाचरसि"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।२।२॥

[544]. "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। अष्टा. – ३।१।२७ कण्ड्वादि धातुओं से यक् प्रत्यय; कण्ड्वादि धातु तथा प्रातिपदिक दोनों है यहाँ

इषुध्य में यक् प्रत्यय होने से सनाद्यन्त है जिसकी धातु संज्ञा[545]। धातु संज्ञा होने से सिप् प्रत्यय पश्चात् शप्[546] होता है।	होता है[547] (इषुध्य)। शप् व सिप् दोनों पित् होने से अनुदात्त हैं। "य+अ" के एकादेश को उदात्त होता है। उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित हो गया (इषुध्यसि)।

क्यच्-प्रत्यय -

प्रकृति – प्रत्यय	स्वर
इषुधि+अम्[548]+क्यच्+शप्+सिप् (इषुधिमिवाचरसि) उपमानवाची सुबन्त से क्यच् प्रत्यय[549]। व्यत्यय से इषुधि अङ्ग का लोप क्यच् परे रहते (इषुध्)[550] तथा वह अन्त्य अल् इकार का लोप[551]। सनाद्यन्त धातु से सिप् प्रत्यय। क्यच् व शप् के अकार को एकादेश[552]।	यहाँ भी क्यच् प्रत्यय के सनाद्यन्त होने के कारण स्वरांकन समान है। अतः दोनों में प्रत्यय पर उदात्त है।

उपगेषम् - "तपुस्तपस्पतिरञ्जसा सत्यमुपं गेषँ सुविते मा धाः"[553]। पदपाठ – तपः। तपस्पतिरिति। तपः-पतिः। अञ्जसा। सत्यम्। उपेति। गेषम्। सुविते। मा। धाः। यह पद अदादिगणपठित परस्मैपदी "इण् गतौ" धातु से आशीर्लिङ् व लुङ् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में निष्पन्न किया जा सकता है। आशीर्लिङ् आशीर्वाद अर्थ[554] में जबकि लुङ् सामान्य भूतकाल का वाचक है[555]। ऐसी स्थिति में दोनों के स्वर को अध्ययन करना अपरिहार्य है जिससे मन्त्र की सम्यक् व्याख्या की जा सकती है।

लिङ् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
उप+इण् (गा=ग्)+अङ्[556]+यासुट्[557]+ लिङ्[558](मिप्=अम्[559]) अदादिगठित परस्मैपदी इण् गतौ धातु से लिङ् लकार। इण् को गा लुङ् में[560] होता	धातु अन्तोदात्त (परन्तु ग् शेष), अङ् प्रत्यय आद्युदात्त[566](अ), यासुट्-उदात्त[567] (इय्, स्), मिप्(अम्) पित् होने से अनुदात्त है।

धातु के अधिकार में होने से धातु ग्रहण है॥

545. "सनाद्यन्ता धातवः"। अष्टा. – ३।१।३२ धातु संज्ञा॥

546. "कर्त्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८॥

547. "धातोः"। अष्टा. – ६।१।१५७॥

548. "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः"। अष्टा. २।४।७१, सुप् का लुक्।

549. "उपमानादाचारे"। अष्टा. – ३।१।१० क्यच् प्रत्यय।

550. "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः"। अष्टा. – ७।४।३९॥

551. "अलोऽन्त्यस्य"। अष्टा. – १।१।५१॥

552. "अतो गुणे"। अष्टा. – ६।१।९५॥

553. तै.सं. - १।२।१०॥

554. "आशिषि लिङ्लोटौ"। अष्टा. – ३।३।१७३॥

555. "लुङ्"। अष्टा. – ३।२।११०॥

556. "लिङ्याशिष्यङ्"। अष्टा. – ३।१।८६ वेद विषय में आशिषि में लिङ् परे रहते अङ् प्रत्यय।

557. अष्टा. – ३।४।१०३॥

558. "आशिषि लिङ्लोटौ"। अष्टा. - ३।३।१७३, "लिङाशिषि"। अष्टा. - ३।४।११६ आर्द्धधातुकसंज्ञक।

559. "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१॥

है परन्तु व्यत्यय से लिङ् में भी प्राप्त हुआ। अङ् के अकार से उत्तर यासुट् के या को इय्[561] आदेश। इय् के यकार का लोप[562]। अङ् के अकार व इय् के इकार के मध्य गुण एकादेश[563]। गा के आकार का अजादि ङित् आर्द्धधातुक परे रहते लोप[564]। सकार को षकारादेश[565]।	अङ् के अकार व इय् के इकार में परवाला उदात्त शेष रहा (ग् अ इ स् अम्) शिष्ट अनुदात्त, उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित। उप से उत्तर तिङ् "गेषम्" को सर्वानुदात्त होता है। उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित, स्वरित से उत्तर अनुदात्त एकश्रुति।

लुङ् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
उप+इण् (गा)+इ+ सिच्[568](स्[569])+लुङ् (अम्) यहाँ छन्द विषय में इत्व का विकार किया गया है। लुङ् लकार होने के पश्चात् भी वेद में अट् आगम नहीं होता।[570]	यहाँ भी पूर्ववत् स्वर है मात्र इत्व विकार का अन्तर है जिसको प्रत्यय स्वर या धातु स्वर से उदात्त माना जा सकता है। अतः वेद विषय में लिङ् लकार के अङ्-प्रत्यय व लुङ् लकार के इत्व विकार करने के कारण भी दोनों परिस्थितियों में स्वर में अन्तर नहीं आता है।

उपचिन्वन्ति - "यानि घर्मे कपालान्युपचिन्वन्ति वेधसः"[571]। पदपाठ – यानि। घर्मे। कपालानि। उपचिन्वन्तीत्युप-चिन्वन्ति। वेधसः। "उपचिन्वन्ति" को मन्त्र में स्वर की दृष्टि से वाक्यांश के रूप में महत्त्व दिया गया है।

लट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
उप+चि+श्नु(नु)+झि(अन्ति) स्वादिगणपठित चिञ् चयने धातु से श्नु[572] प्रत्यय। श्नु के शिष्ट नु	धातु अन्तोदात्त, श्नु का नु आद्युदात्त[574] झि अनुदात्त[575] है। धातु एवं नु के उदात्त में पर वाला अर्थात् नु का उदात्त शेष रहता है[576] शिष्ट को अनुदात्त (चि नु अन्ति)। उदात्त नु व अनुदात्त अन्ति के अकार के मध्य यणादेश उदात्त होता है[577](चिन्वन्ति उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित =

---

560. "इणो गा लुङि"। अष्टा. – २।४।४५॥

566. अष्टा. – ३।१।३॥

567. "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च"। अष्टा. – ३।४।१०३॥

561. "लोपो व्योर्वलि"। अष्टा. – ६।१।६४ यकार का लोप।

562. "अतो येयः"। अष्टा. – ७।२।८०॥

563. "आद् गुणः"। अष्टा. – ६।१।८५॥

564. "आतो लोप इटि च"। अष्टा. – ६।४।६४॥

565. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९॥

568. "च्लि लुङ्"। अष्टा. - ३।१।४३, "च्लेः सिच्"। अष्टा. – ३।१।४४ लुङ् लकार में सिच् प्रत्यय॥

569. "गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु"। अष्टा. २।४।७७, सूत्र से सिच् का लुक् प्राप्त हुआ परन्तु वेद में व्यत्यय होने के कारण सिच् नहीं हुआ तथा इत्संज्ञा एवं लोप होकर स् शेष।

570. "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि"। अष्टा. – ६।४।७५ अट् निषेध माङ् न होने पर भी॥

571. तै.सं. – १।१।७, पृ. - १०८॥

572. "स्वादिभ्यः श्नुः"। अष्टा. – ३।१।७३॥

के उकार तथा अन्ति के अकार के मध्य यणादेश।[573]	चिन्वन्ति)। उप उपसर्ग आद्युदात्त है[578]। उप से उत्तर तिङन्त चिन्वन्ति को सर्वानुदात्त प्राप्त है[579]। परन्तु जहाँ यद्वृत्त से उत्तर तिङन्त हो वहाँ नित्य ही अनुदात्त नहीं होता है[580]।

उपेतन - "शमितार उपेतन यज्ञं देवेभिरिन्वितम्"[581]। पदपाठ – शमितारः। उपेतनेत्युप-एतन। यज्ञम्। देवेभिः। इन्वितम्। गत्यर्थक अदादिगण परस्मैपदी "इण् गतौ" धातु से इस पद को लोट् लकार में निष्पन्न किया गया है। लोट् लकार में मध्यमपुरुष बहुवचन के त प्रत्यय के स्थान पर वेद विषय में तन और तनप् आदेश होते हैं जिसमें स्वर के कारण ही अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है।

लोट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
इण्+लोट्[582] (थ=त[583]) (तन, तनप्, तन, थन[584]) लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में उक्त प्रत्यय अपित् होने से ङित्वत् था[585] परन्तु तनप् के पित् होने से इण् को गुण हुआ[586] (ए+तनप्=एतन)। उप+एतन=उपेतन[587]।	धातु अन्तोदात्त, थ (त) आद्युदात्त है। दोनों में पर वाला उदात्त हुआ, शिष्ट अनुदात्त (इत)। परन्तु जब त के स्थान में तनप् होता है तो वह पित् होने से अनुदात्त होता है[588]। ऐसी स्थिति में उदात्त धातु पर होता है तथा तनप् स्वरित हो जाता है (इतन) उदात्त से उत्तर अनुदात्त होने के कारण। गुण होकर (एतन)। उप आद्युदात्त[589] में पकार अनुदात्त व एतन आद्युदात्त में एकार उदात्त का एकादेश उदात्त होता है[590]। "उपेतन" ऐसी स्थिति में "उपे.." दोनों उदात्त है जिसमें महाभाष्यवचन से पर वाला उदात्त शेष रहता है,

---

574. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥

575. "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमहिन्वडोः"। अष्टा. – ६।१।१८० धातु के अनुदात्त होने के कारण अनुदात्त विधान॥

576. म.भा. – ६।१।१५३॥

577. "उदात्तयणो हल्पूर्वात्"। अष्टा. – ६।१।१६८॥

573. "हुश्नुवोः सार्वधातुके"। अष्टा. – ६।४।८७ अजादि सार्वधातुक परे रहते, श्नु के उवर्ण को यणादेश हो॥

578. "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्"। अष्टा. – फिट्सू. – ४।१३॥

579. अष्टा. – ८।१।२८॥

580. "यद्वृत्तान्नित्यम्"। अष्टा. – ८।१।६६॥

581. तै.सं. – ३।१।४॥

582. "लोट् च"। अष्टा. – ३।३।१६२॥

583. "लोटो लङ्वत्"। अष्टा. - ३।४।८५, "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१॥

584. "तप्तनप्तनथनाश्च"। अष्टा. – ७।१।४५ वेद विषय में लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में त के स्थान में तप्, तनप्, तन, थन आदेश होता है॥

585. "सार्वधातुकमपित्"। अष्टा. – १।२।४॥

586. "सार्वधातुकार्द्धकयोः"। अष्टा. – ७।३।८४ से गुण॥

587. "एङि पररूपम्"। अष्टा. – ६।१।९२ पररूप एकादेश॥

588. अष्टा. – ३।१।३॥

	शिष्ट अनुदात्त (उपेतंन)।

जुजोषत् - "तस्यं त्राता भवसि तस्य सखा यस्तं आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्"[591]। पदपाठ – तस्यं। त्राता। भवसि। तस्यं। सखा। यः। ते। आतिथ्यम्। आनुषक्। जुजोषत्। यह रूप जुष् धातु से निष्पन्न है, जो कि धातु पाठ में चुरादिगण में परस्मैपदी "जुष परितर्कणे" (इकट्ठा होना वा मारना) तथा तुदादिगण में आत्मनेपदी "जुषी प्रीतिसेवनयोः" (जुषते) पठित हैं। भट्टभास्कर के अनुसार इस पद का अर्थ चुरादिगणी धातु में "जोषयति" है, तथा यह लेट् लकार में वेद विषय में शप् को श्लु होने से द्वित्व में सम्पन्न है। परन्तु सायणाचार्य "जुजोषत्" का अर्थ तुदादिगणपठित "जुषी प्रीतिसेवनयोः" धातु से परस्मैपद का व्यत्यय करके लेट् लकार में मानते हैं[592]।

लेट् लकार -

प्रकृति – प्रत्यय	स्वर
जु+जुष्(जोष्[593])+अट्+तिप्(त्) यहाँ सर्वप्रथम णिच् होकर, उस णि का लुक् होता है[594](जुष् णिच्)। पुनः तिबादि प्रत्यय होकर तिप् में ति के इकार का लोप[595] एवं उसको अडागम[596], शप् प्रत्यय, शप् को श्लु[597], श्लु होने से द्वित्व[598], द्वित्व हुए दोनों भागों की अभ्यस्त संज्ञा[599] होती है।	अभ्यस्त संज्ञक के आदि को उदात्त[600] होता है, शिष्ट अनुदात्त[601], उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित[602], स्वरित से उत्तर एकश्रुति[603] होती है (जुजोषत्)।

जोषम् - "तं तं एतमनु जोषं भरामि"[604]। पदपाठ – तम्। ते। एतम्। अन्विति। जोषम्। भरामि। यह लङ् लकार में अथवा घञ्-प्रत्ययान्त रूप है तथा अमरकोषकार इसे अव्ययपद मानते हैं। अतः इसके सम्यक् अर्थ के निर्धारण में स्वर की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। परन्तु यहाँ तीनों ही स्थितियों में स्वर में समानता है।

---

589. फिट्सू. – ४।१३॥
590. अष्टा. – ८।२।५॥
591. तै.सं. – १।२।१४॥
592. "..यः तवातिथिसत्कारम् आनुषक् प्रतिदिनं जुजोषत् प्रीतिपुरःसरं करोति.."। ज्ञानयज्ञ, तै.सं. १।२।१४॥
593. "पुगन्तलघूपधस्य"। अष्टा. ७।३।८६, गुण॥
594. "णेरनिटि"। अष्टा. – ६।४।५१॥
595. "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु"। अष्टा. – ३।४।९७ इकार लोप॥
596. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. – ३।४।९४ अट् आगम।
597. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७६ शप् को श्लु॥
598. "श्लौ"। अष्टा. – ६।१।१० द्वित्व॥
599. "उभे अभ्यस्तम्"। अष्टा. – ६।१।५॥
600. "अभ्यस्तानामादिः"। अष्टा. – ६।१।१८३॥
601. "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"। अष्टा. – ६।१।१५३॥
602. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥
603. "स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्"। अष्टा. – १।२।३९॥
604. तै.सं. – १।१।१३, पृ. - १८६॥

भट्टभास्कर इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए घञन्त को अनुभरामि क्रिया का विशेषण मानते हैं – "तम् एतं मध्यमं परिधिं तव जोषम् इष्टम्।...अनु भरामित्वामेवानुगतं हरामि प्रहरामि"।

घञ् प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
जुष्(जोष्[605])+घञ्[606]+सु(अम्[607]) जुष परितर्कणे (परितर्कणमूहो हिंसा वा। "परितर्कणे" इत्यन्ये। परितर्कणं परितृप्तिक्रिया) धातु से कर्म में घञ्।	घञ् प्रत्यय के ञित् होने से आदि को उदात्त प्राप्त हुआ[608], शिष्ट अनुदात्त, अनुदात्त को स्वरित (जोषम्)। (ध्यातव्य है कि जो आकारान्त धातुएँ होती हैं (पा इत्यादि) उनसे यदि घञ् हो तो, उनके अन्त को उदात्त[609] होता है)।

लङ् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
(अ[610])जुष्(णिच्[611])+शप्+मिप्(अम्[612]) जुष् धातु से लङ् लकार। गुण होकर (जोष् अम्)।	धातु अन्तोदात्त, अम् प्रत्यय व शप् अनुदात्त[613] है। शिष्ट अनुदात्त, उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित (जोषम्)।

अव्ययपद -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
जोषम् - यह अव्ययपद स्वरादिगण में पठित[614]है। अमरकोष के अनुसार यह – चुपचाप व सुख अर्थ में हैं[615]।	स्वरादिगण में पठित यह अव्ययपद आद्युदात्त है[616] (जोषम्)।

तप्यध्वम् - "संजा॒ताऩस्मै यजमानाय॒ पर्यू॑ह॒ भृगू॑णा॒मङ्गिरसा॑ं तपसा तप्यध्व॑ं"[617]। पदपाठ – स॒जा॒तानिति स-जा॒तान्। अ॒स्मै। यजमानाय। परीति। ऊ॒ह॒। भृगू॑णाम्। अङ्गिरसाम्। तपसा। त॒प्य॒ध्व॒म्। धातु पाठ में पठित – "तप सन्तापे" (भ्वादिगण-परस्मैपदी),

---

605. "पूगन्तलघूपधस्य च"। अष्टा. – ७।३।८६ गुण॥
606. "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्"। अष्टा. – ३।३।१९ कर्म में घञ्॥
607. "अतोऽम्"। अष्टा. – ७।१।२४ अमादेश॥
608. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१ ञकार जिसका इत्संज्ञक है उस प्रत्यय के परे रहते आदि को उदात्त होता है॥
609. "कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः"। अष्टा. – ६।१।१५३॥
610. "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि"। अष्टा. – ६।४।७५ लङ् को अट् निषेध॥
611. "सत्यापपाशरूपवीणातूल."। अष्टा. – ३।१।२५, णेरनिटि। अष्टा. – ६।४।५१ णि का लोप, गुण होकर॥
612. "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१॥
613. अष्टा. – ३।१।४॥
614. "स्वरादिनिपातमव्ययम्"। अष्टा. – १।१।३६॥
615. "तूष्णीमर्थे सुखे जोषम्"। अ.को. – ३।२५०, पृ. – २८८॥
616. "स्वरादिनिपातमव्ययम्"। गणपाठ, अष्टा. – १।१।३७॥
617. तै.सं. – १।१।७॥

"तप ऐश्वर्ये" (दिवादिगण-आत्मनेपदी) "तप दाहे" (चुरादिगण-उभयपदी) धातुओं से लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में यह रूप निष्पन्न है। भट्टभास्कराचार्य[618] एवं सायणाचार्य[619] के अनुसार यह कर्म में विहित यक् से निष्पन्न है[620]। ध्यातव्य है कि इस रूप को दिवादिगणगठित आत्मनेपदी "तप ऐश्वर्ये" धातु से भी कर्त्तृवाच्य में भी निष्पन्न किया जा सकता है। परन्तु सायणाचार्य इस मन्त्र को "कपाल" को सम्बोधित करते हैं, जो तप्त होते हैं अतः यह ऐश्वर्य के अर्थ में न होकर तप्त के अर्थ में हैं। तप दाहे धातु के द्वारा कर्म के अभिहित होने के कारण कर्म में प्रथमा हुई है अतः कर्म में लकार का विधान किया गया है अर्थात् यहाँ कर्म ही अभीष्ट है।

(क) सामान्य नियम है कि वाक्य या पद में आख्यात पद से पूर्व आख्यात पद से भिन्न कोई भी पद आवे तो आख्यात पद सर्वानुदात्त होता है।[621] किन्तु उपर्युक्त अवस्थाओं में आख्यात पद से पूर्व आख्यात से भिन्न पद होने पर भी आख्यात पद को सर्वानुदात्त न होकर प्रकृति स्वर होता है – यथा - ..श्वो यज्ञे प्रयोक्तासे..। तै.सं.-२.६.२३ यहाँ लुट् लकार के आख्यात पद सर्वानुदात्त नहीं है[622]।
(ख) गत्यर्थक धातु से लोट् लकार में बने क्रियापद से युक्त कोई दूसरा क्रियापद जो लृट्, लेट्, लोट् उत्तम या मध्यम पुरुष में हो तो द्वितीय वाक्य की क्रिया उदात्तयुक्त होती है।[623] किन्तु लोट् लकार में उत्तम-पुरुष से भिन्न क्रियापद सोपसर्ग होने पर विकल्प से द्वितीय वाक्य की क्रिया सर्वानुदात्त भी हो जाती है[624]। जैसे - ..सोमं राजन्नेह्यव रोह्व ..।[625]
यक् -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
तप्+यक्[626]+ध्वम् चुरादिगणपठित तप दाहे धातु से लोट् लकार कर्म में है।	धातु अन्तोदात्त, यक् आद्युदात्त व ध्वम् अनुदात्त है[627]। महाभाष्यवचन से परवाला उदात्त शेष रहता है, शिष्ट अनुदात्त, उदात्त से परे अनुदात्त स्वरित (तप्यध्वम्)। पद पाठ के अनुसार "तपसा" अतिङ् से उत्तर इसको सर्वानुदात्त हो गया (तप्यध्वम्)। (ध्वम् सामान्यतः आद्युदात्तश्च (अष्टा. – ३।१।३) सूत्र से आद्युदात्त होता है तथा परवाला उदात्त होने के कारण पद में उदात्त इसी पर होता है परन्तु यहाँ तप धातु

618. "...तेषां तपसा तप्यध्वं तप्तानि भवत। कर्मणि लकारः।..."। ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।१।७, पृ.१०७॥
619. "हे कपालानि, देवतातपो रूपेणाऽग्निना तप्तानि भवत"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।७, पृ. – १०७॥
620. "सार्वधातुके यक्"। अष्टा. – ३।१।६७॥
621. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. - ८।१।२८ ॥
622. "न लुट्"। अष्टा. – ८।१।२९ ॥
623. गत्यर्थलोटा लृण्न चेत्कारकं सर्वाण्यत्। लोट् च। अष्टा. – ८।१।५१-५२ ॥
624. विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम्। ८।१।५३ ॥
625. तै.सं. – १।३।१३॥
626. "सार्वधातुके यक्"। अष्टा. – ३।१।६७॥
627. "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः"। अष्टा. – ६।१।१८०॥

	से यक् अदुपदेश होने से यह अनुदात्त हो गया)

श्यन् -

प्रकृति – प्रत्यय	स्वर
तप्+श्यन्[628]+ध्वम् दिवादिगणपठित तप ऐश्वर्य (तप्यते) धातु से लोट् लकार।	धातु अन्तोदात्त, ध्वम् अनुदात्त है। दिवादिगण में पठित होने से धातु से श्यन् प्रत्यय हुआ जो नित् है। नित् प्रत्यय के परे रहते उसके आदि को (तप् को) उदात्त होता है[629]। शिष्ट अनुदात्त हुआ, उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित, स्वरित से उत्तर अनुदात्त एकश्रुति (तप्यंध्वम्)।

तुथः - "तुथोऽसि विश्ववेदा उशिगसि"[630]। पदपाठ – तुथः। असि। विश्ववेदा इति विश्व-वेदाः। उशिक्। असि। "तुथः" पद को भट्टभास्कर वृद्धिकर्म अर्थ में पाणिनि उक्त तु सौत्र धातु से निष्पन्न मानते है[631]। जबकि यह पद अदादिगणपठित परस्मैपद "तु गतिवृद्धिहिंसासु" धातु से लट् लकार मध्यमपुरुष द्विवचन में भी सम्पन्न किया जा सकता है ऐसी स्थिति में दोनों में अन्तर हेतु स्वर का आश्रय लिया जाता है।

लट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
तु+(शप्)[632]+थस् अदादिगणपठित "तु गतिवृद्धिहिंसासु" धातु से लट्।	धातु अन्तोदात्त, प्रत्यय आद्युदात्त है। पर वाला उदात्त शेष रहने पर स्वरांकन – तुथः।

थक् प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
तु+थक्+सु[633] तु सौत्र धातु[634] से थक् प्रत्यय[635] है।	धातु आद्युदात्त, थक् प्रत्यय आद्युदात्त होने से दोनों में स्वर समान है।

ध्यातव्य है कि दोनों ही परिस्थिति में स्वर समान है। परन्तु अग्न्यर्थ "तुथः" की सिद्धि के लिए धातु पाठ में पठित धातुओं से इतर तथा जिन धातुओं से थक् प्रत्यय कहा है वहाँ अग्न्यर्थ में तुद् (तुत्थः=अग्निः) के पठित होने से अर्थात् तु धातु के पठित नहीं होने से, पुनरपि तु से थक् प्रत्यय मानना तथा इस रूप को सिद्ध करने एक पूर्णतः छान्दस् प्रयोग है। जिसका ज्ञान मन्त्रांश में आए "तुथः" के पश्चात् "असि" क्रिया के पदपाठ में "असि" को सर्वानुदात्त होने से ज्ञान होता है कि यह

---

628. "दिवादिभ्यः श्यन्"। अष्टा. – ३।१।६९॥

629. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१॥

630. तै.सं. – १।३।३, पृ. - ३९६॥

631. "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके"। अष्टा. – ७।३।९५ तु सौत्र धातु॥

632. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"। अष्टा. – २।४।७२॥

633. "ससजुषो रुः"। अष्टा. – ८।२।६६ रु आदेश; खरवसानयोर्विसर्जनीयः। अष्टा. – ८।३।१५ विसर्जनीय आदेश॥

634. "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके"। अष्टा. – ७।३।९५॥

635. "पातृतुदिवचिरिचिसिजभ्यस्थक्"। उ.को. – १७२ यद्यपि तु धातु का इसमें उल्लेख नहीं है तथापि वेद विषय में इसी से निष्पन्न किया जाता है, तथा तुद् धातु से निष्पन्न का भी अर्थ अग्नि है = तुत्थोऽग्निः॥

"तुथः" अतिङ् है[636]। इसके अतिरिक्त मन्त्रांश में पदादि होने से अनुदात्त परे रहते उदात्त एकादेश की स्थिति में विकल्प से स्वरित होता है। अतः यहाँ "तुथोऽसि" में "...थो..." स्वरित है[637] (तुथो असि; तुथः असि)।

दहति स्म - "न ह॑ स्म॒ वै पु॒राऽग्निरप॑रशुवृक्णं दह॒ति॒ तद॑स्मै प्रयो॒ग एव॒र्षिर॑स्वदय॒द्यद॑ग्ने॒[638]"। पदपाठ – न। ह॒। स्म॒। वै। पु॒रा। अ॒ग्निः। अप॑रशुवृक्ण॒मित्यप॑रशु-वृ॒क्ण॒म्। दह॒ति॒। तत्। अ॒स्मै॒। प्र॒यो॒ग इति॑ प्र-यो॒गः। एव। ऋ॒षिः॑। अ॒स्व॒दय॒त्। यत्। अ॒ग्ने॒। वर्तमानकालिक[639] स्म के योग में दहति पद भ्वादिगणपठित दह भस्मीकरणे धातु से लट् लकार में होते हुए भी परोक्ष अनद्यतन भूतकालिक अर्थ में होता है[640] जो "ददाह" का अर्थ देगा। पदपाठ के अनुसार "दह॒ति" सर्वानुदात्त है[641]। अतः यदि "स्म" व लट् लकार के स्थान पर लिट् लकार का प्रयोग होता है तो वह भी पदपाठ में सर्वानुदात्त होगा। किन्तु "दहति" व "दद॑ाह" में स्वर परिवर्तन के कारण मन्त्रांश में भी स्वर में परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा।

लट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
दह्+शप्+तिप् दह भस्मीकरणे धातु से लट् लकार। "स्म" पद की चादिगण में पठित होने से निपात-संज्ञा है[642]।	धातु अन्तोदात्त, शप् तथा तिप् पित् होने से अनुदात्त हैं। उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित[643], स्वरित से उत्तर एकश्रुति[644] (दहति)। "स्म" चादिगण में पठित होने के कारण अनुदात्त है[645]।

लिट् लकार -

प्रकृति – प्रत्यय	स्वर
दह्+दह्+लिट् (णल्=अ) दह भस्मीकरणे धातु से लिट् लकार में द्वित्व[646], अभ्यास कार्य[647] एवं गुण[648] होकर सिद्ध है।	दद॑ाह

---

636. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥
637. "स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ"। अष्टा. – ८।२।६॥
638. तै.सं. – ५।१।१०। पृ.४७, "ह स्म वा ऋषयः पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रमुप यन्ति ....."। तै.सं. – ३।३।८। पृ.२६१॥
639. "वर्तमाने लट्"। अष्टा. – ३।२।१२३॥
640. "लट् स्मे"। अष्टा. – ३।२।११८॥
641. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥
642. "चादयोऽसत्त्वे"। अष्टा. – १।४।५७॥
643. "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"। अष्टा. – ८।४।६५॥
644. "स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्"। अष्टा. – १।२।३९॥
645. "चादयोऽनुदात्ताः"। अष्टा. – ४।१६॥
646. "लिटि धातोरनभ्यासस्य"। अष्टा. – ६।१।८॥
647. "हलादि शेषः"। अष्टा. – ७।४।६० अभ्यास के अनादि हल् का लोप॥
648. "पूगन्तलघूपधस्य"। अष्टा. – ७।३।८६ गुण॥

दाता - "धाता पुत्रं यजमानाय दाता"[649]। पदपाठ – धाता। पुत्रम्। यजमानाय। दाता। स्वर के कारण यहाँ "दाता" व "धाता" का अन्तर सम्भव है। ध्यातव्य है कि इनको लुट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन में सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु स्वर से ज्ञान होता है कि "दाता" तृन्-प्रत्ययान्त है तथा "धाता" तृच्-प्रत्ययान्त रूप हैं। अतएव "दाता" को भट्टभास्कर[650] तच्छील अर्थ में मानते है। तच्छील अर्थ लुट्-लकार का न होकर तृन् प्रत्यय का है। सायण[651] भी इसको इसी अर्थ में स्वीकार करते हैं।

धाता (तृच्-प्रत्यय) -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
धा+तृच्[652](अनङ्[653]=अन्[654])+सु(स्[655]) जुहोत्यादिगणपठित "डुधाञ् धारणपोषणयोः" धातु से तृच् प्रत्यय।	धातु अन्तोदात्त। परन्तु धाता तृजन्त पद होने से अन्तोदात्त हुआ[656], शिष्ट अनुदात्त (धाता)।

दाता (लुट्-लकार) -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
दा+तासि[657]+तिप् (डा[658]) जुहोत्यादिगण में पठित डुदाञ् दाने धातु से लुट् लकार।	धातु अन्तोदात्त, तासि आद्युदात्त, तिप् पित् होने से अनुदात्त (अतः डा भी अनुदात्त)। तासि उदात्त प्रत्यय के टि का लोप होने पर अनुदात्त को आदि उदात्त होता है अर्थात् अनुदात्त के परे रहते यदि उदात्त का लोप होता है तो अनुदात्त (परवाला) को ही उदात्त हो जाता है[659], शिष्ट अनुदात्त (दाता)। तथा यही लुट् लकार किसी पद के पश्चात् हो तो इसको अनुदात्त भी नहीं होता[660]। यहाँ अतिङ् से उत्तर तिङ् को सर्वानुदात्त का प्राप्त था, जिसका निषेध हो गया[661]। इस प्रकार सभी परिस्थिति में लुट् लकार का रूप अन्तोदात्त (दाता) ही रहता है।

---

649. तै.सं. – ३।३।११, पृ. - २८२॥
650. "धाता इव पुत्रं यजमानाय दाता ताच्छील्येन ददाति"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ३।३।११॥
651. "स च धाता यजमानाय पुत्रं दाता ताच्छील्येन ददाति"। सायणभाष्य, तै.सं. – ३।३।११॥
652. "ण्वुल्तृचौ"। अष्टा. – ३।१।१३३ तृच् प्रत्यय।
653. "ऋदुशनस्पुरुदंसोनेहसां च"। अष्टा. – ७।१।९४, ऋकार को अनङ् आदेश (धा त् अन् स्)॥
654. "अमृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षतृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्"। अष्टा. – ६।४।११,उपधा को दीर्घ (धा त् आन् स्)॥
655. "हलङ्याभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६६॥
656. "चितः"। अष्टा. - ६।१।१५७॥
657. "स्यतासी लृलुटोः"। अष्टा. – ३।१।३३ तासि प्रत्यय व "डित्करणसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः"। भाष्य, अष्टा. - २।४।८५ तास् के आस् का लोप ॥
658. "लुटः प्रथमस्य डारौरसः"। अष्टा. – २।४।८५ डा आदेश॥
659. "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः"। अष्टा. – ६।१।१५५॥
660. "न लुट्"। अष्टा. – ८।१।२९॥
661. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥

दाता (तृन्-प्रत्यय) -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
दा+तृन्[662] जुहोत्यादिगणपठित डुदाञ् दाने धातु से तृन् प्रत्यय। रूपसिद्धि तृच् के समान है।	धातु अन्तोदात्त, नित्-प्रत्यय (तृन्-प्रत्यय) के परे रहते आदि को उदात्त होता है, शिष्ट अनुदात्त, उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित (दाता) यह प्रत्यय स्वर[663] का अपवाद है। मन्त्र में तृन् का प्रयोग होने के कारण भट्टभास्कर इसको तच्छील अर्थ में मानते हैं।

दातारौ – "उभा दाताराविषाँ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम्"[664]। पदपाठ - उभा। दातारौ। इषाम्। रयीणाम्। उभा। वाजस्य। सातये। हुवे। वाम्। इस पद का निर्माण लुट्-लकार, तृच्-प्रत्यय व तृन्-प्रत्यय में किया जा सकता है। इनके परस्पर अन्तर को स्वर से ही जाना जा सकता है। भट्टभास्कर इसको लुट् लकार में मानते हैं – "युवामेव ह्युभौ इषाम् अन्नानां रयीणां धनानां क्षेत्रपुत्रपश्वादीनां दातारौ"।

लुट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
दा+तासि (ता[665])+तस् (रौ[666]) दा धातु से लुट् लकार प्रथमपुरुष द्विवचन में।	धातु अन्तोदात्त, तासि आद्युदात्त, तस् आद्युदात्त है। किन्तु तासि से उत्तर तस् को अनुदात्त हो गया[667]। महाभाष्यवचन से परवाला उदात्त बलवान् हुआ, शिष्ट अनुदात्त, उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित (दातारौ)।

तृच् प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
दा+तृच् (तर्[668]=तार्[669])+औ[670] दा+तृन् = पूर्ववत्	तृजन्त (चित् होने के कारण) शब्द अन्तोदात्त (दातारौ)[671]। तृन्नन्त (नित् होने के कारण) आदि को उदात्त (दातारौ)[672]। शिष्ट अनुदात्त, उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित।

धिनुहि - "धान्यमसि धिनुहि देवान्"[673]। पदपाठ – धान्यम्। असि। धिनुहि। देवान्। यह लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। जिसको भ्वादिगणपठित परस्मैपदी

---

662. "तृन्"। अष्टा. – ३।२।१३५, तच्छील, तद्धर्म व तत्साधुकारी कर्त्ताओं में धातु से तृन्-प्रत्यय होता है।
663. "आद्युदात्तश्च"। अष्टा. – ३।१।३॥
664. तै.सं. – १।१।१४, पृ. – २००॥
665. "रि च"। अष्टा. – ७।४।५१ तास् के सकार का लोप॥
666. "लुटः प्रथमस्य डारौरसः"। अष्टा. - २।४।८५॥
667. "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः"। अष्टा. – ६।१।१८०॥
668. "ऋचो ङिसर्वनामस्थानयोः"। अष्टा. – ७।३।११०, गुण आदेश॥
669. अष्टा. – ६।४।११ उपधा दीर्घ॥
670. "स्वौजस्मौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्"। अष्टा. – ४।१।२ औ प्रत्यय॥
671. "चितः"। अष्टा. – ६।१।१५७॥
672. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१॥

प्रीणनार्थक धिवि धातु से निष्पन्न किया जाता है। धिवि धातु के इकार की इत् संज्ञा होकर लोप व इसको कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते उ प्रत्यय और अकार का आदेश होता है[674]। अकार अन्त्य अल् के स्थान पर होता है[675]। ध्यातव्य है कि भ्वादिगण में पठित होने के कारण धातु से शप् प्राप्त है[676]। परन्तु उसके स्थान पर उ प्रत्यय विधान कर दिया। यह उ प्रत्यय तिङ् व शित् से भिन्न होने के कारण आर्द्धधातुक है[677]। (धिन् अ उ) उकार के आर्द्धधातुक होने से अकार का लोप[678] (धिन् उ)। लोट् लकार में मध्यमपुरुष एकवचन में हुए सिप् प्रत्यय को अपित् हि[679]आदेश, उकार से उत्तर हि को लुक् प्राप्त हुआ[680]। परन्तु "उतश्च प्रत्ययाश्छन्दो वा वचनम्"[681] के द्वारा लुक् का बाध हो गया। "धिनुहि"। ध्यातव्य है कि भ्वादिगण में शप्-विकरण के पित् होने के कारण यहाँ अनुदात्त प्राप्त था परन्तु धातु की विशिष्ट प्रक्रिया के कारण यह स्वादिगण में पठित श्नु विकरण वाली धातुओं के समान दिखाई देती है। अतः स्वरांकन निम्न है –

लोट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
धिवि+हि प्रेरणार्थक धिवि धातु से लोट् लकार।	धातु अन्तोदात्त, नु आद्युदात्त व सिप् पित् होने से अनुदात्त था परन्तु सिप् के स्थान में हि के अपित्[682] होने से यह भी आद्युदात्त हो गया। महाभाष्यवचन से अन्तोदात्त हुआ, शिष्ट अनुदात्त (धिनुहि)।

धुक्ष्व - "क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व"[683]। पदपाठ - क्षेत्रस्य। पते। मधुमन्तमिति मधु-मन्तम्। ऊर्मिम्। धेनुः। इव। पयः। अस्मासु। धुक्ष्व। यहाँ कर्मकर्तृ में लकार हुआ है[684]। भट्टभास्कर के अनुसार इसका अर्थ – "ईदृशं गवादिसमुदायम् अस्मासु धुक्ष्व स्वयमेव धुक्ष्व अस्मद्वात्सल्येन, यथा धेनुः पयः स्वयमेव दुग्धे दोग्धृवात्सल्येन" है अर्थात् "गाय स्वयमेव दोग्धृवात्सल्य से दूध देती है"। यहाँ पयः पद आद्युदात्त एवं द्वितीया विभक्ति में है। तथा "धुक्ष्व" पदपाठ में सर्वानुदात्त[685] व मन्त्रांश में एकश्रुति है जिसका कारण स्वरित के पश्चात् आना है।

---

673. तै.सं. – १।१।६॥
674. "धिन्विकृण्व्योर च"। अष्टा. – ३।१।८०॥
675. "अलोऽन्त्यस्य"। अष्टा. – १।१।५१॥
676. "कर्त्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८॥
677. "आर्द्धधातुकं शेषः"। अष्टा. – ३।४।११४॥
678. "अतो गुणः"। अष्टा. – ६।४।४८॥
679. "सेह्यर्पिच्च"। अष्टा. – ३।४।८७॥
680. "उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्"। अष्टा. – ६।४।१०६॥
681. वार्त्तिक, अष्टा. – ६।४।१०६॥
682. "सेह्यर्पिच्च"। अष्टा. – ३।४।८७॥
683. तै.सं. – १।१।१४॥
684. "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"। अष्टा. – ३।१।८७॥
685. "तिङ्ङतिङः"। अष्टा. – ८।१।२८॥

मन्त्रांश में "धुक्ष्व" पद के एकश्रुति होने व "पयः" आद्युदात्त होने से ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण मन्त्रांश में आद्युदात्त "पयः" की प्रधानता है, एवं स्वरानुक्रमणी में कहा भी गया है कि वाक्य अथवा समास के जिस पद अथवा वर्ण पर उदात्त होता है वही विशेषार्थबोधक होता है[686]।

यक् प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
दुह्+थास् (से[687]=स्व[688]) यहाँ दुह् धातु से कर्मवद् भाव में यक् का निषेध होता है[689]। दकारादि धातु के हकार के स्थान में घकारादेश[690] (दुघ्+स्व)। झलादि सकार परे रहते भषादेश (धुघ् स्व)[691] जश्त्व (धुग् स्व)[692], चर्त्व (धुक् स्व)[693] व षत्व (धुक् ष्व = धुक्ष्व)[694]।	धातु अन्तोदात्त, प्रत्यय आद्युदात्त, महाभाष्यवचन से परवाला उदात्त शेष, शिष्ट अनुदात्त।

धूर्व - "धूर॑सि॒ धूर्व॒ धूर्वन्तं॒ धूर्व॒ तं योऽस्मान् धूर्वति॒ तं धूर्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः॒"[695]। पदपाठ – धूः। अ॒सि॒। धूर्वं। धूर्वन्तम्। धूर्वं। तम्। यः। अ॒स्मान्। धूर्वति। तम्। धूर्व॒। यम्। व॒यम्। धूर्वा॑मः। भट्टभास्कर के अनुसार इसका अर्थ है - "धूः हिंसकः त्वम् असि। ...हे अग्ने धुर्य।....। यत ईदृशस्त्वं तस्मात् धूर्वन्तं यज्ञस्य हिंसकं राक्षसादिकं तावत् धूर्व नाशय। किं च तं च धूर्व यः अस्मान् धूर्वति जिघांसति"। प्रस्तुत रूप भ्वादिगण में उक्त परस्मैपदी हिंसार्थक धुर्वी धातु से लट् लकार में निष्पन्न है। धातु के इत्संज्ञक भाग का लोप होकर[696] तथा तिबादि प्रत्यय होकर धुर्व की उपधा को हल् परे रहते दीर्घ होता है[697]। सायणाचार्य इस मन्त्रांश में आए "असि" व अन्य सभी पदों का निम्न स्वरांकन किया है – प्रथमद्वितीययोर्धूर्वशब्दयोर्वाक्यादित्वेन पदात्परत्वं नास्तीति निघाताभावः। तृतीयस्य तु 'तं धूर्व' इत्येवं पदादुत्तरत्वादस्ति निघातः। 'योऽस्मान् धूर्वति; 'यं धूर्वामः' इत्यनयोर्यच्छब्दयोगान्निघातो निषिद्धः। "निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम् (पा. – ८।१।३०) एतेर्यदादिभिः युक्तं न निहन्यते"।

---

686. "एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निश्चयः"॥ स्व.अनु. – १।१।२१॥

687. "थासः से'। अष्टा. – ३।४।८०॥

688. "सवाभ्यां वामौ"। अष्टा. – ३।४।९१॥

689. "न दुहस्नुनमां यक्चिणौ"। अष्टा. – ३।१।८९॥

690. "दादेर्धातोर्घः"। अष्टा. – ८।२।३२ हकारादेश॥

691. "एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः"। अष्टा. – ८।२।३७॥

692. "झलां जशोऽन्ते"। अष्टा. – ८।२।३९॥

693. "वावसाने"। अष्टा. – ८।४।५५॥

694. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९॥

695. तै.सं. – १।१।४ पृ.६८॥

696. "उपदेशेऽजनुनासिक इत्"। अष्टा. – १।३।२॥

697. "उपधायां च"। अष्टा. – ८।२।७८॥

लोट् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
धुर्व्+शप्(अ)+लोट् (सिप्=हि[698]) हिंसार्थक धुर्वी धातु से लोट् लकार। वकारान्त धातु की उपधा को दीर्घ (धूर्व्)[699]।	धातु अन्तोदात्त, शप् अनुदात्त है। उदात्त से उत्तर अनुदात्त स्वरित।

धृषता - "पंतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः"[700]। पदपाठ – पतन्ति। अन्विति। स्पृश। धृषता। शोशुचानः। भट्टभास्कर इसको चुरादिगण में पठित "धृष प्रसहने" धातु से शतृ-प्रत्यय तृतीया-विभक्ति एकवचन में मानते हैं – "धृषता अभिभवित्रा.....भावप्रधानोऽयम्, धर्षकत्वेनेत्यर्थः। शोशुचानः भृशं दीप्यमानः"।

शतृ-प्रत्यय -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
धृष्+शप्(श[701])+लट्(शतृ=अत्)+टा चुरादिगणपठित धृष प्रहसने धातु से शतृ प्रत्यय। यहाँ शप् के स्थान में श व्यत्यय से होता है।	(धृष्, श=अ, शतृ=अत्, टा=आ) धातु अन्तोदात्त, प्रत्यय आद्युदात्त। ऐसी स्थिति में नुमागम रहित शतृ-प्रत्ययान्त जो अन्तोदात्त है, उससे परे अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति (टा=आ) को उदात्त होता है[702]। शिष्ट अनुदात्त (धृषता)।

निषिञ्चन् - "स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः"[703]। पदपाठ – स्तनयित्नुना। एति। इह्वि। अपः। निषिञ्चन्निति नि-सिञ्चन्। असुरः। पिता। नः। इसको नि उपसर्गपूर्वक सिच् धातु से लङ्-लकार व शतृ-प्रत्यय में सम्पन्न किया जा सकता है। स्वर से अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में ज्ञात होता है कि यहाँ दोनों ही परिस्थिति में स्वर समान है। भट्टभास्कर इसको शतृ प्रत्यय में मानते हैं[704]।

लङ् लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
नि[705] (अट्[706]) सिच् (षिच्=षिनुम्=न्[707] च्)+श[708]+झि (अन्ति[709]=अन्[710])	धातु अन्तोदात्त, श-प्रत्यय आद्युदात्त, झि के स्थान में अन्ति का अन् आद्युदात्त है। नि आद्युदात्त है। एकादेश भी उदात्त।

---

698. "सेह्यर्पिच्च"। अष्टा. – ३।४।८७, "अतो हेः"। अष्टा. – ६।४।१०५ हि का लोप॥
699. "हलि च"। अष्टा. – ८।२।७७॥
700. तै.सं. – १।२।१४, पृ. – ३५६॥
701. व्यत्यय से शप् के स्थान में श प्रत्यय।
702. "शतुनुमो नद्यजादी"। अष्टा. – ६।१।१६७॥
703. तै.सं. – ३।१।११, पृ. – ९८॥
704. "अपः निषिञ्चन् वर्षन् असुरः असनकुशलः"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ३।१।११॥
705. "उपसर्गाद् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम्"। अष्टा. – ८।३।६५ षत्व॥
706. "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि"। अष्टा. – ६।४।७५॥

तुदादिगणपठित षिच क्षरणे धातु से श प्रत्यय।	महाभाष्यवचन से परवाला उदात्त शेष, शिष्ट अनुदात्त।

शतृ लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
नि+षिच्(षि नुम् च्)+श+शतृ (अत्) +सु (स्)	धातु अन्तोदात्त, श आद्युदात्त, शतृ का अत् आद्युदात्त है। पूर्ववत्।

पर्यधत्थाः - "यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव"[711]। पदपाठ – यम्। परिधिमिति परि-धिम्। पर्यधत्था इति परि-अधत्थाः। अग्ने। देव। भट्टभास्कर मन्त्र में "यम्" इस यद्वृत्त के कारण स्वर का विवरण निम्न प्रकार करते हैं – "यद्वृत्तान्नित्यम् (पा. - ८।१।६६) इति निघाते निषिद्धे अट् उदात्तत्वम्। "तिङि चोदात्तवति" (पा. – ८।१।७१) इति गतेर्निघातः। उदात्तवता तिङा गतिसमासः (पा. - २।२।१८)"।

पाहि – "सीदैता असदन्त्सुकृतस्य लोके ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञनियम्"[712]। पदपाठ – सीद। एताः। असदन्। सुकृतस्येति सु-कृतस्य। लोके। ताः। विष्णो इति। पाहि। पाहि। यज्ञम्। पाहि। यज्ञपतिमिति यज्ञ-पतिम्। पाहि। माम्। यज्ञनियमिति यज्ञ-नियम्)। प्रस्तुत मंत्र में पाहि क्रिया को तीन बार प्रयुक्त किया है परन्तु स्वर-भेद के कारण यहाँ अर्थ में भिन्नता है। यास्काचार्य उदात्त एवं अनुदात्त की परिभाषा में कहते हैं कि – तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्।[713] मंत्र में प्रथम पाहि क्रिया पूर्ण उदात्त है अन्य में प्रथम वर्णानुदात्त है। अर्थात् मंत्र में प्रथम पाहि क्रिया को प्रधान माना गया है। इसी कारण इसकी यह व्याख्या की गई है – भट्टभास्कर – ताः स्रुचः हे विष्णो सर्वस्य पालक पाहि, यज्ञं पाहि, यज्ञपतिं यजमानं च पाहि, यज्ञनियं यज्ञस्य नेतारं मां च पाहि। सायणाचार्य – ता विष्णो पाहीत्याह। यज्ञो वै विष्णुः। यज्ञस्य धृत्यै। पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञनियमित्याह।

लोट्-लकार -

प्रकृति - प्रत्यय	स्वर
पा+लोट् (सिप्=हि) पा रक्षणे धातु से लोट्	पा अन्तोदात्त, सिप् पित् होने से अनुदात्त परन्तु सिप् के स्थान में अपित् हि अतः आद्युदात्त।

---

707. "शे मुचादीनाम्"। अष्टा. – ७।१।५९ नुमागम, "नश्चाऽपदान्तस्य झलि"। अष्टा. – ८।३।२४ अनुस्वारादेश, "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः"। अष्टा. – ८।४।५७ परसवर्णादेश॥

708. "तुदादिभ्यः शः"। अष्टा. – ३।१।७७॥

709. "झोऽन्तः"। अष्टा. – ७।१।३॥

710. "इतश्च"। अष्टा. – ३।४।१००॥

711. तै.सं. – १।१।१३॥

712. तै.सं. – १।१।११॥

713. नि. - ४।२५ ॥

लकार मध्यमपुरुष एकवचन।	महाभाष्य वचन के अनुसार पर उदात्त शेष, अवशिष्ट अनुदात्त।

पिप्रीषति – "पिप्रीषति स्व आयुंषि दुरोणे विश्वेदस्मै"[714]। पदपाठ - पिप्रीषति। स्वे। आयुंषि। दुरोण इति दुः-ओने। विश्वा। इत्। अस्मै। प्रीणयितुमिच्छति। प्रीञ् तर्पणे धातु से सन् प्रत्यय। सन् प्रत्यय इच्छार्थ में होताहै –[715]। स्वर शास्त्र के अनुसार सन् प्रत्यय में आद्युदातश्च[716] से उदात्तत्व है, तथा प्रीञ् धातु में भी उदात्तत्व है ऐसी स्थिति में पर वाला उदात्त शेष रहता है अन्य को अनुदात्त हो जाता है पुनरपि अभ्यस्तानामादिः[717] सूत्र से अभ्यस्त का आदि उदात्त हुआ। स्वर-शास्त्र के अनुसार सन् प्रत्यय के कारण इच्छार्थ की प्रधानता होनी चाहिए, धातु की नहीं। परन्तु तर्पण क्रिया को नहीं छोड सकते अतः यहाँ धातु की प्रधानता है। ज्ञानयज्ञभाष्य के अनुसार – "न कदापि इमां हत्वा यजमानो भवति" (तै.सं.-१.२.१४)।[718]

मा धत्तं - "सुम्निनी सुम्ने मा धत्तं धुरि"[719]। पदपाठ – सुम्निनी इति। सुम्ने। मा। धत्तम्। धुरि। मंत्र में "मा" का प्रयोग "धत्तम्" के साथ हुआ है। मा की ऐसी स्थिति दो सन्दर्भों में की जा सकती है – (क) "मा" को अस्मद् शब्द का द्वितीया विभक्ति एकवचन का रूप है। अतः मा का अर्थ "माम्" होना चाहिए (ख) यदि "धत्तम्" को लङ् लकार मध्यमपुरुष द्विवचन में माना जाय तो अट् आगम के स्थान पर माङ् का प्रयोग[720] यहाँ माना जाना चाहिए। दोनों ही परिस्थितियों में अन्तर को समझने के लिए स्वर की सहायता ली जाती है – अस्मद् शब्द का द्वितीया विभक्ति एकवचन "मा" अनुदात्त होता है[721] तथा माङ् भी चादिगण में पठित होने के कारण अनुदात्त[722] है। अतः दोनों "मा" व "माङ्" में स्वर समान है। भट्टभास्कर के अनुसार "मा" तथा "धत्तम्" का अर्थ - "हे सुम्निनी सुखयित्र्यौ। मामध्वर्युं सुम्ने धत्तं स्थापयतम्"।

---

[714]. तै.सं. – १।२।१४॥

[715]. "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"। अष्टा. – ३।१।७॥

[716]. अष्टा.- ३।१।३॥

[717]. अष्टा. – ६।१।१८३॥

[718]. तै.सं. – १।२।१४॥

[719]. तै.सं. – १।१।१३, पृ. – १८८॥

[720]. अष्टा. – ६।४।७४॥

[721]. "त्वामौ द्वितीयायाः"। अष्टा. – ८।१।२३॥

[722]. "चादयोऽनुदात्ताः"। फिट्सू. – ४।१६॥

उपसंहार - वेद के अध्ययन के लिए षड् अङ्गों की प्रकल्पना की गई है। जिनमें व्याकरण को प्रधानत्वेन स्वीकार किया गया है। व्याकरण में ही अर्थ-नियमन के लिए स्वर का कथन किया जाता है। स्वर अर्थ-निर्धारण में सहायक होते हैं। जैसे – (क) तृन्-प्रत्यय[723] = "दाता[724]" (देने के स्वभाव वाला) यहाँ तृन्-प्रत्यय तीन अर्थों में है तच्छील – स्वभाव से ही प्रवृत्त होने वाला, बिना फल की आकाङ्क्षा के। तद्धर्म – स्वभाव के बिना भी अपना धर्म समझकर प्रवृत्त होने वाला। तत्साधुकारी – कुशलता से करने वाला। इन अर्थों में तृन् प्रत्यय होता है जो कि नित् (नकार इत् संज्ञक) होने के कारण उसके आदि को उदात्त[725] होता है अर्थात् प्रत्यय से अतिरिक्त उसके पूर्वभाग के आदि को उदात्त विधान है। (ख) तृच्-प्रत्यय[726] = यह प्रत्यय धातु मात्र से होता है जो चित् है। चित्प्रत्ययान्त शब्द को अन्तोदात्त होता है[727]। दोनों ही परिस्थितियों में "दाता" उदाहरण उपयुक्त है। परन्तु तच्छीलादि अर्थों के कारण पृथक् करना अनिवार्य है। अतः स्वर से ज्ञात होता है कि आद्युदात्त तच्छीलादि अर्थ में है, अन्तोदात्त तृच् प्रत्यय में।

ध्यातव्य है कि आचार्य पाणिनि के समय स्वरों का उपयोग वेद तथा लोक दोनों में किया जाता था। "ड्याश्छन्दसि बहुलम्[728]" जैसे अनेक सूत्र जिसका उदाहरण हैं। जो वेद में ङ्यन्त शब्द से उत्तर "नाम्" (षष्ठी विभक्ति बहुवचन) को उदात्त कहता है बहुल करके। बहुल कहने का तात्पर्य कहीं नहीं भी होगा। इससे ज्ञान होता है कि वेद व लोक में समान रूप से स्वरों का अर्थ-निर्धारण हेतु प्रचूर प्रयोग था जो कालान्तर वेद तक सीमित रह गया।

---

723. "तृन्"। अष्टा. – ३।२।१३५॥

724. तै.सं. – ३।३।११॥

725. "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"। अष्टा. – ६।१।१९१॥

726. "ण्वुल्तृचौ"। अष्टा. – ३।१।१३३॥

727. "चितः"। अष्टा. – ६।१।१५७॥

728. अष्टा. – ६।१।१७२॥

तृतीय अध्याय

उपसर्ग एवं निपात की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

तृतीय अध्याय

उपसर्ग एवं निपात की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

आचार्य पाणिनि ने अर्थ के आधार पर पदों का विभाजन नहीं किया है। अपितु आकृति के आधार पर किया है और सुबन्त और तिङन्त इसके दो भेद माने हैं[729], जिनको विभक्ति संज्ञा से अभिहित किया है[730]। इन्हीं को नाम एवं आख्यात कहा जाता है। यास्काचार्य पदों को चार श्रेणियों में विभाजित करते हैं – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।[731] आचार्य भर्तृहरि वाक्यपदीय में आचार्यों के इसी पद-भेद को लेकर मतभेद का उल्लेख करते है, इनके अनुसार केचन आचार्य पद से नाम और आख्यात को स्वीकार करते है, केचन नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को, और कुछ कर्मप्रवचनीय को पञ्चम मानकर पदों की संख्या पाँच मानते हैं।[732]

उपसर्ग तथा निपात के द्योतकत्व व वाचकत्व पर विचार – उपसर्ग व निपात द्योतक हैं अथवा वाचक इत्यादि प्रश्न शास्त्रों में चर्चा के केन्द्रबिन्दु रहे हैं। उपसर्ग तथा निपातों के वाचकत्व एवं द्योतकत्व के विषय में आचार्यों में मतभेद है -

आचार्य कौण्डभट्ट के अनुसार नैयायिक निपातों को अर्थ का वाचक (अर्थ=वाच्य को बताने वाला) एवं उपसर्गों को अर्थ का द्योतक (किसी को प्रकाशित करने वाला) मानते हैं। जबकि नवीन वैयाकरण दोनों को ही अर्थ का द्योतक मानते हैं।[733] आचार्य कौण्डभट्ट के अनुसार नैयायिकों का मत है कि प्रादि द्योतक (धातु के अर्थ के प्रकाशक) है और चादि वाचक (अपने ही अर्थ के प्रकाशक) हैं, जो उचित नहीं है। क्योंकि जिस कारण से प्रादि शब्द द्योतक हैं उसी कारण से चादि निपात भी द्योतक हैं। उदाहरणस्वरूप बैठना अर्थ की धातु "आस उपवेशने" अकर्मक है फिर भी *"हरिहरौ उपास्येते"* इस वाक्य में उप प्रादि के संयोग से उपासना अर्थ की प्रतीति होती है तथा कर्मवाच्य में लकार है।[734]

आचार्य कौण्डभट्ट इस सिद्धान्त की स्पष्टता तीन प्रकार से करते हैं[735] यथा – *ईश्वरमनुभवति* (ईश्वर का अनुभव करता है) इस वाक्य में –

---

729. "सुप्तिङन्तं पदम्"। अष्टा. – १।४।१४॥

730. "विभक्तिश्च"। अष्टा.-१।४।१०३॥

731. "चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति"। नि. - १।१॥

732. "द्विधा, केचित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्"॥ वा.प. - ३।१॥

733. "प्रादयो द्योतकाश्चादयो वाचकाः, इति नैयायिकमतमयुक्तम्, वैषम्ये बीजाभावादिति ध्वनयन्निपातानां द्योतकत्वं समर्थयते"। वै.भू.सा. – अथ निपातार्थनिर्णयः, पृ. – ३००॥

734. "द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा।
'उपास्येते हरिहरौ' लकारो दृश्यते यथा"॥ वै.भू.सा. –निपातार्थनिर्णयः, पृ. ३००॥

735. "अयं भावः – 'ईश्वरमनुभवति' इत्यादावनुभवादि प्रतीयमानो न धात्वर्थः, 'भवति' इत्यत्राप्यापत्तेः। नोपसर्गार्थः, तथा सत्यप्रकृत्यर्थतया तत्राख्यातार्थनन्वयापत्तेः, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः, 'अनुगच्छति' इत्यादौ अनुभवादिप्रत्ययापत्तेश्च। न विशिष्टार्थः गौरवात्। तथा च धातोरेव विद्यमानत्वादिवाचकस्यास्तु लक्षणा, उपसर्गस्तात्पर्यग्राहक इत्यस्तु। तथा च तात्पर्यग्राहकत्वमेव द्योतकत्वमिति"। वै.भू.सा. – निपातार्थनिर्णयः, पृ. – ३००॥

१. इस वाक्य में जो अनुभव का अर्थ ज्ञात है वह धातु का नहीं है क्योंकि यदि धातु का है तो भवति में भी भू धातु है उससे भी होना चाहिए।
२. यह अनुभव का अर्थ उपसर्ग का है ऐसा भी नहीं है यदि उपसर्ग का अर्थ मान लिया जाय तो प्रकृति का अर्थ ही नहीं बचेगा अतः उसमें आख्यात के अर्थ का सम्बन्ध नहीं होगा। क्योंकि प्रत्यय प्रकृति के अर्थ से सम्बद्ध होकर अपने अर्थ का बोध कराते हैं एवं अनु मात्र के होने से अनुभव अर्थ की प्रतीति होने लगेगी।
३. अनुभवति में अनु उपसर्ग और भू धातु का मिला – जुला अर्थ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों का अर्थ मानने पर गौरव होगा। अतः यहाँ भू धातु सत्ता अर्थ की वाचक है जिसकी अनुभव अर्थ में लक्षणा है और अनु उपसर्ग तात्पर्यग्राहक है। इस प्रकार तात्पर्यग्राहकत्व ही द्योतकत्व है।

इसी प्रकार निपातों को भी समझना चाहिए। यथा – *चैत्रमिव पश्यति* (चैत्र जैसा देखता है) यहाँ पर चैत्र पद का लक्ष्य अर्थ है – सादृश्यविशिष्ट, इसमें इव शब्द तात्पर्यग्राहक है। आचार्य कौण्डभट्ट एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते है – *उपास्येते हरिहरौ*। इसकी सिद्धि में भी तीन मत दिये गए हैं[736] -

१. उपसर्ग का उपासना अर्थ नहीं है, यदि है तो – "स्व = धातु के अर्थ फल से भिन्न स्थान में स्थित (व्यधिकरण) जो व्यापार, उसका वाचक धातु सकर्मक है' यह सकर्मक का लक्षण, आस- धातु में नहीं जायेगा, क्योंकि उसमें उपासना रूप फल वाचकता का अभाव है, जिससे कर्मवाच्य लकार भी उप् आस् से नहीं आयेगा।
२. धातु और उपसर्ग दोनों का उपासना अर्थ है' यह भी मान्य नहीं है क्योंकि – वाचकता का भार (गौरव) दोनों पर बढ जायेगा।
३. धातु का ही वाच्य है, इसे मान लेने पर द्योतकत्व उपसर्ग में आ गया। इससे उप तात्पर्यग्राहक है, यह अर्थ निकल आया।

उपर्युक्त उपसर्ग की द्योतकता सिद्ध करने के पश्चात् आचार्य कौण्डभट्ट निपात के विषय में कहते हैं कि निपात भी द्योतक माने जाने चाहिए – यदि *"उपास्येते हरिहरौ"* इस वाक्य में 'उप' के वाचक रहने पर भी लकार कर्म का वाचक हो सकता है तो निपात के वाचक रहने पर भी कर्मवाचक लकार आ सकता है और जैसे विशेषण का सम्बन्ध प्रादि में नहीं होता, उसी तरह चादि में भी नहीं होगा। अतः प्रादि और चादि में समान स्थिति को देखते हुए दोनों को एक श्रेणी में रखना उचित है।[737]

आचार्य नागेश निपात तथा उपसर्ग दोनों को अर्थ के द्योतक मानते हैं। जिसकी व्याख्या में उन्होंने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं – *अनुभूयते सुखम्* और *साक्षात् क्रियते गुरुः*। इन वाक्यों में अनुभव तथा साक्षात्कार रूप "फल" को यदि क्रमशः भू-धातु एवं कृ-धातु का ही अर्थ मानते हैं तब तो ये दोनों धातु सकर्मक बन सकती है, अन्यथा अनु-उपसर्ग तथा साक्षात्-निपात का अर्थ मानने पर तो उक्त प्रयोगों में सुख और गुरु शब्दों की कर्म संज्ञा भी नहीं बन सकती, क्योंकि धात्वर्थरूप फल के आश्रय की ही कर्म-संज्ञा मानी गई है, निपातार्थरूप फल के आश्रय की नहीं।[738] पुनः सकर्मकत्व को परिभाषित करते हुए नागेशभट्ट कहते

---

[736]. वै.भू.सा. – निपातार्थनिर्णयः, सुबोधिनी व्याख्या, पृ. -३०१॥

[737]. "तथाऽन्यत्र निपातेऽपि लकारः कर्मवाचकः।
विशेषणाद्ययोगोऽपि प्रादिवच्चादिके समः॥ वै.भू.सा. – निपातार्थनिर्णयः, सुबोधिनी-व्याख्या, पृ.३०२॥

[738]. "अनुभूयते सुखम्, साक्षात्क्रियते गुरुः इत्यादौ निपातानां द्योतकत्वेन अनुभव-साक्षात्कार-रूप-फलयोः धात्वर्थत्वेन सकर्मकत्वम्"। प.ल.म. – निपातार्थनिर्णयः, पृ. – १८५॥

हैं। व्याकरण-शास्त्रीय कर्म संज्ञक अर्थ से अन्वित होने वाले अर्थ की बोधक धातुएँ सकर्मक हैं[739]। इस प्रकार निपातों को अर्थ का द्योतक मानना चाहिए क्योंकि फल का आश्रय होने के कारण, कर्म संज्ञक शब्द का धातु के अर्थभूत फल में ही अन्वय होना चाहिए। द्योतकत्व से नागेशभट्ट ने तीन अभिप्राय स्वीकार किए हैं –

१. *"स्व-समभिव्याहृत-पद-निष्ठ-वृत्त्युद्-बोधकत्वम्"* अर्थात् निपात के साथ अव्यवहित रूप उच्चरित या लिखित धातु में विद्यमान वाच्य अर्थ को कहने वाली शक्ति का ज्ञान कराना, जैसे – *"साक्षात्क्रियते गुरुः"* यहाँ "साक्षात्" इस निपात के साथ उच्चरित कृ-धातु में विद्यमान, दर्शन करना रूप अर्थ का बोध कराना। यहाँ स्व का अभिप्राय द्योतकरूप से अभिमत साक्षात् आदि निपात पद या अनु आदि उपसर्ग पद है। उसके साथ समभिव्याहृत=समुच्चरित पद हैं कृ एवं भू आदि धातुएँ। उनमें रहने वाली वृत्ति अर्थात्=दर्शन करना तथा अनुभव करना आदि अर्थों को, वाच्यार्थ के रूप में, कहने वाली शक्ति। इस वृत्ति अथवा शक्ति का बोध कराना ही निपातों की द्योतकता का अभिप्राय है।[740]

२. दूसरा अभिप्राय यह है कि किसी विशिष्ट क्रिया का अनुमान या आक्षेप करना, जैसे – *"प्रादेशं विलिखति"* (प्रादेश पर्यन्त भाग को नापकर वहाँ चित्र बनाता है) यहाँ प्रादेशं में प्रयुक्त द्वितीयाविभक्ति का लिखति के साथ कोई सम्बन्ध न बनने के कारण वि उपसर्ग को नापने की क्रिया का अनुमापक माना गया क्योंकि "प्रादेश पर्यन्त भाग को नाप कर वहाँ चित्र बनाता है" यह प्रादेशं विलिखति का अभिप्राय है। इन स्थलों में द्योतकता के प्रथम अर्थ से कार्य नहीं चल सकता क्योंकि यहाँ नापना अर्थ लिख् धातु के वाच्य अर्थों में नहीं है। इस दूसरे अभिप्राय के आधार पर हि महाभाष्य के पस्पशाह्निक में *"अथ शब्दानुशासनम्"* की व्याख्या में प्रदीपकार कैय्यट ने "अथ" इस निपात शब्द को आरम्भ करना रूप क्रिया का आक्षेप करने वाला बताया है।[741]

३. तृतीय अभिप्राय है सम्बन्ध-विशेष का निश्चायक होना, जैसे – *जपमनु प्रावर्षत्* (जप के बाद वर्षा हुई)। यहाँ अनु निपात जप तथा वर्षण क्रिया का पूर्वापर सम्बन्ध बताता है, अर्थात् पहले जप हुआ तथा उसके बाद वर्षा हुई इस बात का ज्ञान अनु से होता है। ऊपर द्योतकता के जिन दो अर्थो का निर्देश किया गया है उनसे यहाँ काम नहीं चल सकता। *"कर्मप्रवचनीयाः"(अष्टा. – १।४।८३)* सूत्र के अधिकार में पाणिनि ने जिन निपातों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा मानी है वे सभी इसी प्रकार के सम्बन्ध विशेष के निर्णायक हैं। कर्मप्रवचनीय शब्द का अर्थ भी यही है। भर्तृहरि ने भी इन कर्मप्रवचनीय संज्ञक शब्दों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा भी है – *क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः। नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥वा.प. – २।१०६॥*[742]

उपर्युक्त उदाहरणों के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि अनुभू तथा साक्षात्कृ इन दोनों को ही धातु मान लिया जाय तो निपातों की द्योतकता तथा वाचकता की समस्या का समाधान हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में दो युक्ति दी गई हैं – (क) अनुभू आदि में पाणिनि ने पूरे समुदाय कि धातु संज्ञा नहीं की है जिसमें

---

[739]. "कर्म-संज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वम् सकर्मकत्वम्"। प.ल.म.– निपातार्थनिर्णयः, पृ. – १८५॥

[740]. प.ल.म. – निपातार्थनिर्णयः, पृ. – १८७॥

[741]. "क्वचित्तु क्रिया-विशेषाक्षेपकत्वं द्योतकत्वम्। यथा – प्रादेशं विलिखति इत्यादौ विः विमान- क्रियाऽऽक्षेपकः "प्रादेशं विमाय लिखति" इत्यर्थावगमात्। अत एव "अथ शब्दानुशासनम् (म.भा. -१, पृ.४) इत्यत्र "अथ शब्दस्य प्रारम्भ-क्रियाऽऽक्शेपकत्वम्" कैय्यटाद्युक्तं संगच्छते"। प.ल.म. – निपातार्थनिर्णयः, कपिलदेव शास्त्री - हिन्दी व्याख्या सहित पृ. – १८७-८८॥

[742]. "क्वचित्तु सम्बन्ध-परिच्छेदकत्वं द्योतकत्वम्। यथा – कर्मप्रवचनीयानाम्।" प.ल.म. – निपातार्थनिर्णयः, कपिलदेव शास्त्री – हिन्दीव्याख्या सहित पृ. – १८८॥

"भूवादयो धातवः" (अष्टा. – १।३।१) प्रमाण है। (ख) अनुभू आदि को धातु मान लेने से दोष आयेगा – अट्, आट् का आगम उपसर्ग या निपात के बाद आते है, लिट् में धातु को द्वित्व करते समय उपसर्ग आदि के आधार पर अनजादि धातुएँ भी अजादि हो जायेंगी जिससे अनभीष्ट "द्वितीय एकाच्" अथवा "प्रथम एकाच्" को *"अजादेर्द्वितीयस्य" (अष्टा. – ६।१।१)* तथा *"एकाचो द्वे प्रथमस्य"(अष्टा. – ६।१।२)* के अनुसार द्वित्व करना पडेगा। अतः निपात और उपसर्ग से युक्त धातु की धातु संज्ञा नहीं मानी जा सकती।[743]

"उपसर्ग अर्थ के द्योतक हैं" – इस सिद्धान्त को नागेशभट्ट "प्रतिष्ठते" उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं। यहाँ स्था धातु का अर्थ गतिनिवृत्ति अथवा गतिरहितता होता है। अतः तिष्ठति का अर्थ है – गतिरहित होकर ठहरना, परन्तु प्रतिष्ठते का अर्थ है – प्रस्थान करना। इस प्रकार दोनों में अन्तर है तथा इसी आधार पर कहा जा सकता है कि प्र उपसर्ग का अर्थ है गमन। परन्तु नागेश भट्ट कहते हैं कि धातुएँ अनेकार्थक होती हैं इसी कारण गति अर्थ का वाचक स्था-धातु ही है। प्र शब्द तो उस स्था-धातु के अर्थ – गति का आरम्भ – का द्योतक है। इसीलिए (उपसर्गों के अर्थ-द्योतक होने के कारण) *"धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चात् उपसर्गेण"* (धातु पहले साधन से युक्त होती हैं उसके बाद उपसर्ग से) यह सिद्धान्त बनाया गया। साधन का अभिप्राय है "कारक" अर्थात् उस कारक से प्रयुक्त कार्य लट् आदि। उपसर्गेण इस पद का अभिप्राय है उपसर्ग संज्ञा वाले प्र परा आदि शब्द।[744]

इस प्रसङ्ग में महाभाष्य में कहा गया है कि "पहले धातु उपसर्ग से युक्त होती है बाद में कारक से"। यह सत्य नहीं है। धातु पहले साधन से युक्त होती है बाद में उपसर्ग से क्योंकि कारक स्व प्रयुक्त लट् आदि के द्वारा क्रिया को बनाता है उसका साध्य रूप में बोध कराता है। उस साध्य रूप से ज्ञात क्रिया को उपसर्ग अपने द्योत्य अर्थ के द्वारा विशेष अर्थ से युक्त करता है। अभिनिष्पन्न अर्थ की विशेषता को ही उपसर्ग के द्वारा कहा जा सकता है। इसी रूप में यह बात सत्य है। परन्तु वह जो धातु तथा उपसर्ग का बाद में होने वाला अभिसम्बन्ध है उसको अपने अन्दर समाविष्ट कर के उस अर्थ को प्रकट करते हुए धातु कारकों से युक्त होती है। इस बात को इसी रूप में अवश्य मानना चाहिए क्योंकि जो यह मानता है कि पहले धातु उपसर्ग के सम्बन्ध से द्योत्य – अर्थ को अपने अन्दर समाविष्ट किये बिना ही साधन (कारक) से युक्त होती है बाद में उपसर्ग से धातु का सम्बन्ध होता है और तब उपसर्ग विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, उसके मत में "आस्यते गुरुणा" यह अकर्मक प्रयोग "उपास्यते गुरुः" गुरु की उपासना या पूजा की जाती है, इस रूप में सकर्मक कैसे?[745]

वैयाकरण क्रियावाचक भू आदि की धातु संज्ञा मानते है परन्तु यह भी सिद्धान्त है कि धातुओं में क्रियावाचकता कारकों के सम्बन्ध के पश्चात् ही आती है – *"साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति (म.भा.६।१।१३५)"।* यहाँ यह प्रश्न होता है कि कारकों के सम्बन्ध के बिना धातुओं की धातु संज्ञा क्यों हो

---

[743]. "विशिष्टस्य तु न धातुत्वम्, अपाठात्, अडाद्यव्यवस्थापत्तेश्च"। प.ल.म. – निपातार्थनिर्णयः, पृ. – १८७॥

[744]. "प्रतिष्ठते इत्यत्र तिष्ठति एव गतिवाची धातूनाम् अनेकार्थत्वात्। प्र-शब्दस्तु तदर्थगत्यादित्वस्य द्योतकः। अतएव धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते पश्चात् उपसर्गेण इति सिद्धान्तितम्। (साधनेन) साधनं कारकम्- तत्प्रयुक्त-कार्येण। उपसर्गेण-उपसर्गसंज्ञकशब्देन"। प.ल.म. – निपातार्थनिर्णयः, पृ.-१९९-२०० कपिलदेव शास्त्री व्याख्या।

[745]. "तत्र हि भाष्ये (६.१.१३५) – पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन इति। नैतत् सारम्। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चात् उपसर्गेण साधनं हि क्रिया निर्वर्तयति। ताम् उपसर्गो विशिनष्टि। (अभिनिर्वृत्तस्य चार्थस्य उपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुम्)। सत्यम् एवम् एतत्। यस्त्वसौ धातूपसर्गयोर् अभिसम्बन्धस्तम् अभ्यन्तरं कृत्वा धातुः साधनेन युज्यते। अवश्यं चैतद् एवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यते पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चाद् उपसर्गेण इति तस्य 'आस्यते गुरुणा' इत्यकर्मकः, 'उपास्यते गुरुः' इति केन सकर्मकः स्यात् इति"। प.ल.म. – निपातार्थनिर्णयः, पृ. – १९९-२००, कपिलदेवशास्त्री व्याख्या॥

जाती है? उत्तर में कहा गया है कि भविष्य में होने वाले कारक-सम्बन्ध के आधार पर धातु संज्ञा मान ली जाती है। दूसरे शब्दों कारकों का सम्बन्ध बौद्धिस्थ मान लिया जाता है। इसी प्रकार इच्छ् धातु को सन् प्रत्यय के साथ कर्म मानने की बात कही गई है *(धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा – अष्टा. – ३।१।७)* परन्तु सन्- प्रत्यय होने से पूर्व ही इच्छ् को कर्मभूत मान किया जाता है इसका कारण भी अर्थ की दृष्टि से पहले ही विद्यमान इष् के बौद्धिक सम्बन्ध के आधार पर पठ् आदि धातुओं को इष् धातु का कर्म मान लिया जाता है *(पठितुमिच्छति = पिपठिषति)।*[746]

इसी आधार पर कहा जा सकता है कि धातु तथा उपसर्ग का भी बौद्धिक अभिसम्बन्ध पहले उपस्थित होता है। परन्तु उस बौद्धिक सम्बन्ध के आधार पर वक्ता की बुद्धि में विद्यमान रहने वाला विशिष्ट धात्वर्थ उस समय प्रकट होता है, जब वक्ता उपसर्ग से युक्त धातु का प्रयोग करता है।[747]

३.१.पाणिनि-प्रोक्त उपसर्ग-मीमांसा -

उप उपसर्ग पूर्वक सृज् धातु से घञ् प्रत्यय करके "उपसर्ग" शब्द सिद्ध होता है। आचार्य पाणिनि उपसर्गों का व्याख्यान निपात संज्ञा[748] के अन्तर्गत करते हैं। आचार्य पाणिनि के अनुसार प्रादिगण में पठित शब्दों की निपात संज्ञा होती है तथा क्रिया के साथ प्रयुक्त होने पर उनकी उपसर्गसंज्ञा होती हैं।[749] इन प्रादियों की ही क्रिया के योग में गति और उपसर्ग संज्ञा भी होती है।[750] तथा कुछ विशेष अर्थों में उपसर्गों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा भी होती है।[751] इन गति एवं उपसर्ग संज्ञकों का प्रयोग धातु से पूर्व होता है। तद्यथा – प्रणयति।[752] वेद विषय में वे गति-उपसर्गसंज्ञक शब्द धातु से परे तथा पूर्व में भी आते हैं क्रमशः जैसे – *पत्याऽहं गच्छे समात्मा तनुवा मम (तै.सं. – १।१।१०), वि रोह सहस्रवल्शा (तै.सं. – १।१।२) ।*[753] वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द वेद में व्यवधान से भी देखे जाते हैं, जैसे – *वि वयं रुहेम (तै.सं.१।१।२)*[754] वार्तिककार के मत में भी उपसर्ग संज्ञा के लिए प्र, परादि का क्रिया के साथ योग होना आवश्यक होता है।[755] इस कारण *"विसेचको ग्रामः= विगताः सेचकाः यस्मात् स विसेचको ग्रामः"* उदाहरण में ***"उपसर्गात्***

---

[746]. "धातोः साधनयोगस्य भाविनः प्रक्रमाद् यथा।
धातुत्वं कर्मभावश्च तथान्यदपि दृश्यताम्"॥ वा.प. – २।१८६॥
"बुद्धिस्थाद् अभिसम्बन्धात्तथा धातूपसर्गयोः।
अभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाशते"॥ वा.प. – २।१८८॥

[747]. "अस्यार्थः – यथा भावि-साधन-सम्बन्धाश्रयणेन क्रियावाचिकत्वम् आश्रित्य धातुसंज्ञा उच्यते, यथा च सन्प्रत्यये चिकीर्षते भावि इषिकर्मत्वम् आश्रित्य उपक्रमे एव इषिकर्मत्वम् उक्तम् तथा भाव्युपसर्ग-सम्बन्धाद् उपक्रमे एव विशिष्टक्रियावाचकत्वं दृश्यताम्। धातूपसर्गयोः सम्बन्धं बुद्धिविषयी-कृत्य उपसर्गार्थकृतो विशेषो धातुनैव अभ्यन्तरीकृतः पदप्रयोग-काले उपसर्गसम्बन्धे सति प्रकाशते। श्रोतुः इति शेषः। उपसर्ग-योगात् प्रागेव धातुनैव उपसर्गार्थविशिष्टः स्वार्थ उच्यते इति तात्पर्यम्। पूर्वं धातुरुपसर्गेण. इति तु तदर्थस्य धात्वर्थान्तर्भावाद् व्यवहारः"।
प.ल.म. –निपातार्थनिर्णयः, पृ. २०४॥

[748]. "प्राग्रीश्वरान्निपाताः"। अष्टा. - १।४।५६-९७॥

[749]. "प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे"। अष्टा. १।४।५९॥

[750]. "गतिश्च"। अष्टा. – १।४।५९॥

[751]. "कर्मप्रवचनीयाः"। अष्टा. – १।४।८२-९७॥

[752]. "ते प्राग्धातोः"। अष्टा. - १।४।७९॥

[753]. "छन्दसि परेऽपि"। अष्टा. – १।४।८०॥

[754]. "व्यवहिताश्च"। अष्टा. – १।४।८१॥

[755]. "गत्युपसर्गसंज्ञाः क्रियायोगे यत् क्रियायुक्ताः तं प्रतीतिवचनम्"। म.भा. – १।४।६०॥

सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्झस्वञ्झाम्"[756] सूत्र से षत्व नहीं हुआ, जिसका कारण वि-उपसर्ग का सिच्-धातु के प्रति सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है।

३.१.१.उपसर्गों की संख्या -

वैदिक काल से ही उपसर्गों का प्रयोग होता रहा है परन्तु इनकी संख्या सदैव अनिश्चित बनी रही है। आचार्य पाणिनि ने प्रादि-गण में उपसर्गों की संख्या द्वाविंशति है मानी है[757] – प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि और उप। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य इनकी संख्या मात्र दश मानता है[758]। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में उपसर्गों की संख्या विंशति बताई गई है - *प्राभ्यापरानिदुरनुव्युपापसम्परिप्रतिन्यत्यधिसूदावापि*[759]। इसी क्रम में बृहद्देवता का उपसर्ग के विषय में मन्तव्य है कि इनकी संख्या विंशति है - प्र अभि आ परा निर् दुर् अनु वि उप अप सम् परि प्रति नि अति अधि सु उद् अव अप तथा ये नाम और आख्यात के साथ अर्थ के बोधक होते हैं[760]। श्रृङ्गारप्रकाश में राजा भोजराज उपसर्गों की संख्या पञ्चविंशति स्वीकार करते हुए दो कारिकाओं में इनका वर्णन करते हैं – *प्रपरासमन्वनिर्दव्याङ् न्यधयोप्यतिसूदभयश्च। प्रतिन सह लक्षयितव्याः पर्युपयोरपि लक्षणमत्र॥ वृष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। हितादिषु समोम्लोप पाठञ्चात्र श्रदन्तरी॥*[761]

३.१.२.निरुक्त के अनुसार उपसर्ग-निरूपण –

आचार्य यास्क उपसर्ग के अर्थ निर्धारण के सम्बन्ध में दो आचार्यों के मतों का व्याख्यान करते है, जिनमें आचार्य शाकटायन के अनुसार नाम व आख्यात से पृथक् उपसर्ग का कोई अर्थ नहीं है जैसे वर्ण यदि पद से अलग हो जाय तो वह अर्थ देने में असमर्थ होता है वैसे ही उपसर्ग भी नाम व आख्यात से पृथक् होकर अर्थ देने में असमर्थ है। अतः उपसर्ग आख्यात व नाम का द्योतन करते हैं अतः द्योतक मात्र हैं। जबकि आचार्य गार्ग्य का मानना है कि उपसर्ग आख्यात व नाम से पृथक् होकर भी उच्चावच आदि अनेक अर्थों में होते हैं अतः ये वाचक हैं। वाचकता के सन्दर्भ में आचार्य यास्क प्रत्येक उपसर्ग के अर्थ को निम्न प्रकार से कहते है[762] -

उपसर्ग	**अर्थ**	**प्रयोग**
आ	इति अर्वागर्थे	आपर्वतादिति
प्र, परा	प्रातिलोम्यम्	प्रगतः, परागतः
अभि	आभिमुख्यम्	अभिगच्छति

---

[756]. अष्टा. – ८।३।६५॥

[757]. ग.पा. – १।४।५४॥

[758]. तै.प्रा. – १।१।१५॥

[759]. ऋ.प्रा. – १२।२०॥

[760]. "उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः।
विवेचयन्ति तेह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु"॥ बृ.दे. – २।९४॥

[761]. श्रृं.प्र. – पृ.२७॥

[762]. "न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोग-द्योतका भवन्ति इति। उच्चावचाः पदार्थाः भवन्तीति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं, नामाख्यातयोरर्थविकरणम्, आ इत्यर्वागर्थे। प्र-परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्याभिमुख्यम्। .....एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुस्ते उपेक्षितव्याः"। नि. – अ.१, पा.१, खं.२, पृ. -३१-३३॥

प्रति	प्रातिलोम्यम्	प्रतिगच्छति
अति, सु	अभिपूजितार्थे	अतिधनः, सुब्राह्मणः
निर्, दुर्	प्रातिलोम्यम्	निर्धनः, दुर्ब्राह्मणः
नि, अव	विनिग्रहार्थीयौ	निगृह्णाति
उद्	प्रातिलोम्यम्	उद्गृह्णाति
सम्	एकीभावः	संगृह्णाति
वि, अप	प्रातिलोम्यम्	विगृह्णाति
अपि	संसर्गम्	सर्पिषोऽपि स्यात्
उप	उपजनम्	उपजायते
परि	सर्वतोभावम्	परिपूर्णः
अधि	उपरिभावमैश्वर्यं वा	अधितिष्ठति, अधीश्वर
अनु	सादृश्यापरभावम्	अनुगच्छति

३.१.३.उपसर्गों के संयोग से धातुओं का सकर्मकत्व और अकर्मकत्व –

पाणिनि धातु-पाठ में पठित धातुएँ दो प्रकार की हैं – सकर्मक और अकर्मक।[763] वैयाकरण मानते हैं कि धातु की शक्ति फल और व्यापार में होती है और तिङ् से इनके (फल व व्यापार के) दो आश्रयों (फलाश्रय और व्यापाराश्रय) को परिभाषित किया जाता है। इन आश्रयों से ही सकर्मकत्व एवं अकर्मकत्व का ज्ञान होता है। जब व्यापार और फल का आश्रय एक ही होता है तो धातु अकर्मक कहलाती है जैसे – *शेते,* यहाँ शयन में व्यापार व फल का आश्रय एक है। परन्तु जब फल का आश्रय व्यापाराश्रय से भिन्न होता है जैसे – *रामः फलं खादति*, यहाँ खादन क्रिया का व्यापार राम में स्थित है तथा उसका फल गलविलाध संयोग फल में स्थित है अतः फल और व्यापार भिन्न होने के कारण खाद् धातु सकर्मक कहलाती है। वस्तुतः सकर्मकता और अकर्मकता उसके आश्रय में भेद और अभेद पर आधारित है। व्यापाराश्रय से भिन्न किसी वस्तु या व्यक्ति में जिस धातु का फल रहता है उसे सकर्मक कहते है तथा व्यापाराश्रय तथा फलाश्रय में अभेद की स्थिति अकर्मक है *"सकर्मकत्वञ्च फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्, फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम्"*[764]।

लोक और वेद में सकर्मक और अकर्मक धातुओं का उपसर्ग के साथ संयोग होने पर परस्पर परिवर्तन हो जाता है अर्थात् उपसर्ग के संयोग में सकर्मक धातु अकर्मक तथा अकर्मक धातु सकर्मक हो जाती है। उदाहरणस्वरूप –

---

[763]. "लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥ ल.सि.कौ. – हिन्दी-व्याख्या॥

[764]. प.ल.म. – धात्वर्थ-निरुपण ॥

- अधि पूर्वक शीङ् स्वप्ने - ग्राममधिशेते, अधि पूर्वक स्था गतिनिवृत्तौ - ग्राममधितिष्ठति, अधि पूर्वक आस उपवेशने - ग्राममधितिष्ठति[765]।
- उप पूर्वक वस निवासे धातु - *ग्राममुपवसति*, अनु पूर्वक वस निवासे धातु - *ग्राममनुवसति* , अधि पूर्वक वस निवासे धातु - *ग्राममधिवसति*, आङ् पूर्वक वस निवासे – *ग्राममावसति*[766]।
- क्रुध् व द्रुह् धातु किसी पर क्रोध करने के सन्दर्भ में सम्प्रदान कारक में होती हैं परन्तु उपसर्ग से युक्त होने पर ये जिसके प्रति कोप किया जाये, उस कारक में कर्म संज्ञक होती है, जैसे – देवदत्तमधिक्रुध्यति।[767]
- अधि पूर्वक शीङ् स्था आस् इन का आधार जो कारक उसकी कर्म संज्ञा होती है, जैसे – ग्राममधिशेते।[768]
- अभि नि पूर्वक विश् का जो आधार, उस कारक की भी कर्म संज्ञा होती है, जैसे – ग्राममभिनिविशते।[769]
- उप अनु अधि और आङ् पूर्वक वस् का जो आधार, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है, जैसे – ग्राममुपवसति।[770]उपर्युक्त सभी प्रसङ्गों में उपसर्ग के कारण कर्म – संज्ञा हुई है जिसके कारण कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।[771]
- इनके अतिरिक्त भी अनेक धातुएँ हैं सोपसर्ग होने पर सकर्मक हो जाती हैं, जैसे - अनु पूर्वक शीङ् अनुताप अर्थ में सकर्मक होती है जिसका उदाहरण शिशुपाल में प्राप्त होता है – *"दत्तमिष्टमपि नान्वशेतसः"[772]।*
- वृतु वर्तने धातु अकर्मक है किन्तु अनु उपसर्ग के साथ वह भी सकर्मक बन जाती है, जिसका उदाहरण श्रीमद्भगवद्गीता में प्राप्त है – *"मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः"[773]।*
- भा दीप्तौ धातु भी अकर्मक है किन्तु सोपसर्ग होने से सकर्मक बन जाती है जैसे – *"यं यं लोकं मनसा सम्विभाति"[774]* (यहाँ संकल्प का अर्थ में है)। इत्यादि अकर्मक धातुएँ उपसर्गों के साथ सकर्मक होती हैं।

परन्तु ध्यातव्य है कि कहीं कहीं अर्थ भेद के कारण भी सकर्मक तथा अकर्मक होता है। उदाहरणस्वरूप - *"सवासा जलमाप्लुत्य[775]"* यहाँ आङ् पूर्वक प्लुङ् गतौ धातु निमज्जन अर्थ में सकर्मक है, अन्यत्र उदाहरण – *"गङ्गायामाप्लुतः शुचिः[776]"* में अकर्मक है।

---

765. "अधिशीङ्स्थासां कर्म"। अष्टा. – १।४।४६॥
766. "उपान्वध्याङ्वसः"। अष्टा. – १।४।४८॥
767. "क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म"। अष्टा. – १।४।३८॥
768. "अधिशीङ्स्थासां कर्म"। अष्टा. – १।४।४६॥
769. "अभिनिविशश्च"। अष्टा. – १।४।४७॥
770. "उपान्वध्याङ्वसः"। अष्टा. – १।४।४८॥
771. "कर्मणि द्वितीया"। अष्टा. – २।३।२॥
772. शिशु.व.-१४।४५॥
773. श्रीमद्.गी. – ४।११॥
774. मु.उ. - ३।१।१०॥
775. मनु. – ५।७७॥
776. महा. वनपर्व – ४२।२०॥

प्रादि उपसर्गों के योग से धातु विभिन्नार्थक भी बनती है यथा – प्रयासाय,आयासाय, वियासाय, संयासाय इत्यादि इन शब्दों की व्याख्या में आचार्य भट्टभास्कर कहते है – "*प्रयासः प्रकृष्टो यासः क्रिया यागादि। आयासः शास्त्रपूर्वः प्रयासः अर्थार्जनादिः। वियासः विविधो व्यापारः हसितकण्डूयितादिः। संयासः समीचीनप्रयत्नः परोपकारादिः .....*[777]। इस विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है – उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहार संहार विहार परिहारवत्[778]॥

३.१.४.क्रिया में उपसर्ग के कारण णत्व-विधि –

रेफ एवं षकार जिन उपसर्गों (प्र, परा, निर्, दुर्, परि) में स्थित हैं उनसे उत्तर नकार को णकार आदेश होता है, अट् (अ,इ,उ,ऋ,ऌ,ए,ओ,ऐ,औ,ह,य,व,र), कवर्ग (क,ख,ग,घ,ङ,), पवर्ग (प,फ,ब,भ,म), आङ् और नुम् के व्यवधान होने पर भी[779]। इसके अतिरिक्त भी उपसर्ग में स्थित निमित्त रेफ व षकार से उत्तर नकार को णकार होता है -

णोपदेश धातु के नकार को असमास में तथा समास में – *प्रणमति, परिणमति।*[780] हिनु (हि गतौ धातु से श्नु प्रत्यय) तथा मीना (मीञ् हिंसायाम् धातु से श्ना प्रत्यय) के नकार को – *प्रहिणोति, प्रहिणुतः। प्रमीणाति, प्रमीणीतः।*[781] लोडादेश जो आनि उसके नकार को – *प्रवपाणि।*[782] नि के नकार को यदि गद, नद, पत आदि धातुएँ परे हो तो – *प्रणिपतति, प्रणिपद्यते, प्रणिददाति, प्रणिदधाति, प्रणिमयते।*[783] जो धातु उपदेश में ककार तथा खकार आदिवाली न हो तथा षकारान्त भी न हो तो उसके परे रहते नि के नकार को विकल्प से – *प्रणिपचति, प्रनिपचति।*[784] अभ्याससहित अन धातु के दोनों नकारों को (अभ्यास एवं उससे उत्तर के नकार को) – *प्राणिणिषति, प्राणिणत्।*[785] अकार पूर्व है जिससे ऐसे हन् धातु के नकार को – *प्रहण्यते, परिहण्यते।*[786] अकार पूर्व वाले हन् धातु के नकार को विकल्प से व तथा म परे रहते – *प्रहण्वः, प्रहन्वः।*[787]

---

777. "प्रयासाय स्वाहाऽऽयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहा संयासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहाऽवयासाय स्वाहा.....". तै.सं. – १।४।३५॥
778. र.अ.कौ. – कपिलदेव द्विवेदी, पृ.४२॥
779. "रषाभ्यां नो णः समानपदे". अष्टा. – ८।४।१॥ "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि". अष्टा. – ८।४।२॥
780. "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य". अष्टा. – ८।४।१४॥
781. "हिनुमीना". अष्टा. – ८।४।१५॥
782. "आनि लोट्". अष्टा. – ८।४।१६॥
783. "नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवाति.....चिनोतिदेग्धिषु च". अष्टा. – ८।४।१७॥
784. "शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे". अष्टा. – ८।४।१८॥
785. "उभौ साभ्यासस्य". अष्टा. – ८।४।२०॥
786. "हन्तेरत्पूर्वस्य". अष्टा. – ८।४।२१॥
787. "वमोर्वा". अष्टा. – ८।४।२२॥

३.१.५.क्रिया में उपसर्ग के कारण षत्व-विधि –

उपसर्ग में स्थित इण् (इ,उ,ऋ,ऌ,ए,ओ,ऐ,औ,ह,य,व,र,ल) तथा कवर्ग (क,ख,ग,घ,ङ) से उत्तर मूर्द्धन्यादेश होता है, यदि नुम् (आगम), विसर्जनीय, तथा शर् (श,ष,स) का व्यवधान हो तो भी[788]। इसके अतिरिक्त भी उपसर्ग में स्थित निमित्त इण् तथा कवर्ग से उत्तर षत्व (मूर्धन्यादेश) होता है -

- सुनोति, सुवति स्यति आदि के सकार को, अट् के व्यवाय तथा स्थादियों के अभ्यास के व्यवाय में एवं अभ्यास को भी – *अभिषुणोति, अभिषुवति, परिष्यति, अभितष्ठौ।*[789]
- प्रति से भिन्न उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर षद्लृ धातु के सकार को (निषीदति[790]) व स्तम्भु धातु के सकार को (अभिष्टभ्नाति[791]) अड्व्यवाय एवं अभ्यास के व्यवाय में भी। यदि स्तम्भु धातु अव उपसर्ग से उत्तर हो एवं आलम्बन (आश्रयण) तथा आविदूर्य (समीपता) अर्थ में हो तो भी – अवष्टभ्यास्ते।[792]
- वि तथा अव उपसर्ग से उत्तर भोजन अर्थ में स्वन् धातु के सकार को मूर्धन्यादेश होता है, अड्व्यवाय एवं अभ्यास के व्यवाय में भी – विष्वणति, अवष्वणति।[793]
- परि, नि, तथा वि उपसर्ग से उत्तर सेव्, सित्, सय, सिवु, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज् के सकार को, सित शब्द से पहले-पहले अड्व्यवाय एवं अभ्यास के व्यवाय में भी होता है। जैसे – सेव् - परिषेवते, परिषीव्यति, सित – परिषितः, सय – परिषयः[794]। नि, वि, परि उपसर्गों से उत्तर सिवु, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज् धातुओं के सकार को विकल्प से, अट् के व्यवधान होने पर भी – सिवु – परिषीव्यति, परिषीव्यते इत्यादि।[795]
- यदि प्राणि का कथन न हो तो, अनु, वि, परि, अभि, नि उपसर्गों से उत्तर स्यन्दू धातु के सकार को विकल्प से, – *अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते।*[796] विकल्प से ही निस्, नि, वि उपसर्ग से उत्तर स्फुरति तथा स्फुलति के सकार को – *स्फुरति=निष्ष्फुरति, निष्फुरति, पक्ष में - निस्स्फुरति, निस्फुरति।*[797] परन्तु वि उपसर्ग से उत्तर स्कन्भु के सकार को नित्य ही – *विष्कभ्नाति।*[798]
- उपसर्गस्थ इण् या कवर्ग से उत्तर, एवं प्रादुस् शब्द से उत्तर यकारपरक एवं अच्परक अस् धातु के सकार को – *अभिषन्ति, अभिष्यात्।*[799] निस् उपसर्ग के सकार को तपति परे रहते अनासेवन अर्थ में – *निष्टपति सुवर्णम्*[800]*।*

---

[788]. "इण्कोः"। अष्टा. – ८।३।५७, "नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि"। अष्टा. – ८।३।५८॥

[789]. "उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभति.....स्वञ्जाम्"। अष्टा. – ८।३।६५॥

[790]. "सदिरप्रतेः"। अष्टा. – ८।३।६६॥

[791]. "स्तन्भेः"। अष्टा. – ८।३।६७॥

[792]. "अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः"। अष्टा. – ८।३।६८॥

[793]. "वेश्च स्वनो भोजने"। अष्टा. – ८।३।६९॥

[794]. "परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्"। अष्टा. – ८।३।७०॥

[795]. "सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि"। ८।३।७१॥

[796]. "अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु"। अष्टा. – ८।३।७२॥

[797]. "स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः"। अष्टा. – ८।३।७५॥

[798]. "वेः स्कभ्नातेर्नित्यम्"। अष्टा. – ८।३।७७॥

[799]. "उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः"। अष्टा. – ८।३।८७॥

- वेद-विषय में नि, वि, तथा अभि उपसर्गों से उत्तर सकार को अट् का व्यवधान होने पर विकल्प से पूर्वोक्त नहीं होता – *न्यषीदत् पिता नः, न्यसीदत्(ऋ.८।८१।१)*[801]।

३.१.६.उपसर्ग के योग में धातु का आत्मनेपद में प्रयोग –

आचार्य पाणिनि के अनुसार कदाचित् उपसर्ग भी आत्मनेपद व परस्मैपद का निर्धारण करते हैं। आत्मनेपदी धातु भी सोपसर्ग होने से परस्मैपद में होती है एवं परस्मैपदी धातु भी उपसर्ग के साथ आत्मनेपद में होती है। जिनका विवरण निम्नलिखित है। आत्मनेपद में प्रयुक्त सोपसर्ग धातुएँ -

- नि पूर्वक विश धातु – निविशते[802]। परि वि और अव उपसर्गों से परे डुक्रीञ् धातु – परिक्रीणीते[803]। वि और परा उपसर्गपूर्वक जि धातु – विजयते, पराजयते[804]। अनु सम् परि और आङ् उपसर्गों से परे क्रीड धातु – अनुक्रीडते, संक्रीडते[805]। सम् अव् प्र और वि उपसर्गों से परे स्था धातु – संतिष्ठते, अवतिष्ठते[806]। उत् एवं वि पूर्वक अकर्मक तप धातु – उत्तपते, वितपते[807]। आङ् उपसर्गपूर्वक अकर्मक हन् व यम् धातुएँ - *आयच्छते, आहते*[808]। सम् उपसर्ग पूर्वक अकर्मक गम् व ऋच्छ् धातुएँ – सङ्गच्छते, समृच्छते[809]। नि, सम्, उप और वि उपसर्ग-पूर्वक ह्वेञ् धातु – निह्वयते, संह्वयते[810]। अव पूर्वक "गृ निगरणे" धातु – *अवगिरते*[811]। उत् पूर्वक सकर्मक चर् धातु – *गेहमुच्चरते*[812]। सम् पूर्वक "क्ष्णु तेजने" धातु – संक्ष्णुते[813]। अकर्मक उप पुर्वक स्था धातु – यावद् भुक्तमुपतिष्ठते[814]। वि पूर्वक अकर्मक कृञ् धातु - *विकुर्वते सैन्धवाः*[815]।

कदाचित् सोपसर्ग धातु में आत्मनेपद का प्रतिपादन किसी विशेष अर्थ या विषय हेतु किया जाता है। जिसका वर्णन निम्नलिखित है –

---

800. "निसस्तपतावनासेवने"। अष्टा. – ८।३।१०२॥
801. "निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि"। अष्टा. – ८।३।११९॥
802. "नेर्विशः"। अष्टा. – १।३।१७॥
803. "परिव्यवेभ्यः क्रियः"। अष्टा. – १।३।१८॥
804. "विपराभ्याञ्जेः"। अष्टा. – १।३।१९॥
805. "क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च"। अष्टा. – १।३।२१॥
806. "समवप्रविभ्यः स्थः"। अष्टा. – १।३।२२॥
807. "उद्विभ्याम् तपः। अष्टा.१।३।२७॥
808. "आङो यमहनः"। अष्टा. - १।३।२८॥
809. "समो गम्यृच्छिभ्याम्"। अष्टा. – १।३।२९॥
810. "निसमुपविभ्यो ह्वः"। अष्टा. - १।३।३०॥
811. "अवाद् ग्रः"। अष्टा. – १।३।५१॥
812. "उदश्चरः सकर्मकात्"। अष्टा. – १।३।५३॥
813. "समः क्ष्णुवः"। अष्टा. – १।३।६६॥
814. "उपान्मन्त्रकरणे"। अष्टा. – १।३।२५, "अकर्मकाच्च"। अष्टा. – १।३।२६॥
815. "अकर्मकाच्च"। अष्टा. - १।३।३५॥

- आङ् पूर्वक डुदाञ् धातु से मुख फैलाने अर्थ से भिन्न अर्थ में – विद्यामादत्ते[816]। अनूर्ध्व कर्म (ऊपर उठने अर्थ में न हो तो) में वर्तमान उद् उपसर्गपूर्वक स्था धातु से – गेहे उत्तिष्ठते।[817] तथा मन्त्रकरण में उप से परे स्था धातु से – ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते।
- उप के साथ यम् धातु यदि स्वकरण (पाणिग्रहण) अर्थ में हो – *कन्यामुपयच्छते।*[818] परन्तु यदि यम् धातु सम्, उद् और आङ् पूर्वक हो एवं ग्रन्थ-विषयक प्रयोग न हो तो कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में - *व्रीहीन् संयच्छते।*[819]
- आङ् उपसर्ग-पूर्वक ह्वेञ् धातु स्पर्धा विषय में – *मल्लो मल्लमाह्वयते।*[820] सम् पूर्वक गृ धातु प्रतिज्ञान अर्थ में - *शतं सङ्गिरते।*[821]
- गन्धन आदि अर्थों में कृञ् धातु – गन्धन (चुगली करना) – उत्कुरुते, अवक्षेपण (धमकाना) – श्येनो वर्तिकामुदकुरुते, सेवन (सेवा करना) – आचार्यमुपकुरुते शिष्यः, साहसिक्य (जबरदस्ती करना) – परदारान् प्रकुरुते, प्रतियत्न (किसी गुण को भिन्न गुण में बदलना) – एधोदकस्योपस्कुरुते, प्रकथन (बढा-चढाकर कहना) – जनापवादान् प्रकुरुते, उपयोग (धर्मादि कर्यों में लगाना) – शतं प्रकुरुते[822]। यहाँ निरुपसर्ग कृञ् धातु का उल्लेख है। कृञ् धातु मात्र "करण" अर्थ को बताती है। अतः गन्धनादि अर्थों को स्पष्ट करने हेतु उपसर्गों का प्रयोग किया गया।
- कृञ् धातु अधिपूर्वक प्रहसन (किसी को दबा लेना या हरा देना) अर्थ में – *शत्रुमधिकुरुते*[823]*।* एवं वि पूर्वक शब्दकर्म होने पर – क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्[824]। प्र व उप उपसर्ग के साथ "युजिर् योगे" धातु अयज्ञपात्र विषय में – *प्रयुङ्क्ते।*[825]
- अप उपसर्ग पूर्वक वद धातु कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में, जैसे - *धनकामो न्यायमपवदते।*[826]
- सम्मानन आदि अर्थों में णीञ् धातु – सम्मानन – मातरं सन्नयते, नयते आचार्यो वेदेषु, उत्सञ्जन – दण्डमुन्नयते, आचार्यकरण – माणवकमुपनयते, ज्ञान – नयते बुद्धिः वेदेषु, भृति – कर्मकरानुपनयते, विपणन – मद्राः करं विनयन्ते, व्यय – शतं विनयते[827], शरीर-भिन्न कर्म होने पर तथा कर्त्ता में स्थित होने पर – क्रोधं विनयते।[828]

---

816. "आङो दोऽनास्यविहरणे"। अष्टा. – १।३।२०॥
817. "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि"। अष्टा. – १।३।२४॥
818. "उपाद्यमः स्वकरणे"। अष्टा. – १।३।५६॥
819. "समुदाङ्भ्योः यमोऽग्रन्थे"। अष्टा. – १।३।७५॥
820. "स्पर्धायामाङः"। अष्टा. – १।३।३१॥
821. "समः प्रतिज्ञाने"। अष्टा. – १।३।५२॥
822. "गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न प्रकथनोपयोगेषु कृञ्"। अष्टा. – १।३।३२॥
823. "अधेः प्रसहने"। अष्टा.- १।३।३३॥
824. "वेः शब्दकर्मणः"। अष्टा. – १।३।३४॥
825. "प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु"। अष्टा. – १।३।६४॥
826. "अपाद्वदः"। अष्टा. – १।३।७३॥
827. "सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः"। अष्टा. – १।३।३६॥
828. "कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि"। अष्टा. – १।३।३७॥

- क्रम् धातु = उप व परा पूर्वक वृत्ति (बिना रुकावट के चलना), सर्ग (उत्साह) और तायन (विस्तार) अर्थों में – *उपक्रमते, पराक्रमते*[829]। आङ् पूर्वक उद्गमन अर्थ में - *आदित्य आक्रमते।*[830]वि पूर्वक पादविहरण अर्थ में - *सुष्ठु विक्रमते वाजी।*[831] प्र एवम् उप समानार्थक (तुल्य अर्थ वाले होने पर) - *प्रक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना आरम्भ करता है), उपक्रमते भोक्तुम्।*[832]
- ज्ञा धातु = अपह्नव (मिथ्याभाषण) अर्थ में (ज्ञा धातु के साथ अप उपसर्ग इस अर्थ को बतलाता है) - *शतं संजानीते।*[833] सम्, प्रति उपसर्ग के साथ अनाध्यान (उत्कण्ठापूर्वक स्मरण) अर्थ में – शतं संजानीते।[834]
- अनु पूर्वक अकर्मक वद् धातु से व्यक्तवाणी के सहोच्चारण में – अनुवदते कठः कलापस्य।[835] विप्रलाप में विकल्प से पूर्व अर्थ में – विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ति सांवत्सराः।[836]
- तृतीया विभक्ति से युक्त सम् पूर्वक चर् धातु से – *अश्वेन सञ्चरते*।[837] तृतीया-युक्त सम् पूर्वक दाण् धातु से, यदि वह तृतीया चतुर्थी के अर्थ में हो तो - *स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपाध्यायेन सक्तून् संप्रयच्छते।*[838]

३.१.७.उपसर्ग के योग में धातु का परस्मैपद में प्रयोग –

आचार्य पाणिनि ने आत्मनेपद के विधान के पश्चात् शेष को परस्मैपद-संज्ञक माना है[839]। जिसका विस्तार निम्नलिखित है -

- अनु परा पूर्वक कृञ् धातु – *अनुकरोति, पराकरोति*[840]। अभि प्रति तथा अति पूर्वक क्षिप्-धातु – *अभिक्षिपति।*[841] प्र पूर्वक वह् धातु – प्रवहति।[842] परिपूर्वक मृष् धातु – परिमृष्यति।[843] वि आङ् परि पूर्वक रम् धातु – विरमति, आरमति।[844] उपपूर्वक रम् धातु – देवदत्तम् उपरमति।[845]

---

829. "उपपराभ्याम्"। अष्टा. – १।३।३९॥
830. "आङ् उद्गमने"। अष्टा. – १।३।४०॥
831. "वेः पादविहरणे"। अष्टा. – १।३।४१॥
832. "प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्"। अष्टा. – १।३।४२॥
833. "अपह्नवे ज्ञः"। अष्टा. – १।३।४४॥
834. "संप्रतिभ्यामनाध्याने"। अष्टा. – १।३।४३॥
835. "अनोरकर्मकात्"। अष्टा. – १।३।४९॥
836. "विभाषा विप्रलापे"। अष्टा. – १।३।५०॥
837. "समस्तृतीयायुक्तात्"। अष्टा. – १।३।५४॥
838. "दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे"। अष्टा. – १।३।५५॥
839. "शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्"। अष्टा. – १।३।७८॥
840. "अनुपराभ्यां कृञ्"। अष्टा. – १।३।७९॥
841. "अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः"। अष्टा. – १।३।८०॥
842. "प्राद्वहः"। अष्टा. – १।३।८१॥
843. "परेर्मृषः"। अष्टा. – १।३।८२॥
844. "व्याङ्परिभ्यो रमः"। अष्टा. – १।३।८३॥
845. "उपाच्च"। अष्टा. – १।३।८४॥

- कुछ सन्नन्त धातुएँ आत्मनेपद होती हैं यथा – ज्ञा, श्रु, स्मृ, दृश् – जिज्ञासते इत्यादि[846]। परन्तु अनु पूर्वक सन्नन्त ज्ञा धातु[847]व प्रति व आङ् पूर्वक श्रु धातु परस्मैपद होती है क्रमशः - पुत्रम् अनुजिज्ञासति; प्रतिशुश्रूषति।[848]

३.१.८.कारक में उपसर्ग के कारण अर्थ-वैशिष्ट्य –

क्रिया को बनाने वाला कारक कहलाता है। कारक क्रिया में बनने में निमित्त होता है अतः कहा जाता है "क्रियायाः निर्वर्त्तकं कारकम्"। कारक षड् माने गए हैं। जिनको आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में "कारके[849]" सूत्र के अधिकार में विधान किया है। कारकों में कुछ सोपसर्ग धातुएँ विशिष्ट अर्थों में कारकत्व का ज्ञान कराती हैं जो निम्न प्रकार हैं –

- परापूर्वक जि धातु के प्रयोग में असोढ (जो सहन नहीं किया जा सकता) अर्थ (अध्ययनात् पराजयते[850]) व भू धातु के कर्त्ता का जो प्रभव = उत्पत्तिस्थान (हिमवतः गङ्गा प्रभवति[851]) उसकी अपादान संज्ञा होती हैं। अपादान-संज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति होती है[852]।
- प्रति आङ् पूर्वक श्रु धातु के प्रयोग में पूर्व का जो कर्त्ता, उसकी (यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिश्रृणोति[853]) व अनु प्रति पूर्वक गृणाति धातु के प्रयोग में पूर्व का जो कर्त्ता, उसकी (होत्रे अनुगृणाति[854]) सम्प्रदान संज्ञा होती है। सम्प्रदान-संज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति होती है[855]।
- व्यवहारार्थक सोपसर्ग दिव् धातु के कर्म कारक में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है, पक्ष में द्वितीया प्राप्त है - शतस्य प्रतिदीव्यति, शतं प्रतिदीव्यति[856]।
- सम्-उपसर्ग-पूर्वक ज्ञा धातु से अनभिहित कर्म कारक में तृतीया विकल्प से होती है – मात्रा संजानीते बालः, मातरं सञ्जानीते[857]।
- वि, अव पूर्वक हृ धातु समर्थ (समानार्थक) हो तो, शेष विवक्षित होने पर उनके कर्म में षष्ठी विभक्ति हो – शतस्य व्यवहरति[858]।

---

846. "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः"। अष्टा. – १।३।५७॥
847. "नानोर्ज्ञः"। अष्टा. – १।३।५८॥
848. "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः"। अष्टा. – १।३।५९॥
849. अष्टा. – १।४।२३॥
850. "पराजेरसोढः"। अष्टा. – १।४।२६॥
851. "भुवः प्रभवः"। अष्टा. – १।४।३१॥
852. "अपादाने पञ्चमी"। अष्टा. – २।३।२८॥
853. "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता"। अष्टा. – १।४।४०॥
854. "अनुप्रतिगृणश्च"। अष्टा. – १।४।४१॥
855. "चतुर्थी सम्प्रदाने"। अष्टा. – २।३।१३॥
856. "विभाषोपसर्गे"। अष्टा. – २।३।५९॥
857. "संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि"। अष्टा. – २।३।२२॥
858. "व्यवहृपणोः समर्थयोः"। अष्टा. – २।३।५७॥

३.१.९.समास में उपसर्ग के कारण अर्थ-वैशिष्ट्य -

आचार्य पाणिनि अष्टाध्यायी के द्वितीय-अध्याय में समासों का उल्लेख करते हैं। समासों का विधान परस्पर सम्बद्ध पदों में ही होता है[859]। गति-संज्ञकों को समर्थ मानकर उनमें भी समास का विधान किया गया है[860]। उपसर्ग को भी क्रिया के योग में गति-संज्ञक माना जाता है – यत् प्रकरोति[861]। उपसर्ग के अतिरिक्त भी कुछ अन्य गतिसंज्ञक है जिनको समास का विधान किया गया है -

च्व्यन्त – शुक्लीकृत्य, डाजन्त – पटपटाकृत्य, अनुकरणवाची – खाटकृत्य, सत् – सत्कृत्य, असत् – असत्कृत्य, अलम् – अलंकृत्य, अन्तर् – अन्तर्कृत्य, कणे – कणेकृत्य, मनसि – मनसिकृत्य, पुरस् – पुरस्कृत्य, अस्तम् – अस्तंगतानि धनानि, अच्छ – अच्छगत्य, अदः – अदःकृत्य, तिरस् – तिरोभूय, उपाजे – उपाजेकृत्य, अन्वाजे – अन्वाजेकृत्य, उपनिषद् – उपनिषद्कृत्य आदि गतिसंज्ञक शब्दों को तत्पुरुष समास होता है[862]।

३.१.१०.उपसर्गों का द्वित्व प्रयोग –

वैदिक मंत्रों में उपसर्गों का द्वित्व प्रयोग भी दिखाई देता है। एक ही उपसर्ग अर्थ विशेष में तथा कहीं-कहीं पादपूरण में अर्थ-वैशिष्ट्य का द्योतक होता है। आचार्य पाणिनि ने द्वित्व के विषय में अष्टाध्यायी में विस्तार से कहा है -

- नित्यता एवं वीप्सा अर्थ में जो शब्द उस सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व होता है, जैसे – नित्यता – पचति पचति, लुनीहि लुनीहि इत्येवं लुनाति; वीप्सा – जनपदो जनपदो रमणीयः[863]।
- छोडने अर्थ में परि शब्द को द्वित्व होता है, जैसे – परि परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव।[864]
- जब प्र सम् उप एवं उत् उपसर्गों को पाद की पूर्त्ति करनी हो पूर्त्ति करनी हो तो इनको द्वित्व हो जाता है, जैसे – *संसमिद्युवसे (ऋ.- १०।१९१।१), उपोप मे परामृश (ऋ. –* १।१२६।७)[865]।
- उपरि, अधि, अधस् इनको समीपता अर्थ कहना हो, तो द्वित्व होता है, जैसे – *उपर्युपरि दुःखम्, अध्यधि ग्रामम्, अधोऽधो नगरम्[866]।*

---

859. "समर्थः पदविधिः"। अष्टा. - २।१।१॥
860. अष्टा. – २।२।१८॥
861. "गतिश्च"। अष्टा. – १।४।५९॥
862. "कुगतिप्रादयः"। अष्टा. – २।२।१८॥
863. "सर्वस्य द्वे"। अष्टा. – ८।१।१, "नित्यवीप्सयोः"। अष्टा. – ८।१।४॥
864. "परेर्वर्जने"। अष्टा. – ८।१।५॥
865. "प्रसमुपोदः पादपूरणे"। अष्टा. – ८।१।६॥
866. "उपर्यध्यधसः सामीप्ये"। अष्टा. – ८।१।७॥

३.२.तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त उपसर्गों का अर्थवैज्ञानिक अध्ययन –

अति[867] - अति उपसर्ग का अर्थ – प्रकर्ष, लाँघना, निश्चित और स्तुति[868] । परन्तु यास्क इसको अभिपूजित अर्थ में स्वीकार करते हैं।[869] क्रिया के व्यतिहार अर्थात् अदल-बदल करने अर्थ स्पष्ट करने हेतु वि के साथ अति उपसर्ग होता है (व्यतिलुनीते क्षेत्रम्)।[870] यह अति उपसर्ग यदि क्षिप् धातु के साथ हो तो क्षिप् धातु के स्वरितेत् होने से[871] कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त होने पर भी परस्मैपद होता है[872] तथा इस अति शब्द की अतिक्रमण = उल्लंघन और पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीय एवं निपात संज्ञा होती है (अतिसिक्तमेव भवता = आपने अधिक ही सींच दिया, अतिस्तुतं भवता = आपने अच्छी तरह स्तुति की)।[873] द्वितीयान्त के साथ इसका अर्थ "अतिक्रान्त" होता है – "अतिक्रान्तो मालामतिमालः"[874]।

भट्टभास्कर भी इसको अतिक्रमण अर्थ में (अतिक्रम्य गच्छेम"[875] "अतिक्रम्य गच्छेत्"[876]) स्वीकार करते हैं। अव्ययीभाव समास में अति को असम्प्रति अर्थ में माना गया है (अतितैसृकम् = तैसृक ओढने का अब समय नहीं है)।[877] अतिहृ = अतिहरेत्[878] – अतिक्रम्य गच्छेत्। अति..अक्रमुः[879] – अति अजीर्णादिदोषामतिलङ्घ्य अक्रमुः क्रान्ताः, देहे व्याप्ताः। अतिगा = अति..अगाम्[880] – अतिक्रम्यागतोऽस्मि। अतितृ = अति..तरेम[881] – अतिक्रम्य गच्छेम। मा अतिधाक्[882] – कृशावस्थामतीत्य मा धाक्षीत्। अतिपॄ = अति..पारय[883] – अतिक्रम्य पारय। अतिप्रु = अत्यप्रवत[884] –

---

867. "...ययाऽति विश्वा दुरिता तरेम..."। तै.सं. – १।२।२, २४२॥
868. "..प्रकर्षे लंघनेऽप्यति"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक – २४०॥
869. "अति सु इत्यभिपूजितार्थे"। नि. – १।१॥
870. "कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे"। अष्टा. – १।३।१४॥
871. "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले"। अष्टा. – १।३।७२॥
872. "अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः"। अष्टा. – १।३।८०॥
873. "अतिरतिक्रमणे च"। अष्टा. – १।४।९४॥
874. "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया"। वार्तिक, अष्टा. – १।४।७९॥
875. "..तस्माद्भूर्भोऽप्यनालेशेऽत्यन्यान् पशून् मेद्यत्यन्नं ह्येनेनार्कं..."। तै.सं. – ५।१।५, पृ.२३॥
876. "..नान्तममङ्गारमति हरेद्यदन्तममङ्गारमतिहरेद्देवता.."। तै.सं. – २२३॥
877. "अव्ययं विभक्तिसमीप..."। अष्टा. – २।१।६॥
878. तै.सं. - ६।३।९॥
879. परिष्ठाः शरीरस्य उपरि स्थिताः उदरमध्ये प्रविष्टाः विश्वाः सर्वाः ओषयधः अति अजीर्णादि...। भाष्य, तै.सं. – ४।२।६॥
880. तै.सं. – १।३।५॥
881. "तानि सर्वाणि यया अतितरेम अति....तामिमां धियमिति संबध्यते"। भाष्य, तै.सं. – १।२।२॥
882. तै.सं. – १।१।८॥
883. तै.सं. – १।१।१४॥
884. तै.सं. – ७।१।१॥

परिग्रहमतीत्यागच्छत्। अतिरिच् = त्वां न अतिरिच्यते[885] – त्वां विहाय अन्यत्र न प्रवर्तते। अतिसह् = अति..सहस्व[886] – अतिशयेन विनाशय। अतिसृप् = अतिसर्पति[887] - अतिशयेन प्राप्नोति॥

अतिनेदन्ति - "एता वर्त्र नेदन्त्यति[888]"। नेद् (णिद्, णेदृ कुत्सासन्निकर्षयोः) अतिक्रामन्ति।

अतिपादयेत् - "अग्नये पथिकृते पुडाशमष्टकपालं निर्वपेद्यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासी वाऽतिपादयेत्[889]"। पद् (पद गतौ)। अर्थ - अतिक्रमयेत्। स्वकाल में ही अननुष्ठान का अतिपादन करना, उसका अतिक्रमण न करना।

अत्यर्हति - "बृहस्पते अति यदर्यो अर्हति[890]"। अर्ह् (अर्ह पूजायाम्)। अत्यर्हति = अतिक्रम्य अर्हति (पूजा में भी अतिक्रमण करना)।

अति-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

अतिकृ = अतिकरोति-६।६।२, अतिक्रम् = अतिक्रामति-७।२।७, अति..क्रामति-२।४।१, अति..क्रामामि-३।५।३, अत्यक्रामत्-६।२।४, अत्यक्रमीत्-५।२।२४, अति..अक्रमुः-४।२।६, अतिगा = अति..अगाम्-१।३।५, अतितॄ = अति..तरेम-१।२।२, अतिदह् = अत्यदहत्-५।२।५, अतिधक्ष्यति- ५।५।२, अतिनी = अति..अनयन्-१।८।११, अतिनु = अतिनावयेत्-६।३।४, अतिपद् = अतिपादयति-२।२।२, २।२।५, अतिपादयेत्-२।२।२, अतिपॄ = अतिपवते-६।५।११, अतिप्रु = अत्यप्रवत-७।१।१, अति..अप्रवत-७।१।१, अतिमन् = अत्यमन्यन्त-६।३।४, अतिमन्येत-६।३।९, ६।४।२, अतिमुच् = अति..मुच्यते-६।६।९, अत्यमुच्यत-६।४।२, अतियज् = अतियजते-२।५।४, अतिरिच् = अतिरिच्यते-३।४।१, ७।१।५, १।४।४६, अतिरिच्येते-७।४।१, अतिवद् = अतिवदति-५।४।७, ६।१।८, अतिशिष् = अतिशिष्यत-२।४।१२, अतिसह् = अति..सहस्व-४।१।७, अतिसृप् = अतिसर्पति-४।१।१०, अतिसर्पेत्-६।३।१, अतिहृ = अतिहरेत्-६।३।९, २।६।८, ६।३।९, अति+इ (अती) = अत्येति – ३।४।११, ६।१।४, ६।६।२, अति..एति-६।६।३, अतियन्ति-३।२।२, अतीहि-१।८।६, अतीयात्-६।३।१, ६।४।२॥

अधि[891] - अधि का अर्थ – उपरिभाव व ऐश्वर्य है[892]। भट्टभास्कर भी इसका अर्थ उपरिभाव में मानते है (अधि उपरिष्टात् नि धीमहि स्थापयामः)। प्रहसन अर्थात् किसी को दबा लेना या हरा देना अर्थ में अधि उपसर्ग कृ के साथ प्रयुक्त होता है

---

885. तै.सं. – १।४।४६॥

886. तै.सं. – ४।१।७॥

887. तै.सं. – ४।१।१०॥

888. तै.सं. – १।६।८॥

889. तै.सं. – २।२।२॥

890. तै.सं. – १।८।२२॥

891. "पृथिव्या अधि। जातवेदो नि धीमह्यग्ने ..."। तै. सं. – ३।५।११, पृ.४३७॥

892. "अधि इत्युपरिभावम्। ऐश्वर्ये वा"। नि. – १।१॥

(शत्रुमधिकुरुते)[893]। अधि शब्द यदि क्रिया के साथ किसी अन्य अर्थ का वाचक न हो मात्र क्रिया को ही कहता हो तो (अध्यागच्छति का अर्थ वही है जो आगच्छति का है)[894] तथा ईश्वर = स्वस्वामी सम्बन्ध को कहने में वह (अधि पाञ्चालेषु देवदत्तः = पञ्चालों का देवदत्त स्वामी है)[895] वह निपात कहलाता है। अव्ययीभाव समास में इसको विभक्त्यर्थ में माना गया है (अधिस्त्रि = स्त्रीष्वधिकृत्य)[896]। यदि अधि पूर्वक शीङ्, स्था व आस् धातुएँ हैं तो उनके आधार को कर्म हो जाता है (ग्राममधिशेते[897]) परन्तु अधि के बिना नहीं।

इसके अतिरिक्त इसके अन्य अर्थ हैं - अधिक्रम् = अधिक्रामति[898] – आरोहति। अधिब्रू = अधिब्रवीतु[899] – अधिका एते मान्या इति कथयतु। अधि..ब्रुवन्तु[900] – अधिकान् ब्रुवन्तु। अधि..ब्रूहि[901] – अधिकान् ब्रूहि। अधिरुह् = अधि..रुहेम[902] – आरूढा भूयास्म। अधिरोहय[903] – प्रापय।

अधिनिर्वदति - "यज्जिह्वया वदति तदुरसोऽधिनिर्वदति[904]"। अधि (ऊर्ध्व) एवं निर् (निष्काष्य) पूर्वक वद् (वद व्यक्तायां वाचि)। ऊर्ध्व को निष्काषित करके बोलना।

अधिवपते - "अधि च वपते[905]"। वप् (डुवप बीजसन्ताने)। (दृषदि तण्डुलान्) निधान करना।

अधि-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

अधिक्रम् = अधिक्रामति-५।४।४, ५।४।५, ५।४।७, ५।५।७, ५।५।९, ५।४।४, अधिब्रू = अधिब्रवीतु-४।६।६, अधिब्रुवन्तु-२।६।१२, अधि..ब्रुवन्तु-४।७।१५, अधि..ब्रूहि-४।३।१२, अधिब्रूयात्-२।५।११, अधियम् = अधि..यच्छत-१।५।११, अधिरुह् = अधि..रुहेम-१।२।२, अधिरोहय-४।२।५, अधिवच् = अध्यवोचत्-४।५।१, अधि..वोचः-१।४।१, अधिवप् = अधि..वपते-१।६।९, अधिवपामि-१।१।६, अधिश्रि = अधिश्रयति-१।६।९॥

---

893. "अधेः प्रसहने"। अष्टा. – १।३।३३॥

894. "अधिपरी अनर्थकौ"। अष्टा. – १।४।९२॥

895. "अधिरीश्वरे"। अष्टा. – १।४।९६॥

896. "अव्ययं विभक्ति.."। अष्टा. – २।१।६॥

897. "अधिशीङ्स्थासां कर्म"। अष्टा. – १।४।४६॥

898. तै.सं. – ५।४।४॥

899. "..सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु। तै.सं. – ४।६।६, ज्ञानयज्ञभाष्य - "सोमः नः अस्मान् अधिब्रवीतु अधिका.."।

900. तै.सं. – ४।७।१५॥

901. तै.सं. – ४।३।१२॥

902. तै.सं. – १।२।२॥

903. तै.सं. – ४।२।५॥

904. तै.सं. – ६।३।१०॥

905. तै.सं. – १।६।९॥

अनु[906] - अनु का अर्थ – पश्चात् व सादृश्य[907] एवं यास्क भी इसको इन्हीं अर्थों में स्वीकार करते हैं।[908] अव्ययीभाव समास में अनु को पश्चात् (रथानां पश्चात्=अनुरथं), आनुपूर्व्य (ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्यम्=अनुज्येष्ठम्)[909], समीपवाची[910] व दीर्घतावाची[911] अर्थों में माना है। अनु क्रीड् के योग में सह=साथ अर्थ को (अनुक्रीडते = साथ में खेलता है) बतलाता है[912]। व्यक्तवाणी वालों के एक साथ उच्चारण करने अर्थ में अनु का प्रयोग वद धातु के साथ होता है (अनुवदते कठः कलापस्य=जैसे कलाप शाखाध्यायी बोलता है, वैसे ही उसके पीछे कठ बोलता है)[913]। कृञ् धातु को गन्धन आदि अर्थों में तथा ञित् होने से आत्मनेपद प्राप्त था परन्तु अनु के योग में परस्मैपद हो गया (अनुकरोति=अनुकरण करता है)।[914] लक्षण (शाकल्यस्य सहितामनुप्रावर्षत्), तृतीया अर्थ (नदीमन्ववसिता सेना), हीन अर्थ (अनुशाकटायनं वैयाकरणाः) तथा इत्थम्भूताख्यान (वृक्षम् अनु विद्योतते विद्युत्) भाग (यदत्र माम् अनु स्यात्) वीप्सा (वृक्षं वृक्षम् अनु सिञ्चति) में अनु की निपात संज्ञा भी होती है[915]। एवं अनु पूर्वक गृणाति में पूर्व का कर्त्ता सदैव सम्प्रदान कारक में होता है (होत्रे अनुगृणाति)[916]।

तैत्तिरीय-संहिता में भट्टभास्कर ने अनु के निम्न अर्थ किये हैं - द्योतक मात्र "अनुगच्छ"। अन्विहि[917]- तदनुगच्छ शीघ्रं गच्छेति यावत्। अनु गेषम्[918]- अनुगतो भूयासम् अविघ्नेन प्राप्यासम्। अनु सं तनोति[919]-अनु संतनोति अनुसंततं करोति। अनुपश्यति[920]- अनुक्रमेण जानाति। अनुप्रथताम्[921]-अनुक्रमेण प्रथताम्। अनु प्रेहि[922]- अनुक्रमेण गच्छ। अनुभरामि[923] - अनुगतं हरामि प्रहरामि। अनु

---

906. "..हराम्युर्वन्तरिक्षमन्विहि..."। तै.सं. – १।१।२, पृ.४६॥
907. "..पश्चात्सादृश्ययोरनु"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक -२४७॥
908. "अनु इति सादृश्यापरभावम्"। नि. – १।१॥
909. "अव्ययं विभक्ति.."। अष्टा. – २।१।६॥
910. "अनुर्यत्समया"। अष्टा. – २।१।१४॥
911. "यस्य चायामः"। अष्टा. – २।१।१५॥
912. "क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च"। अष्टा. – १।३।२१॥
913. "अनोरकर्मकात्"। अष्टा. – १।३।४९॥
914. "अनुपराभ्याम् कृञः"। अष्टा. – १।३।७९॥
915. अष्टा. – १।४।८३, ८४, ८५, ८९॥
916. अष्टा. – १।४।४१॥
917. "..पत्वान्विह्यग्नये स्वाहा"। तै.सं. – ७।१।१२, पृ.१०५॥
918. "..तन्तुं पृथिव्याः अनु गेषम्..."। तै.सं. – १।२।३, पृ.२५९॥
919. "..एव यज्ञमनु सं तनोति..."। तै.सं. – ३।१।३, पृ.२०॥
920. "..सवितृप्रसूत एवानु पश्यति..."। तै.सं. – ६।१।५, पृ.४८॥
921. "...भुवनाऽनु प्रथतां स्वाहा.."। तै.सं. – ३।३।१० पृ.२७४॥
922. "..तेजोऽसि तेजोऽनु प्रेह्यग्निस्ते.."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१४५॥
923. "..तं त एतमनु जोषं भरामि..."। तै.सं. – १।१।१३, पृ.१८६॥

मन्यताम्[924]- अनुजानातु। अनु विक्रमते[925] - यहाँ अनु की तृतीया के अर्थ में कर्मप्रवचनीय-संज्ञा है।

अनुकल्पते - "अस्य कल्पमाना राष्ट्रमनुकल्पते[926]"। क्लृप् (कृपु सामर्थ्ये) से सम्पन्न यह "अनुसरण" अर्थ में है।

अनुगृह्णाति - "वै प्रजा पराभवन्तीरनुगृह्णाति[927]"। ग्रह उपादाने। अर्थ – रक्षा करना। अर्थात् शरण में होने के कारण।

अनुदिशति – "यज्ञ देवेभ्योऽनुदिशति[928]"। दिश् (दिश अतिसर्जने)। निर्देश अर्थ में है।

अनुदिशेत् - प्रतिगृह्णाति वायवे त्वा वरुणाय त्वेति यदेवमेता नानुदिशेत्[929]"। दिश् (दिश अतिसर्जने)। अनुदिशेत् = अनुक्रमेण कीर्तन करने अर्थ में।

अनुध्यायति - "अस्यैष धिष्णियो हीयते सोऽनुध्यायति[930]"। ध्यै (ध्यै चिन्तायाम्)। अर्थ – अनुचिन्तयति = क्रोधपूर्ण होकर।

अनुमन्त्रयते - "प्रान्याभिर्यच्छत्यन्वन्यैर्मन्त्रयते[931]"। मन्त्र् (मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे) अनुमन्त्रयते = अभिमन्त्रणा अर्थ में।

अनुविधीयते – "अर्क एव तदर्क्यमनुविधीयते[932]"। अर्थ - पश्चात् विधान करना (सम्पादित करना)।

अन्वजिहत - "अन्विन्द्रम्..आपो अजिहत जायमानम्[933]"। हा (ओहाङ् गतौ) अर्थ - पश्चात् जाना, उत्पन्न होना।

अन्वाभविष्यन्ति– "तेऽमन्यन्त मनुष्या नोऽन्वाभविष्यन्ति"[934]। भू (भू सत्तायाम्)। अर्थ – अनुप्राप्स्यन्ति।

अन्वाहरति - "यद्वै यज्ञस्य क्रूरं यद्विलिष्ट तदन्वाहार्येणान्वाहरति"[935]। हृ (हृञ् हरणे)। भट्टभास्कर - (हीनं) पुनरन्वाहरति पूरयति। अथवाऽनुक्रमेणाहृत्य नाशयति।

---

924 . "..अनभिशस्तेन्यमनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु..."। तै.सं. – १।२।१०, पृ.३१४॥

925 . "विक्रान्तिमनु वि क्रमत उत्तरतः उपेति"। तै.सं. – ५।३।७, भाष्य – विक्रान्तिः विजयशक्तिः। ताम् अनु विक्रमते तया सह अप्रतिबन्धेन आक्रामति। तृतीयार्थेऽनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्।

926 . तै.सं. – ३।४।८॥

927 . तै.सं. – १।७।२॥

928 . तै.सं. – १।५।४॥

929 . तै.सं.- ६।१।४॥

930 . तै.सं. – ३।१।३॥

931 . तै.सं. – ५।१।६॥

932 . तै.सं. – ५।३।४॥

933 . तै.सं. – १।७।१३॥

934 . तै.सं. – ६।३।४॥

935 . तै.सं. – १।७।३॥

अनु-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

अनुगम् = अनुगच्छेम-४।७।१३, अनुगा = अनुगेषम्-१।२।३, अनुगृ, गृ (शब्दे) = अनु..गृणाति-४।२।३, अनुगृह् = अनुगृह्णाति-१।७।२, अनुचर् = अनुचरति-५।५।६, अन्वचारिषम्-१।४।४५, अनुजन् = अनुजायते-७।५।२५, अनुजीव् = अनुजीवाम-१।२।१३, अनुज्ञा = अनुज्ञास्यन्ति-६।३।१, अनुतक्ष् = अनुतक्षुः-५।६।८, अनुतप् = अन्वतप्यन्त-३।२।८, अनुदा = अनु..दायि-१।६।१२, अनुदिश् = अनुदिशति-१।५।४, ६।१।४, ६।१।१०, ६।२।१, अनु..दिशामि-४।२।१०॥

अप[936] - अप का अर्थ – एकीभाव का प्रातिलोम्य (पृथक्करण) है[937] तथा यह पृथक्करण ही अपादान कारक का एक अनिवार्य विषय है।[938] मिथ्याभाषण अर्थ में अप पूर्वक ज्ञा धातु का प्रयोग होता है (शतं अपजानीते=सौ रुपये के लिए झूठ बोलता है)[939]। वद के साथ यह "पृथक् बोलता है, छोडकर बोलता है" अर्थ में होता है (धनकामो न्यायमपवदते= धन का लोभी न्याय छोडकर बोलता है)[940]। अप की वर्जन अर्थ में निपात संज्ञा होती है (अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः=त्रिगर्त देश को छोडकर वर्षा हुई)[941]। भट्टभास्कर के अनुसार इस मन्त्रांश का अर्थ "अपन्यधत्त अपनीय निभृतं स्थापितवान्" है।

अपगृह्णाति - "अंशूनप गृह्णाति"[942]। ग्रह् (ग्रह अपादाने)। अपगृह्णाति सङ्घात से अपादत्त होने अर्थ में।

अपरुध्यताम् - "योऽवगतः सोऽपरुध्यतां[943]"। अप पूर्वक रुधिर् आवरणे धातु से यह रोकने अर्थ में है।

अपाकरोति - "पर्णशाखया वत्सानपाकरोति[944]"। अप एवं आङ् पूर्वक डुकृञ् करणे का अर्थ "हटाना, दूर करना" है।

अप-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

अपक्रम् = अपक्रामति-२।३।१३, ३।१।१, ३।१।५, २।३।३, अप..क्रामति-२।२।१, ३।१।१, ६।६।७, अपक्रामतः-२।१।१, अपक्रामन्ति-५।७।९, अप..क्रामन्ति-२।६।८, अपाक्रामत्-१।५।१, अपाक्रामन्-२।६।३, अप..क्रमिष्यन्ति-६।४।८, अप..अक्रमीत्-६।१।६, अपगूह् = अपागूहताम्-२।२।१, अपगृह् = अपगृह्णाति-५।१।१, ६।४।४, अपजि = अपाजयन्-६।३।१, अपनी = अपनये-१।३।१३,

---

936. "प्रियास्तनूरप न्यधत्त.."। तै.सं. – ६।६।८॥

937. नि. - १।१॥

938. "ध्रुवमपायेऽपादानम्"। अष्टा. – १।४।२४॥

939. "अपह्नवे ज्ञः"। अष्टा. – १।३।४४॥

940. "अपाद्वदः"। अष्टा. – १।३।७३॥

941. "अपपरी वर्जने"। अष्टा. – १।४।८७॥

942. तै.सं. – ६।४।५॥

943. तै.सं. – ६।६।५॥

944. तै.सं. – २।५।५॥

अपनुद् = अपनुदते-१।७।४, अपनुदति-५।१।८, अप..नुदस्व-१।४।४२, अपानुदत-६।२।७, अपानुदन्त-१।७।४, २।४।१, ६।३।१, अपप्लु = अपप्लावयति-६।४।३, अपभू = अप..भवन्तु-४।७।१४, अपवध् = अपावधीम्-१।२।११, अपवप् = अपावपत्-३।३।७, अपवा = अपवाति-४।६।८, अपहन् = अपहते-२।४।२, ३।२।९, ५।३।४, अप..हते-२।१।१०, अपहन्ति-२।१।२, २।६।६, अप..जहि-१।१।७, अपह्नु = अपह्नुते-१।५।४, अपाकृ = अपाकरोति-२।५।५॥

अपि[945] - अपि का अर्थ – निन्दा, समुच्चय, प्रश्न, शंका और सम्भावना[946]। यास्क इसको संसर्ग अर्थ में स्वीकार करते है[947]। अपि शब्द पदार्थ=मधुनोऽपि स्यात; सम्भावना=अपि सिञ्चेत् मूलकसहस्रम्; अन्ववसर्ग=अपि सिञ्च (कामचार = करे या न करे); गर्हा=धिग् जाल्मं देवदत्तम् (निन्दा) तथा समुच्चय=अपि सिञ्च; इन अर्थों में निपात माना जाता है[948]।

भट्टभास्कर के आनुसार इसके निम्न अर्थ हैं - यथेष्टं कृन्तामि (छिनद्मि)[949]; अप्यतिष्ठत्[950]- अपि शब्दः = अध्यर्थे; अपिदधाति[951] - उपनिदधाति; तिरोदधाति[952]। अपिधा = अपिदधाति[953] – उपनिदधाति।

अपिदधाति - "अथो यज्ञस्यैव छिद्रमपिदधाति[954]"। धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः)। अपिदधाति, पिदधाति (अकार का लोप) = आच्छादन अर्थ में है या पूर्ति अर्थ में है।

अपिनयति - "स एवैनमपथात् पन्थानमपिनयति[955]"। नी (णीञ् प्रापणे)। अभिवृत्ति अर्थ एवं प्राप्त करवाने अर्थ में।

अपिरोहति - "पृथिव्यै खातमपि रोहति[956]"। रुह् (रुह बीजजन्मनि)। अपिरोहति उद्भव अर्थ में।

अपि-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

अपिकृत् = अपिकृन्तामि-१।२।५, १।३।१, ६।१।८, अपिगम् = अपि..अगस्महि-१।२।९, अपिग्रह् = अपिगृह्यते-६।५।८, अपिगृह्यताम्-६।४।९, अपिगृह्येताम्-६।४।१०, अपिदह् = अपिदहति-२।१।४, अप्यदहत्-२।१।४, ५।४।५, अपिधा = अपिदधाति-१।७।३, २।२।१०, ५।१।९, ६।३।५, अपिदधामि-४।१।१०,

---

945. "...रक्षसो ग्रीवा अपि कृन्तामि.."। तै.सं. १।२।५, पृ.२७९॥

946. "गर्हासमुच्चयप्रश्नशंकासम्भावनास्वपि"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक – २४८॥

947. नि. – १।१॥

948. "अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु"। अष्टा. – १।४।९५॥

949. "...रक्षसो ग्रीवा अपि कृन्तामि.."। तै.सं. १।२।५, पृ.२७९॥

950. "...एको देवो अप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना..."। तै.सं. – ५।६।१, पृ.३२९॥

951. "...अन्नमपि दधात्याज्येन..."। तै.सं. – ६।३।५, पृ.२०५॥

952. "..छिद्रमपि दधाति पृषदाज्यस्योपहत्य.."। तै.सं. – ६।३।१०, पृ.२२६॥

953. तै.सं. – ६।३।५॥

954. तै.सं. – १।७।३॥

955. तै.सं. – २।२।२१॥

956. तै.सं. – २।५।१॥

अपिदध्यात्-२।६।६, ५।२।५, ५।२।७, ६।३।५, अपिनी = अपिनयति-२।२।२, अपिरुह् = अपिरोहति-२।५।१, अपिवप् = अपिवपति-३।४।१, अपिवृज् = अपिवृञ्जन्ति-३।५।१०, अपिष्ठा = अप्यतिष्ठत्-५।६।१, अपिसंनह् = अपि..संनह्यत्-२।२।८, अपिसृज् = अपिसृजति-६।४।४, ६।६।६, अपिहन् = अपिघ्नन्ति-२।१।५, अपि+इ (अपी) = अप्येति-४।६।८, अपीहि-३।३।३॥

अभि[957] - अभि का अर्थ – आभिमुख्य अर्थात् सम्मुखता है।[958] अभि उपसर्ग क्षिप् धातु स्वरितेत् होने कारण कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था परन्तु अभि साथ होने से परस्मैपद हुआ[959] यह लक्षणा आदि अर्थों में निपात संज्ञक होता है।[960] तथा अव्ययीभाव समास में आभिमुख्य अर्थ में यह समास को प्राप्त होता है[961]। अभि उपसर्ग से युक्त क्रुध् एवं द्रुह् धातु के प्रयोग में जिस पर क्रोध किया जा रहा है उसको कर्मसंज्ञक माना जाता है (देवदत्तमभिक्रुध्यति)[962]। परन्तु यही क्रुध् धातु जब बिना उपसर्ग के प्रयुक्त होती है तो यह सम्प्रदानसंज्ञक को बताती है (देवदत्ताय क्रुध्यति[963]) अर्थात् अभि उपसर्ग यहाँ द्योतक मात्र है तथा कारक परिवर्तन मात्र तक सीमित है। विश् धातु के आधार को कर्म होता है यदि वह विश् धातु अभि एवं नि पूर्वक हो (ग्राममभिनिविशते[964]) परन्तु अभि व नि के बिना नहीं।

भट्टभास्कर के अनुसार इसके निम्न अर्थ हैं - आभिमुख्येन पश्यामि[965]; अभि अर्चामि[966]- आभिमुख्येन पूजयामि; अभ्यानट्[967] - अभिप्राप्नोति (अशू व्याप्तौ); अभि प्रणयति[968] - आभिमुख्येन नयति; अभि प्रेहि[969] - आभिमुख्येन गच्छ।

अभिगच्छति - "यद्वै हृदयेनाभिगच्छति तज्जिह्वया वदति[970]"। अर्थ – संवेदना एवं अनुभव अर्थ में।

अभिगृणाति - "पूर्वमेवोदितमुत्तरेणाभिगृणाति[971]"। गृ (गृ शब्दे)। अभिगृणाति = अनुवाद अर्थ में।

---

957. "..स्फात्यै त्वा नारात्यै सुवरभि वि ख्येषं वैश्वानर...."। तै.सं. – १।१।४, पृ.७२॥
958. नि. - १।१॥
959. "अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः"। अष्टा. – १।३।८०॥
960. "अभिरभागे"। अष्टा. – १।४।९०॥
961. "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये"। अष्टा. – २।१।१३॥
962. अष्टा. – १।४।३८॥
963. अष्टा. – १।४।३७॥
964. "अभिनिविशश्च"। अष्टा. – १।४।४६॥
965. "...स्फात्यै त्वा नारात्यै सुवरभि वि ख्येषं वैश्वानर...."। तै.सं. – १।१।४, पृ.७२॥
966. "...कविक्रतुमर्चामि सत्यसवसं रत्नधामभि प्रियं..."। तै.सं. – १।२।६, पृ.२८६॥
967. "...वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडर्कम्..। तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०५॥
968. "...एव स्तोममभि प्र णयति...। तै.सं. – ७।१।२, पृ.२३।
969. "....भद्रादभि श्रेयः प्रेहि..."। तै.सं. – १।२।३, पृ.२६०॥
970. तै.सं. – ६।३।१०॥

अभिवासयति - "भस्मनाभि वासयति[972]"। वस् (वस आच्छादने)। अभि = अभित वासयति = आच्छादयति।

अभिसमभवत् - "स सम्भवन्नग्नीषोमावभि समभवत्[973]"। अभि व सम् पूर्वक भू (भू सत्तायाम्)। धातु व्याप्ति (व्यापन, सर्वत्र गमन) अर्थ में है।

अभ्यक्रोशन् - "तं भूतान्यभ्यक्रोशन् ब्रह्महन्निति[974]"। क्रुश् (क्रुश आह्वाने रोदने च)। क्रोध से सम्बोधन अर्थ में।

अभ्यवायन् - "तदृषयो यज्ञवास्त्वभ्यवायन्, तेऽपश्यन् पुरोडाशम्[975]"। अभि एवं अव उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक इ (इण् गतौ) धातु दर्शन अर्थ में प्रयुक्त है।

अभ्युच्यति - "अभि वा एष एतानुच्यति येषां पूर्वापरा अन्वञ्चः प्रमीयन्ते[976]"। अभि पूर्वक उच् (उच समवाये)। अर्थ - आभिमुख्येन समवैति।

अभ्युद्धरेयुः - "यस्याग्नावग्निमभ्युद्धरेयुः[977]"। अभि एवं उत् पूर्वक हृ (हृञ् हरणे) धातु। भट्टभास्कर के अनुसार – "उपरि प्रणयनमुद्धरणम्। तस्योपरि पुनः प्रणयनमभ्युद्धरणम्"।

अभि-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

अभिनश् = अभ्यानट्-१।१।१४, अभिध्यै = अभ्यध्यायत्-१।५।९, ५।५।४, ६।१।३, अभ्यध्यायन्-७।२।८, अभिध्यायेत्-१।७।४, अभिधिन्व् (धि) = अभिधिनोति-६।६।१०, अभिधा = अभिदधाति-५।१।२, अभिद्रुह् = अभिद्रुह्यति-२।२।६, अभिदीक्ष् = अभिदीक्षन्ते-७।४।८, अभिदास् (उपक्षये) = अभिदासति-१।६।१२, ३।२।१०, अभितृद् = अभि..तृदन्ति-५।६।४, अभिजि = अभिजयति-१।७।५, २।१।३, ३।३।६, २।५।५, अभि..जयति-३।५।१०, ५।३।११, अभिजयन्ति-७।२।१, अभ्यजयत्-२।१।३, अभ्यजयन्-१।७।५, अभिजयेत्-६।६।४, अभिचर् (गतौ) = अभिचरति- २।२।९, अभिचरन्ति-२।२।९, अभिचरेत्-६।४।५, अभिघ्रा (जिघ्र) = अभिजिघ्रति-६।४।११, अभिघृ (घारि) = अभिघारयति-२।६।१, २।६।१, अभिघारयन्ति-२।६।३, अभिघारयामि-१।६।१, अभिगृ (ग्रह्) = अभिगृह्णाति-६।४।११, ६।५।७, अभि..गृह्णाति-१।६।९, अभ्यगृह्णात्-२।१।७, अभिगृ गृ (शब्दे) = अभिगृणाति-५।१।४, अभिगृणन्तु-४।३।४, अभि..गृणाहि-४।४।१२, अभिनी = अभ्यनयत्-२।५।२, अभिपा (रक्षणे) = अभिपातु-४।२।९, अभि..पाहि-१।४।१०, अभिपू = अभिपवते-३।२।३, अभिप्रतिगृ (शब्दे) अभिप्रतिगृणीयात्-३।२।९, अभिप्रथ् = अभिप्रथयति-२।६।३, अभिभू = अभि..भवन्ति-७।४।७, अभिभवाम-६।३।१०, अभि..अभवत्-७।४।७,

---

971. तै.सं. – ५।१।४॥

972. तै.सं. – २।६।३॥

973. तै.सं. – २।४।१२॥

974. तै.सं. – २।५।१॥

975. तै.सं. – २।६।३॥

976. तै.सं. – २।२।२॥

977. तै.सं. – २।२।४॥

अभि..भवेयम्-७।४।७, अभिभवेम-६।२।८, अभि..बभूव-४।१।६, अभि..भविष्यथ-२।४।२, अभिमन् = अभिमन्यते-१।६।७, अभिमन्यन्ते-३।४।९, अभ्यमन्यत-३।१।९, अभिमन्येत-१।६।७, अभिमन्त्रि (मन्त्र्) अभिमन्त्रयेत-१।६।८, अभिमृश् = अभिमृशति-१।५।८, २।६।५, ५।२।७, अभ्यमृशत्-५।५।२, अभिमृशेत्-२।४।३, अभियु = अभियोधि-३।५।१, अभिरक्ष् = अभिरक्षतु-२।१।११, अभिरक्षतात्-१।३।१४, अभिरुध् = अभ्यरुन्ध-६।१।६, अभिवद् = अभ्यवदत्-२।५।८, अभिवम् = अभ्यवमीत्-६।३।७, अभिवस् = अभिवासयति-२।६।३, अभिवह् = अभिवहति-५।४।१०, अभिवा = अभिवातु-७।४।१७, अभिवृष् = अभिवर्षति-३।१।१, अभिवर्षते-७।५।११, अभिव्यध् (विध्) = अभिविध्येत्-२।६।८, अभिव्याहृ = अभिव्याहरति-६।४।३, अभिशंस् = अभिशंसन्ति-२।१।१०, अभिशंसेयुः-२।१।१०, अभिशुच् (दीप्तौ) = अभिशोचति-४।७।१५, अभिषह् = अभि..सासहत्-१।३।१४, अभिषिच् = अभिषिञ्चन्ति-५।६।२, अभ्यषिञ्चन्-१।८।११, अभिषु (अभिषवे) = अभिषुणोति-३।२।२, ३।१।८, अभिषुण्वन्ति-६।४।४, अभिष्ठा = अभितिष्ठति-६।३।३, अभिहु = अभिजुहोति-३।१।५, अभिजुहोमि-१।३।२, अभि+इ (अभी) अभ्यायत-२।५।२, अभ्यायन्त-६।२।७, अभियन्तु-४।२।५, अभि+ई (अभी) = अभि..ईमहे-३।५।११, अभि+ईक्ष् = अभ्यैक्षेताम्-४।१।८, अभ्यैक्षन्त = ३।१।४, अभि+इन्ध् (अभीन्ध्) = अभीन्धे-५।१।७ अभि+अञ्ज् (अभ्यञ्ज्) = अभ्यङ्क्ते-२।५।१॥

अव[978] - अव का अर्थ – विनिग्रह है[979]। डुक्रीञ् धातु ञित् होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपदी है परन्तु अव उपसर्ग के साथ अकर्त्रभिप्राय क्रियाफल (जब क्रिया फल कर्त्ता के अभिप्राय को सिद्ध न कर रहा हो) तो भी आत्मनेपद होता है।[980] स्था[981] के साथ अव का प्रयोग होने से अवस्थित अर्थ निष्पन्न होता है।

भट्टभास्कर के अनुसार निम्न अर्थ हैं - पद्भ्याम् अवक्रम्य मा गाम्[982]; मा अव क्रमिषम्[983] - अवक्रम्य मा गाम्; अव गूहामि[984] - सुगुप्तं स्थापयामि; अव तनुहि[985] - अवाचीनं कुरु नाशय।

अवख्यन् - "ते दुश्चक्षा माऽवख्यन्[986]"। ख्या (ख्याञ् प्रकथने)। दर्शन अर्थ में।

अवगमयन्ति - "आदित्या विश्वमवगमयन्ति[987]"। गम् (गम्लृ गतौ)। अर्थ – प्राप्त करने अर्थ में है।

---

978. "..वो माऽव क्रमिषमच्छिन्नं....."। तै.सं. – १।२।३, पृ.२५९॥

979. नि. – १।१॥

980. "परिव्यवेभ्यः क्रियः"। १।३।१८॥

981. "समवप्रविभ्यः स्थः"। अष्टा. – १।३।२२॥

982. "...वो माऽव क्रमिषमच्छिन्नं....."। तै.सं. – १।२।३, पृ.२५९॥

983. "...अग्नाविष्णू मा वामव क्रमिषं.."। तै.सं. – १।१।१२, पृ.१६६॥

984. "...त्वा सानावव गूहामि..."। तै.सं.- १।३।६, पृ.४२७॥

985. "...अव स्थिरा तनुहि.."। तै.सं. – १।२।१४, पृ.३५९॥

986. तै.सं. – ३।२।१०॥

987. तै.सं. – २।३।१॥

अवास्यति - "यूपशकलमवास्यति[988]"। अस् (असु क्षेपे)। अवास्यति = गर्त में गिरना। यहाँ अव शब्द अधःके अर्थ में है।

अवेक्षते - "आशीविषो नैनो राजानमवेक्षते[989]"। ईक्ष् (ईक्ष दर्शने)। देखना अर्थ है – राजा पर दृष्टिपात नहीं हैं।

अवोक्षति - "दध्ना मधुमिश्रेणावोक्षति[990]"। उक्ष् (उक्ष सेचने)। अर्थ = अवाङ्मुख व हस्त से सेचन अर्थ में है।

अव-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

अवकलृप् (कल्प्) = अवकल्पते-५।४।१०, ५।४।९, अवकल्पयन्ति-६।६।११, अवक्रम् = अवक्रामति-५।१।२, अवख्या = अवख्येषम्-३।२।५, अवगम् = अवगच्छति-२।३।१, अवगच्छतु-६।६।५, अवगच्छेत्-२।३।१, अवगमयन्ति-२।३।१, अवगुह् (गूह्) = अवगुहामि-१।३।६, अवघ्रा (जिघ्र) = अवजिघ्रसि-५।७।२६, अवजिघ्रेत्-३।१।२, अवचर् = अवचरन्ति-६।४।२, अवचृत् = अवचृतेत्-६।१।३, अवच्छिद् = अव..छिद्यते-२।२।५, अवतन् = अव..तनुष्व-४।५।१०, अव..तनुहि-१।२।१४, अवतॄ (तिर्) = अवतिरति-६।१।१०, अवतिरेत्-६।१।१०, अवदय् = अवदयते-६।३।१०, अवदा (दो अवखण्डने) = अवद्यति-२।६।६, २।३।२, अवद्यन्ति-५।३।१२, अवद्येत्-२।६।८, २।२।११, अवधा = अवदधाति-२।३।१३, अवदध्यात्-५।१।९, ६।१।७, अवधाव् = अवधावति-४।६।८, अवधू = अवधूनोति-२।४।१०, अव..अधूषत-१।८।५, अवनी = अवनयति-६।१।६, ६।५।२, अवनयामि-१।३।२, अवनयेत्-६।५।१, अवपद् = अवपद्यते-५।५।१, अवपद्यन्ते-६।३।९, अवबाध् = अवबाधामहे-४।७।१४, अवभिद् = अवभिन्दन्ति-७।५।१०, अवमृश् = अवमृशेत्-३।२।६, अवयज् = अवयजते-२।३।१२, अवरुध् = अवरुन्धे-१।५।२, १।७।४, ३।३।६, अवलुप् = अवलुम्पन्ति-३।२।२, अवव्यध् (विध्) = अवविध्यति-२।५।५, ७।४।५, अवशीय् = अवशीयन्ते- १।८।१, अवसृज् = अवासृजत-६।२।३, अवसृप् = अवसर्पति-४।५।१, अवसर्पतु-४।२।७, अवसो (सा>सायि>सि>स्) = अवस्यति२।५।६, अवस्तॄ = अवस्तृणाति-६।२।१०, अवस्तृणामि-१।३।२, अवहन् = अवहन्ति-५।२।८, अव..हन्ति-१।६।९॥

आङ्[991] - आङ् का अर्थ – थोडा, सम्पूर्ण, व्याप्त, सीमा, क्रियायोगज[992]। किन्तु यास्क इसको अर्वाक् (इधर) = आ पर्वतात् (पर्वत से इधर) अर्थ में मानते हैं।[993]आङ् पूर्वक दा धातु अनास्यविहरण=मुख खोलने अर्थ में न होना अर्थ को बताती है (विद्याम्

---

988. तै.सं. – ६।३।४॥

989. तै.सं. – ६।६।७॥

990. तै.सं. – ५।४।५॥

991. "...शुचिरा पूत एमि..."। तै.सं. – १।२।१, पृ.२२४॥

992. "आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक – २३९॥

993. नि. – १।१॥

आदत्ते)[994]। आङ् पूर्वक ह्वेञ् धातु स्पर्धा विषय में होती है (मल्लो मल्लम् आह्वयते=ललकारता है)[995]। आङ् उत् उपसर्ग के साथ कृ धातु के योग में अवक्षेपण अर्थ को बताता है (श्येनो वार्तिकामुदाकुरुते=बाज बत्तख को भर्त्सना करता है अर्थात् उठा कर ले जाता है)[996]। आङ् क्रम धातु के साथ उद्गमन=उदय होने अर्थ को बताता है (आत्मनेपद – आदित्य आक्रमते)[997]। लिय् धातु= लीङ् श्लेषणे तथा ली श्लेषणे धातुएँ आङ् उपसर्ग के साथ सम्मानन अर्थ को प्रकट करती हैं तथा आत्मनेपद होता है।[998] ग्रन्थ-विषयक प्रयोग न होने पर आङ् पूर्वक यम् कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद में होती है (वस्त्रम् आयच्छते)[999]। आङ् मर्यादा और अभिविधि अर्थ में निपात भी है तथा अव्ययीभाव समास को प्राप्त होता है।[1000] श्रु के साथ आङ् के योग में पूर्व का कर्त्ता सदैव सम्प्रदान कारक में होता है (यज्ञदत्तः देवदत्ताय गाम् आश्रृणोति)[1001]। कालीदासीय प्रयोग में इसको "जब तक कि" अर्थ में भी होता है – "आ परितोषाद्विदुषां..."[1002]।

भट्टभास्कर के अनुसार निम्न अर्थ हैं - आगच्छामि[1003]। आ जिघर्मि[1004] - मर्यादया क्षारयामि, घृ क्षरणदीप्त्योः जौहोत्यादि। आ जिघर्मि[1005] - आभिमुख्येन संदीपयामि। आ जिघ्र[1006] - आभिमुख्येन जिघ्र। आतनच्मि[1007] - घनीकरोमि। आ दधे[1008] - स्थापयामि। आ प्यायध्वम्[1009] - आप्याययत, सा. प्रवृद्धं कुरुत। आ पृणाति[1010]- आभिमुख्येन पुरयतु, अखण्डितमापादयतु (पृ पालनपूरणयोः)। आ वद[1011] आभिमुख्येन वद। आ वहन्ति[1012] - आ वहन्ति। आवृञ्जे[1013]- आकर्षामि। आरभे[1014] - बध्नामि। आ रभे[1015] - आलभे स्पृशामि। रलयोरेकत्वं स्मर्यते।

---

994. "आङो दोऽनास्यविहरणे"। अष्टा. – १।३।२०॥

995. "स्पर्धायामाङः"। अष्टा. – १।३।३१॥

996. "गन्धनावक्षेपण..."। अष्टा. – १।३।३६॥

997. "आङः उद्गमने"। अष्टा. – १।३।४०॥

998. "लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च"। अष्टा. – १।३।७०॥

999. "समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे"। अष्टा. – १।३।७५॥

1000. "आङ् मर्यादावचने"। अष्टा. – १।४।८८, "आङ् मर्यादाभिविध्योः"। अष्टा. – २।१।१२॥

1001. अष्टा. – १।४।४०॥

1002. अभि.शा. – १।२॥

1003. "...शुचिरा पूत एमि.."। तै.सं. – १।२।१, पृ.२२४॥

1004. "...पृथिव्यास्त्वा मूर्धन्ना जिघर्मि देवयजन इडायाः..."। तै.सं. – १।२।५, पृ.२७९॥

1005. "...रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं.."। तै.सं. – १।२।१४, पृ.३७१॥

1006. "...घ्रापयेदा जिघ्र कलशं..."। तै.सं. – ७।१।६, पृ.६७॥

1007. "....सोमेन त्वाऽतनच्मीन्द्राय दधि.."। तै.सं. १।१।३, पृ.५९॥

1008. "..यज्ञियं तेन त्वाऽऽदधे.."। तै.सं. – १।२।१२, पृ.३३४॥

1009. "..कर्मण आप्यायध्वमघ्निया..."। तै.सं. – १।१।१, पृ. – १५॥

1010. "...अग्निष्टद् विश्वमा पृणाति विद्वान् येभिर्देवाम्..."। तै.सं.१।१।१४, पृ.२१५॥

1011. "...दुर्या आ वद देवश्रुतौ..."। तै.सं. – १।२।१३, पृ.३४२॥

1012. "...त आ वहन्ति कवयः..."। तै.सं. – १।१।२. पृ.३८॥

1013. "...आ वृञ्जे सुवः।.."। तै.सं. – ७।३।११, पृ.३१०॥

1014. "....पाशेनाऽऽरभे धर्षा.."। तै.सं. – १।३।८, पृ.४३८॥

आसदे[1016] – आसादयितव्यम्। मा आ स्थात्[1017] - मा प्रदेशान्तरम् आतिष्ठतु। आङ्+उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः (रुधादिगण) = आच्छृणत्ति[1018] – दीपयति। आकि = आचिकेतु[1019] – अनुजानातु। आतञ्च् = आतनच्मि[1020] - घनीकरोमि। आदधे[1021] - स्थापयति। आपृ (पॄ) (पूरणे) = आ..पृणाति[1022] – आभिमुख्येन पूरयतु। आप्याय् (ष्यै) = आप्यायताम्[1023] – वर्धताम्। आप्याय[1024] – संपन्नान् कुरु। आप्यायस्व[1025] – पर्याप्तो भव। आभा = आ..भाति[1026] – समन्तात् प्रकाशते। आविवास् = आविवासन्ति[1027] – परिचरन्ति। आवद् = आवद[1028] – आवेदय।

आक्रोशति - "आऽन्यः क्रोशति प्रान्यः शंसति[1029]"। आङ् पूर्वक क्रुश् (क्रुश आह्वाने रोदने च) अर्थ – निन्दा करना, परिवाद करना, आक्रोश करना।

आचके - "त्वामवस्युराचके"[1030]। कै (कै गै शब्दे)। आ = आभिमुख्येन चके = शब्दयामि।

आच्छृणत्ति - "अजक्षीरेणाच्छृणत्ति[1031]"। छृद् (उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः)। असुर्यं पात्रम्। दीपयति।

आच्छ्यन्ति - "मध्यतो हि मनुष्या आच्छ्यन्ति[1032]"। छो (छो तनूकरणे)। आच्छ्यन्ति छिन्दन्ति।

आतनच्मि - "सोमेन त्वाऽऽतनच्मि[1033]"। तञ्च् (तञ्चू संकोचने)। आतनच्मि घनीकरोमि। त्वा क्षीरम्।

[1015]. "...स्थस्ते वामा रभे ते मा ...."। तै.सं. – १।२।२, पृ.२४१॥

[1016]. "....जुष्टमिह बर्हिरासदे.."। तै.सं. – १।१।२, पृ. ३८॥

[1017]. ".....स ते माऽऽस्थादिन्द्रस्य.."। तै.सं. – १।१।२, पृ.४४॥

[1018]. "देवत्राऽकरजक्षीरेणाऽऽच्छृणत्ति परमं वा"। तै.सं. – ५।१।७, ज्ञानयज्ञभाष्य – आच्छृणत्ति छागादिपयसा दीपयति उखाम्।

[1019]. "बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने रण्वतु रुद्रो वसुभिरा चिकेतु"। तै.सं. – १।२।५, ज्ञानयज्ञभाष्य – तच्च क्रियमाणं वसुभिः सह रुद्रः आ चिकेतु अनुजानातु यः पशूनां पतिः॥

[1020]. तै.सं. – १।१।३॥

[1021]. तै.सं. – १।२।१२॥

[1022]. तै.सं. – १।१।१४॥

[1023]. "हे देव सोम, ते त्वदीयः अंशुरंशुः सर्वोऽवयवः आप्यायतां वर्धताम्"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।२।११।

[1024]. "प्यायस्वाऽऽप्यायय सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम.."। तै.सं. – १।२।११। ज्ञानयज्ञ - सखीन् समानख्यानान् ऋत्विजः सन्या धनेन मेधया च यागनिर्वर्तनसमर्थया आ प्यायय संपन्नान् कुरु॥

[1025]. "इन्द्रः अपि तुभ्यं त्वदर्थ त्वत्पानार्थम् आ प्यायतां पातु समर्थो भवतु। त्वं चाप्यायमानसर्वांशुः इन्द्रार्थम् आप्यायस्व पर्याप्तो भव"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।२।११॥

[1026]. तै.सं. – १।३।१४॥

[1027]. "त्वमेव शरणं मे यथा भवसि, तदर्थं सुयज्ञाः शोभनयज्ञाः कवयः मेधाविनस्त्वामेव आ विवासन्ति परिचरन्ति। तस्मात् त्वामेव प्रार्थयामहे"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।४।१८॥

[1028]. "हविर्लक्षणं यदिदमन्नम् आ वद देवेभ्यः आवेदय.."। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।५॥

[1029]. तै.सं. – ७।५।९॥

[1030]. तै.सं. – २।१।११॥

[1031]. तै.सं. – ५।१।७॥

[1032]. तै.सं. – ६।३।९॥

आदत्ते - "यद्वा अनीशानो भारमादत्ते वि वै लिशते[1034]"। दा (डुदाञ् दाने)। आदत्ते वहति।

आबभूवुः - भू (भू सत्तायाम्, भू प्राप्तौ) "देवाः सुतमा बभूवुः[1035]"। आबभूवुः प्राप्ताः।

आयुवस्व - "रायस्पोषं त्वमस्मभ्यं गवां कुल्मिं जीवस आयुवस्व[1036]"। आङ् पूर्वक यु (यु मिश्रणामिश्रणयोः) देने अर्थ में है।

आङ्-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

आकि = आचिकेतु-१।२।५, आकृ = आकृधि-३।३।८, ४।२।१, आ..कृणुध्वम्-१।३।१४, आकै (कान्तौ) = आचके-२।१।११, आक्रन्द् (क्रन्दि) = आक्रन्दय-४।६।६, आक्रन्दयते-४।५।२, आक्रम् = आक्रमते-६।३।२, आक्रामति-५।६।६, आक्रामेत्-५।६।६, आ..अक्रमीत्-१।५।३, आक्रुश् = आ..क्रोशति-७।५।९, आक्षि (निवासे) = आक्षेति-३।२।११, आगम् = आगच्छति-३।१।१, आ..गच्छति-२।५।२, आगच्छन्ति-६।१।२, १।६।७, आगच्छेत्-७।५।२१, आगच्छेयुः-६।१।२, आगमन्तु-२।६।१२, आ..गन्तु-१।८।२२, आगहि-१।४।३९, आगतम्-१।४।१५, आगा (गतौ) = आगात्-१।३।१४, आघुष् = आघोषेथाम्-१।२।१३, आतन् = आतन्वन्ति-४।२।९, आतनुष्व-१।२।१४, आततान-२।२।१२, ४।१।२, आ..ततान-१।५।११, आतञ्च् = आतनक्ति-२।५।३, आतनच्मि-१।१।३, आजन् (जा) = आ..जायते-१।५।८, ३।२।९, आ..जायन्ते-७।१।८, आ..जायताम्-१।२।१३, आ..जजान-४।६।२, आ+अञ्ज् = आङ्क्ते-२।५।१, आनक्ति-४।१।८, आच्छो (च्छ्) = आच्छद्यति-६।३।९, आच्छद्यन्ति-६।३।९, आचर् = आचरन्ति-२।३।१४, आचर-२।३।१४, आदा = आदत्ते-६।२।५, २।६।४, आददे-१।१।९, आददते-७।५।९, आ..ददते-६।३।२, आददे-१।१।९, आददीत- २।३।१ आतृ (तर्) = आतर-२।६।११, ४।१।९, आनश् = आ..आनट्-१।३।१४, आनी = आनयति-६।४।११, आनम् = आनमस्व-२।६।११, आधु (धू) = आधूनोमि-३।३।३, आधाव् = आधावन्तु-१।४।२, आधा = आधत्ते-१।५।१, आदधाति-१।५।४, ५।४।७, आदधे-४।२।६, १।२।१२, आ..दधामि-१।६।२, आ..दधातु-४।१।५, आपत् = आ..पतति-१।७।१३, आपॄ (पॄ) (पूरणे) = आ..पृणाति-१।१।१४, आ..अपृणात्-४।२।२, आपृणेथाम्-१।३।१, आपृणध्वम्-४।६।८, आप्याय् (प्यै) = आप्यायते-१।७।५, आप्यायताम्-१।२।११, आ..प्यायताम्- १।२।११, आप्याययति-३।२।२, १।७।५, आ..प्याययति-२।३।५, आप्री = आप्रीणाति-५।१।८, आबध् = आबध्नाति-२।४।१०, आभा = आ..भाति-१।३।१४, ४।२।१, आभाहि-४।१।७, आभू = आभवति-१।७।२, आभवन्ति-१।७।२, आबभूव-१।६।६, आमृड् = आ..मृडाति-१।१।१४, आयम् (यमने) = आयामयन्ति-४।६।९, आयज् = आयजस्व-४।३।४, आयजे-४।५।१०, आया = आयाति-२।३।१४, आ..याति-३।४।११, आयातु-२।२।१२, आयाहि-२।५।७, आयु (मिश्रणे) = आयुवस्व-२।४।५, आविवास् = आविवासयति-२।३।१४, आविवासयन्ति-१।४।१८, आविद् (ज्ञाने) = आवेदयति-७।१।६, आवह् = आ..वहन्ति-६।१।११, आ..वहन्तु-२।६।१२, आवह-१।२।१२,

---

[1033]. तै.सं. – १।१।३॥

[1034]. तै.सं. – ६।२।५॥

[1035]. तै.सं. – ३।८।३॥

[1036]. तै.सं. – २।४।५॥

आ..वह-१।६।७, आवध् = आवधीत्-२।६।११, आवद् = आवद-१।१।५, आलभ् = आलभते-२।५।५, १।६।७, आलभन्ते-७।५।६, आलभेत-३।५।१, आलभ्यते-५।४।१२, ५।५।१, आलभ्यन्ते-५।५।१, आविश् = आविशति-७।१।७, आविशतु-७।३।१३, आ..विशतु-४।२।७, आ..विशन्तु-७।१।६, आवृ (वरणे) आवृणे-१।६।१२, आ..वृणे-४।६।५, आ..वृणीमहे-३।४।११, आवृत् = आवर्तते-३।२।९, आवर्तन्ते-५।२।५, आवर्तयति-३।४।१, आवर्तयतु = १।२।४ आवृश्च् = आवृश्चति-५।३।७, आशंस् = आशंसन्ते-२।५।८, आशास् = आशास्ते-१।५।७, ३।१।८, ४।६।७, आशृ (संमिश्रणे) = आश्रृणामि-७।३।११, आश्रु (श्रवणे) = आश्रावयति-५।४।७, आश्रावय-१।६।११, आश्रावयेत्-३।१।२, ३।१।२, आसद् (सीद्) = आ..सदन्तु-४।१।८, आस्कन्द् = आ..अस्कान्-३।१।८, आस्था (तिष्ठ) = आतिष्ठ-१।४।३७, ४।६।४, आहन् = आहते-३।१।४, आघ्नन्ति-७।५।९, आह्व = आहरति-१।७।३, आ..हरति-५।२।१, आह्वे (हु, हू) = आ..हवामहे-१।७।१३॥

उत्[1037] - उद् का अर्थ – अविनिग्रह है[1038]। उत् ऊपर उठने अर्थ से भिन्न अर्थ में स्था धातु के साथ होता है (गेहे उत्तिष्ठते=घर में उन्नति करता है)[1039] उत् जब तप् धातु के साथ होता है तो वह "बहुत, अधिक, सम्यक्" जैसे अर्थों को बताता है(उत्तपति)[1040]। यह कृ धातु के साथ गन्धन अर्थ को प्रकट करता है (उत्कुरुते) तथा आङ् के साथ मिलकर अवक्षेपण अर्थ भी देता है (श्येनो वार्त्तिकामुदाकुरुते)[1041]। नी धातु के साथ उत्सञ्जन अर्थ (दण्डमुन्नयते= दण्ड को उछालता है)[1042] चर् धातु के साथ उल्लंघन अर्थ (धर्ममुच्चरते= धर्म का उल्लंघन करके जाता है)[1043] यम् धातु के साथ उद् उठाने अर्थ को बताता है (भारमुद्यच्छते)[1044]।

भट्टभास्कर के अनुसार यह निम्न अर्थों में है - उद्गृह्णातु उपरि स्थापयतु[1045]। उदस्थाम्[1046] - उत्तिष्ठामि। उत्तिष्ठाम[1047]- उच्छ्रिता भूयास्म। उत्पतन्ति[1048] - उत्क्रम्य उपरि गच्छन्ति। उत्पुनातु[1049] - ऊर्ध्वं शोधयतु। उद्यच्छति[1050] - ऊर्ध्वमाकर्षति। उद्यच्छे[1051] - उत्क्षिपामि। उद्वपामि[1052] - उद्धृत्य

1037. "...प्रसवेनोद्वाभेणोदग्रभीत्"। तै.सं. – १।१।१३, पृ.१७७॥

1038. नि. – १।१॥

1039. "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि"। अष्टा. – १।३।२४॥

1040. "उद्विभ्यां तपः"। अष्टा. – १।३।२७॥

1041. "गन्धनावक्षेपण.."। अष्टा. – १।३।३२॥

1042. "सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण..."। अष्टा. – १।३।३६॥

1043. "उदश्वरः सकर्मकात्"। अष्टा. – १।३।५३॥

1044. "समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे"। अष्टा. – १।३।७५॥

1045. "...प्रसवेनोद्वाभेणोदग्रभीत्"। तै.सं. – १।१।१३, पृ.१७७॥

1046. "..शुष्मेणोदस्थाममृताम् अनु..."। तै.सं. – १।२।८, पृ.२९७॥

1047. "...वाचाऽऽनृचुर्यदतोध्यर्चितारस्तदुभयमात्वाऽवरुध्योत्तिष्ठामेति..."। तै.सं. – ७।३।१, पृ.२५५॥

1048. "...वसाना दिवमुत्पतन्ति..."। तै.सं. – ३।१।११, पृ.९०॥

1049. "...देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण..."। तै.सं. – १।१।५, पृ.८१॥

1050. "...मृज्याद्वृष्टिमेवोद्यच्छति.."। तै.सं. – तै.सं. – ६।४।५, पृ.२५९॥

1051. "....त्वा बाहुभ्यामुद्यच्छे.."। तै.सं. – १।१।२, पृ.४५॥

बहिः प्रक्षिपामि। उद् वहन्ति[1053] - ऊर्ध्वं वहन्ति। उत्खिदति[1054]- उद्धरति। उद्-वह् (प्रापणे) = उद्..वहन्ति[1055] – ऊर्ध्वं वहन्ति।

उदजयत् - "धाता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत्[1056]"। जि (जि जये, जि अभिभवे)। विजय/पाने अर्थ में।

उदायत - "सोऽग्नेः कृष्णो रूपं कृत्वोदायत[1057]"। अय् (अय गतौ)। उदायत निरायत निरक्रामत्।

उदाह्रियते - "यत्तृतीयं छदिर्हविर्धानयोरुदाह्रियते[1058]"। हृ (हृञ् हरणे)। उदाह्रियते उपर्याह्रियते।

उद्गृह्णाति - "ब्रह्मणैवात्मानमुद्गृह्णाति ब्रह्मणा भ्रातृत्वं निगृह्णाति[1059]"। उद् पूर्वक ग्रह् (ग्रह उपादाने)। उद्गृह्णाति - उन्नयन व उत्कर्ष अर्थ में है।

उद्गृह्णाति - "भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद् गृह्णाति[1060]"। ग्रह् (ग्रह उपादाने)। उठाने अर्थ में है, जैसे - भारम् उद्यच्छते[1061]।

उद्गृह्णाति - "ब्रह्मणैवात्मानमुद्गृह्णाति[1062]"। ग्रह उपादाने। उद्गृह्णाति उच्छ्रितं करोति।

उद्यच्छति - "स्यादित्युत्तानेन निमृज्याद् वृष्टिमेवोद्यच्छति[1063]"। यम उपरमे। उद्यच्छति ऊर्ध्वमाकर्षति।

उत्-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

उत्खिद् = उत्खिदति-६।३।९, उदखिदत्-२।१।१, उत्क्रम् = उदक्रमीत्- ४।१।२, ५।१।३, उत्क्रमयति-५।१।३, उत्कृष् = उद्..कृषति-४।२।५, उद्-ज्वल् = उदज्वलत्-२।६।९, उद्-जि = उज्जयति-१।७।४, उदजयत्-१।७।११, उदजयताम्-१।७।११, उदजयन्-१।७।४, उदजयन्-५।७।२, उत्-तिष्ठते-७।१।१९, उत्-पत् (गतौ) = उत्पतन्ति-३।१।११, उदपतत्-६।१।६, उद्-अञ्च् = उदचति-७।५।६, उत्-सृज् = उत्सर्जति-५।२।२, उत्सर्जेत्-६।२।९, उत्सृजति-५।१।८, उदसृजत्-६।६।१, उद्-गृह् = उद्गृह्णाति-६।२।८, ५।४।६, उत्-इ = उदैति-५।२।२, उद्-

---

[1052]. "...तं वलगमुद्वपामि यं नः....."। तै.सं. – १।३।२, पृ.३८६॥

[1053]. "...सोममद्रावुदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति.."। तै.सं. – १।२।८, पृ.२९९॥

[1054]. तै.सं. – ६।३।९॥

[1055]. तै.सं. – १।२।८॥

[1056]. तै.सं. – १।७।११॥

[1057]. तै.सं. – ५।२।६॥

[1058]. तै.सं. – ६।२।९॥

[1059]. तै.सं. – ५।४।६॥

[1060]. तै.सं. – ६।२।८॥

[1061]. अष्टा. – १।३।७५॥

[1062]. तै.सं. – ५।४।७॥

[1063]. तै.सं. – ६।४।५॥

ऊह् (वहने) = उदूहेत्-६।३।४, उद्-ईर् = उदीरते-१।१।१, उद्..ईरते = १।३।१४, उद्-इ = उदायत-५।२।६, उदेति-६।५।४, ७।५।१, उद्यन्ति-२।६।१०, उदायन्-२।१।४, ५।७।२, उद्-नी = उन्नयते-६।२।४, उन्नये-१।३।१३, उन्नयामि-४।१।१०, उद्-वै = उदवायति-५।७।५, उद्-वह् (प्रापणे) = उद्..वहन्ति = १।२।८, उद्-वस् (निवासे) – उद्वासयते-१।५।२, उद्वासयति-२।६।३, उद्-वपति-५।१।७, ६।२।११, उद्वपतु-४।१।६, उद्-वध् = उद्वधीत्-४।२।९, उद्-यम् = उद्-यच्छते-५।१।१०, उद्यच्छति-६।३।४, उद्-भृ = उद्..भरन्तु-४।२।३, ५।२।२, उद्-बुध् = उद्बुध्यस्व-४।७।१३, उद्-हन् = उद्धन्ति-२।६।४, ५।२।३, उद्-धा = उद्..धेहि-७।४।१९, उद्-हा (गतौ) = उज्जिहताम्-४।१।२, उद्-हृ = उद्धरते-६।५।५, उद्धरति-३।४।८, उद्..हरन्ति-६।५।१०॥

उप[1064] - उप का अर्थ – उपजन है[1065]। मन्त्रकरण अर्थ में उप स्था धातु के साथ प्रयुक्त होता है (आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते=अग्नि देवता वाली ऋचा को बोलकर आग्नीध्र के पास जाता है)[1066]। उप को समीप अर्थ में माना जाता है (उपह्वयते=समीप बुलाता है)[1067] तथा समीप अर्थ में ही इसमें अव्ययीभाव समास होता है[1068]। सुट् आगम सहित उप के साथ कृ धातु को प्रतियत्न अर्थ में माना जाता है (एधोदकस्य उपस्कुरुते)[1069]। क्रम् धातु के साथ यह प्रारम्भ अर्थ को बताता है[1070] कदाचित् प्र उपसर्ग भी उप के समान क्रम् के साथ समान अर्थ (प्रारम्भ अर्थ) को बताता है[1071]। वद धातु के साथ यह उपसम्भाषा अर्थ को बताता है (कर्मकरानुपवदते = नौकरों को सान्त्वना देता है)[1072]। उप उपसर्ग यम् धातु के साथ स्वकरण=पाणिग्रहण अर्थ में (कन्यामुपयच्छते)[1073], युज् के साथ अयज्ञपात्र विषय में[1074], रम् के साथ यह हटाने अर्थ में (देवदत्तमुपरमति = देवदत्त को हटाता है)[1075] होता है। निपात संज्ञक होते हुए यह अधिक व हीन अर्थ को बताता है (उपखार्यां द्रोणः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः)[1076]।

भट्टभास्कर ने इसको निम्न अर्थों में भी माना है - उपगच्छति[1077]। उपैति[1078] - उपसंप्राप्नोति। उपो अयामि[1079] - उपो अयामि समीपं प्रापयामि।

[1064]. "..उपो ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे..."। तै.सं. – ३।४।२, पृ.२९९॥

[1065]. नि. - १।१॥

[1066]. "उपान्मन्त्रकरणे"। अष्टा. – १।३।२५॥

[1067]. "निसमुपविभ्यो ह्वः"। अष्टा. – १।३।३०॥

[1068]. "अव्ययं विभक्ति.."। अष्टा. – २।१।६॥

[1069]. "गन्धनावक्षेपण..."। अष्टा. – १।३।३२॥

[1070]. "उपपराभ्याम्"। अष्टा. – १।३।३९॥

[1071]. "प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्"। अष्टा. – १।३।४२॥

[1072]. "भासनोपसम्भाषा.."। अष्टा. – १।३।४७॥

[1073]. "उपाद्यमः स्वकरणे"। अष्टा. – १।३।५६॥

[1074]. "प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु"। अष्टा. – १।३।६४॥

[1075]. "उपाच्च"। अष्टा. – १।३।८४॥

[1076]. "उपोऽधिके च"। अष्टा. – १।४।८६॥

[1077]. "..उपो ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे..."। तै.सं. – ३।४।२, पृ.२९९॥

उपचिन्वन्ति[1080] - उपहितवन्तः। उपतिष्ठन्ते[1081] - समीपे तिष्ठन्ति। उपवपति[1082] - स्थलीकरोति। उपह्वे[1083] - आह्वयामि। उपगा = उपगेषम्[1084] – उपगतो भूयासम्। उपया = उपयाहि[1085] – आगच्छ। उपावस्रज् = उपावसृजति[1086] – विमुञ्चति।

उपचिन्वन्ति - "यानि घर्मे कपालान्युपचिन्वन्ति वेधसः[1087]"। चि (चिञ् चयने)। उपचिन्वन्ति = उपस्थापना अर्थ में।

उपजीवन्ति - "इतः प्रदानमुत देवा उपजीवन्ति, अमुतः प्रदानं मनुष्याः उपजीवन्ति[1088]"। जीव् (जीव प्राणधारणे)। उपजीवन्ति = आश्रय पर जीना या संश्रय प्राप्त करना।

उपदोद्राव - "पशून् यजमानस्योप दोद्राव[1089]"। द्रु (द्रु गतौ)। उपदोद्राव - उपद्रव उपाप्लव अर्थों में।

उपनह्यामि - "वृष्णो अश्वस्य सन्दानमि वृष्ट्यै त्वोपनह्यामि[1090]"। नह् (णह बन्धने)। उपनह्यामि - बन्धन अर्थ में।

उपवसन्ति - "उपास्मिञ्छवो यक्ष्यमाणे देवता वसन्ति[1091]"। वस् (वस निवासे)। उपवसन्ति = पास में वास करने अर्थ में।

उपसेदुः - "भद्रं पश्यन्त उप सेदुरग्रे तपो दीक्षामृषयः सुवर्विदः"।[1092] उपसेदुः समीपस्थ बैठने अर्थ में।

उपहरते - "तस्मात्स्थेयानस्थेयसो नोपहरते[1093]"। हृ (हृञ् हरणे)। उपहरते उपदा को देने अर्थ में।

[1078]. "...भूत्वा मेधमुपैत्यङ्गिरसः सुवर्गं..."। तै.सं. – ६।१।१, पृ.४॥

[1079]. "...उपो ते अन्धो मद्यमयामि.."। तै.सं. – १।४।४, पृ.४३५॥

[1080]. "..कपालान्युपचिन्वन्ति.."। तै.सं. – १।१।७, पृ.१०८॥

[1081]. "..पश्यन्तः पशवः उप तिष्ठन्ते"॥ तै.सं. – ५।२।८, पृ.१००॥

[1082]. "..चात्वालाद्धिष्णियानुप वपति.."। तै.सं. – ६।३।१, पृ.१७५॥

[1083]. "..विश्वरूपमुप ह्वये।..."। तै.सं. – ३।१।११, पृ.८१॥

[1084]. तै.सं. – १।२।१०॥

[1085]. "ऋधगयाड्ढधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुप याहि विद्वान्"। तै.सं. – १।४।४४, ज्ञानयज्ञभाष्य - "..तस्मात् भूयोऽपि अस्मदीयं यज्ञं पुनः पुनः उप याहि आगच्छ विद्वान् सर्वार्थसाधनोपायज्ञः॥

[1086]. "तस्मादवकाशे न अपरात्स्यामि नापराधी स्यामिति इषुविसर्जनविषयाविषयविवेके अवधारणवान् एव इषुम् उपावसृजति विमुञ्चति"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ६।४।११॥

[1087]. तै.सं. – १।५।१०॥

[1088]. तै.सं. – ३।२।९॥

[1089]. तै.सं. - १।५।१॥

[1090]. तै.सं. – २।४।७॥

[1091]. तै.सं. – १।६।७॥

[1092]. तै.सं. – ५।७।४॥

[1093]. तै.सं. – ५।२।६॥

उपनिगृह्णाति - "नानावीर्या अङ्गुलयः, सर्वास्वङ्गुष्ठमुपनिगृह्णाति[1094]"। ग्रह् (ग्रह उपादाने)। उप= समीप में, नि= नियमेन, प्राप्त करता है।

उपाकुर्यात् - "ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्त्रोत्रमुपाकुर्यात्[1095]"। कृ (डुकृञ् करणे)। उपक्रम को करने अर्थ में।

उपावर्तस्व - "ते देवा अब्रुवन्नुप न आवर्तस्व हव्यं नो वहेति[1096]"। वृत् (वृतु वर्तने)। उपावर्तस्व = समीप आने अर्थ में, सन्निधान अर्थ में।

उपाप्नोति - "यं एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति यावदग्निष्टोमेनोपाप्नोति तावदुपप्नोति" "यस्मै कामाय निरुप्यन्ते तमेवाभिरुपाप्नोति[1097]"। आप् (आप्लृ व्याप्तौ)। प्राप्ति अर्थ में।

उपावहरेत् - "स त्वा अध्वर्युः स्याद्यः सोममुपावहरन्त्सर्वाभ्यो देवताभ्यः उपावहरेत्"।[1098] हृ (हृञ् हरणे)। उपावहरेत् = अवतारयेत् (हविर्धान्याः)।

उप-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

उपक्षर् = उपक्षरन्ति-१।८।२२, उपक्षि (निवासे) = उपक्षेति-२।१।११, उपगच्छ् = उपगच्छन्ति-५।१।३, उपगा = उपागाम्-१।३।५, ६।३।३, उपगेषम्-१।२।१०, उपगृह् = उपगृह्णाति-६।४।११, अपागृह्णात्-२।१।७, उपगै (गा) = उपगायन्ति-७।५।८, उपगायेत्-६।३।१, उपग्रथ् = उपग्रथ्नामि-६।१।१०, उपघ्रा = उपघ्रापयति-५।२।८, उपचर् = उपचरति-५।६।६, उपचरति-३।१।६, उपचरन्ति-५।४।४, उपचि (चयने) = उपचिन्वन्ति-१।१।७, उपजीव् = उपजीवतः-७।१।६, उपजीवन्ति-३।२।९, १।७।३, उपदस् = उपदस्यन्ति-२।४।८, उपदस्येत्-६।५।१०, उपधा = उपधत्ते-३।४।१०, उपदधाति-१।६।९, उपदधाति-५।२।३, उपदधामि-१।३।२, उपयम् (यमने, ग्रहणे) = उपयामः-६।५।८, उपमुञ्चते-५।४।४, उपब्रुवे-४।२।५, उपप्रया = उपप्रयाति-२।२।१, उपनह् = उपनह्यति-५।१।५, उपनह्यामि-२।४।७, उपनम् = उपनमति-६।१।६, उप..नमति-२।१।३, उपनमेत्-२।३।२, उपधाव् (गतौ) = उपधावति-२।१।१, ६।५।१०, उपधा = उपधीयते-५।७।८, उपधीयन्ते-५।२।८, उपसद् = उप..सदेम-४।६।६, उपसीदति-७।२।२, उपसीदन्ति-७।५।३, उपासीदत्-२।५।१, उपसादयति-६।४।२, उपशुष् = उपशुष्यति-३।१।१०, उपशी = उपशये-६।६।४, उपशेरे-५।३।७, उपवस् (निवासे) = उपवसति-१।६।७, उप..वसन्ति-१।६।७, उपवसेत्-१।६।७, उपवप् = उपवपति-५।२।५, ६।१।८, उपवपेत्-६।१।८, उपरम् = उपरंस्यते-७।१।१९, उपया = उपयाति-१।२।१४, उपयामि-१।२।१४, ४।७।१५, उपयाहि-१।४।४४, उपह्वे (हू) = उपह्वयते-१।७।१, २।५।९, ६।३।११, उपह्वये-१।४।२५, उपस्था (तिष्ठ्) = उपतिष्ठते-१।५।४, २।१।४, ३।१।१०, ५।१।२, उपस्तृ (स्तृ) = उपस्तृणाति-१।६।७, उपस्तृणन्ति-४।६।९, उपसृज् = उपसृजति-५।१।३,

[1094]. तै.सं. – ६।१।९॥

[1095]. तै.सं. – ३।१।२॥

[1096]. तै.सं. – ५।४।९॥

[1097]. तै.सं. – १।६।९, ३।४।१०॥

[1098]. तै.सं. – ६।४।३॥

उपावरुह् = उपावरोहन्ति-७।३।१०, उप-ऋच्छ् = उपाच्छ्रति-१।५।९, उप-आप् = उपाप्नोति-१।६।९, उपाकृ (करणे) = उपाकरोति-३।१।५, ६।४।३॥

नि[1099] - नि का अर्थ – विनिग्रह है।[1100] नि ह्वेञ् धातु के साथ "निश्चित रूप से" अर्थ को बताता है (निह्वयते)[1101]। भट्टभास्कर इसका अर्थ "नीचैः प्रवर्तयति" करते हैं तथा "निलायत"[1102] का अर्थ "निरगच्छत्"। इसके अन्य अर्थ हैं - निक्रम् = (अनु) निक्रामति[1103] – (अनुक्रमेण) गच्छति। निपा (रक्षणे) = निपासि[1104] – नियमेन रक्षसि। निधी (धीङ् आधारे, यङ्लुगन्त, लेट्) = निदेध्यत्[1105] – नियमेनात्यर्थं ध्रियतां तिष्ठत्वित्यर्थः। निधाव् (शुद्धौ) = निधावते[1106] – भ्रमयति।

नियच्छति - "नीचा हस्तेन निमृज्याद् वृष्टिमेव नियच्छति[1107]"। यम् (यम उपरमे)। भट्टभास्कर - न्यक् पातयति; न्यक् = घृणा, अपमान एवं दीनता को द्योतन करने वाला क्रिया विशेषण।

नियच्छति - "स एवास्मै प्रजा नस्योता नि यच्छति[1108]"। नियच्छति = नियमन करने अर्थ में, विधान करने अर्थ में।

नियुवते - "तस्मै शत्रून् नि स्वष्ट्रान्युवति हन्ति वृत्रम् भ्रातृव्यस्य पशून्नियुवते[1109]"। यु (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। वश में करने अर्थ में।

निलायत - "निलायत सोऽप प्राविशत्[1110]"। निस् (निर्) अय् (अय गतौ)। अन्तर्धान अर्थ में।

न्यकामयत - "तदग्निर्न्यकामयत[1111]"। नि पूर्वक कम् (कमु कान्तौ, कान्तिरिच्छा)। अर्थ – नि = पूर्ण रूप से या पूरी तरह से अकामयत = इच्छा अर्थ में।

न्यक्रामत् - "गां समैरयतां सा यत्र यत्र न्यक्रामत् ततो घृतमपीडयत तस्मात् घृतमद्युच्यते[1112]"। क्रम् (क्रमु पादविक्षेपे)। अर्थ - पादों (पैरों) का रखने अर्थ में अर्थात् प्रवेश करने अर्थ में है।

1099. " ..नि यच्छति यदि कामयेतावर्षुकः.."। तै.सं. – ६।३।४, पृ.१९८॥

1100. नि. – १।१॥

1101. "निसमुपविभ्यो ह्वः"। अष्टा. – १।३।३०॥

1102. "..निलायत तमर्थवाऽन्वपश्यदथर्वा त्वा..."। तै.सं. – ५।१।४, पृ.१८॥

1103. तै.सं. – ६।१।८॥

1104. तै.सं. – १।४।२२॥

1105. तै.सं. – १।३।१०॥

1106. तै.सं. – ६।१।१॥

1107. तै.सं. – ६।४।५॥

1108. तै.सं. – २।१।१॥

1109. तै.सं. -२।६।२॥

1110. तै.सं. – २।६।६॥

1111. तै.सं. – १।५।१॥

1112. तै.सं. – २।६।७॥

नि-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

नियु = नियुवते-२।६।२, नियम् = नियच्छति-२।१।२, निम्रुच् = निम्रोचेत्-६।४।२, निमृज् = निमार्ष्टि-६।४।३, निमृड्ढ्वम् = १।७।८, नि..मृड्ढ्वम् = १।६।३, निपद् = निपत्स्यते-७।१।१९, निनी = निनयति-१।७।५, २।४।९, निनयेत्-६।२।७, निधी = निदेध्यत्-१।३।१०, निधा = निधत्ते-६।१।८, निदधाति-५।१।६, नि..धेहि-१।८।४, निगम् = निगच्छन्ति-७।२।४, निवपति-५।२।६, ६।३।१, निवृत् = निवर्तते-१।७।६, ६।४।११, ७।२।७, निषद् = निषीदतु-३।५।११॥

निर्[1113] - निर् का अर्थ – निश्चय, निषेध[1114]। परन्तु यास्क इसको निन्दा अर्थ में मानते हैं।[1115] निर् अव्ययीभाव समास में अत्यय (अतीतानि हिमानि = निर्हिमं) व अर्थाभाव (मक्षिकाणामभावः=निर्मक्षिकम्) में होता है[1116]।

भट्टभास्कर के अनुसार यह उपसर्ग निम्न अर्थों में होता है - निष्कृष्य गृह्यते[1117] निर्घ्नन्ति[1118] - निश्चयेन नाशयन्ति। निष्टपामि[1119] - निष्कृष्य दोषेभ्यो तपामि। मा निर्मृक्षम्[1120] - मा विनीनशम्। मा निर्वधिष्ट[1121] - निष्कृष्य मा नीनशत्। निरवदये[1122] - अपाकरोमि। निर्भज् = निरभजत्[1123] – निरभागमकरोत्। निर्दिशेत्[1124] - कीर्तयेत्।

निर्गृह्णाति - "स्वादेवैनं योनेर्निगृह्णाति[1125]"। ग्रह् (ग्रह उपादाने)। नि = निष्कृष्य गृह्णाति।

निर्भजति - "रूपेणैवैनं पशुभ्यो निर्भजति[1126]"। भज् (भज सेवायाम्)। निर्भजति = "निरस्यति" (सेवा करना, खिलाना, पिलाना आदि) अर्थ में।

निर्भजामि - "अस्यै पृथिव्या अस्मादन्नाद्यान्निर्भजामि निर्भक्तः स यं द्विष्मः[1127]"। निर्भजामि = निर्वास, निःसार अर्थ में।

1113. "..आदित्यो निर्गृह्यते यदुच्छेषणादजायन्त..."। तै.सं. – ६।५।६, पृ.३०३॥

1114. "निर्निश्चयनिषेधयोः"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक – २५२॥

1115. नि. – १।१॥

1116. "अव्ययं विभक्ति..."। अष्टा. – २।१।६॥

1117. "..आदित्यो निर्गृह्यते यदुच्छेषणादजायन्त..."। तै.सं. – ६।५।६, पृ.३०३॥

1118. "..तपोऽस्य निर्घ्नन्त्युन्दतीर्बलं धत्तौजो..."। तै.सं. – ३।१।१, पृ.६॥

1119. "..तेजसा निष्टपामि गोष्ठं.."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१३५॥

1120. "..गोष्ठं मा निर्मृक्षं..."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१३५॥

1121. "..मा तपो निर्वधिष्टेत्याहैतदेव..."। तै.सं. – ३।१।१, पृ.६॥

1122. "..इहैव सन्निरवदये तदेतत्..."। तै.सं. – ३।३।८, पृ.२५८॥

1123. तै.सं. – ३।१।९॥

1124. "उपशयव्यतिरिक्ता एकादशापि यूपाः पशुमन्तः, उपशयः तु अपशुः, न तत्र कश्चित् पशुर्नियुज्यते, एवं स्थिते तस्य यजमानः एव पशुः स्यात् यत् यदि न निर्दिशेत् पश्चन्तरं न कीर्तयेत् यजमानः"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ६।६।४॥

1125. तै.सं. – ६।५।७॥

1126. तै.सं. - ६।३।११॥

निष्पिबति - "हिरण्याद् घृत् निष्पिबति[1128]"। पा (पा पाने)। अर्थ - उद्धृत्य पिबति अर्थ में।

निर्-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

निर्मन्थ् = निरमन्थत-३।५।११, निर्भज् = निर्भजति-६।३।११, निर्भजामि-१।६।६, निरभाक्-३।१।९, निर्दिशति-६।६।४, निर्दहति-५।१।५, निर्-अवदय् = निरवदयते-२।६।६, ५।२।४, ६।३।९, निर्-मा (माने) = निर्मिमीते-३।२।६, निरमिमीत-२।१।४, ७।१।१, निर्मुच्यते-५।४।५, निर्वप् = निर्वपति-२।२।४, ५।५।१, ७।५।१५, निर्वपति-१।८।१, निर्वपन्ति-७।५।७, निर्वपामि-१।१।४, निर्वपेत्-१।५।२, निरुप्यते-५।७।२, निरुप्यन्ते-३।४।९॥

परा[1129] - परा का अर्थ – अनर्वाक् अर्थात् अर्वाक् का विपरीत है।[1130] जि धातु परा के साथ पराजय अर्थ को बताती है (पराजयते)[1131] तथा यही पराजय असोढ=असहनीय अर्थ में अपादान संज्ञक होता है[1132]। यदि परा क्रम धातु के साथ हो तो यह पराक्रम अर्थ में होता है (पराक्रमते)[1133] एवं परा कृ धातु के साथ दुर करने अर्थ में होता है (पराकरोति)[1134]।

इसके निम्न अर्थ हैं - पराजि = पराजयेथे[1135] - अन्येन न जयेथे। परापत् (गतौ) = परापतति[1136] – विनश्यति। परादृश् = परापश्यति[1137] – दूरं पश्यति। परा..वप[1138] – परित्यज। परासिच् = परासिञ्चति[1139] – पराभूतं सिञ्चति। परा..सू (प्रेरणे) = परा..सुवामि[1140] – नाशयामि।

परापतत् - "दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत्[1141]"। परा पूर्वक पत्लृ गतौ का अर्थ परा = पृथग्भूत्वा "अपतत्" है।

पराभवति - "न यज्ञः पराभवति न यजमानः[1142]"। भू (भू सत्तायाम्)। पराभव या नष्ट होने के अर्थ में।

[1127]. तै.सं. - १।६।६॥

[1128]. तै.सं. – २।३।११॥

[1129]. "..जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा..."। तै.सं. – ३।२।११, पृ.२०६॥

[1130]. नि. - १।१॥

[1131]. "विपराभ्यां जेः"। अष्टा. – १।३।१९॥

[1132]. "पराजेरसोढः"। अष्टा. – १।४।२६॥

[1133]. "उपपराभ्याम्"। अष्टा. – १।३।३९॥

[1134]. "अनुपराभ्यां कृञः"। अष्टा. – १।३।७९॥

[1135]. तै.सं. – ३।२।११॥

[1136]. तै.सं. – ६।३।३॥

[1137]. तै.सं. – ६।२।४॥

[1138]. तै.सं. – ४।५।१॥

[1139]. तै.सं. – ५।२।६॥

[1140]. "अहमपि तदर्थं त्वदीयं यक्ष्मं रोगं परा सुवामि नाशयामि। भाष्य, तै.सं. – १।३।१४॥

[1141]. तै.सं. – ५।६।३॥

परा वपति - "परा वा एष यज्ञं पशून् वपति योऽग्निमुद्वासयति[1143]"। परा पूर्वक वप् धातु वेद में परासनादि अर्थ को बताती है।

परा वपति - "परा वा एष यज्ञं पशून्वपति योऽग्निमुद्वासयति" "यत्त्वा परा वा एषोग्निं वपति योप्सु भस्म प्रवेशयति[1144]" परा पूर्वक डुवप बीजसन्ताने धातु का अर्थ है – "शूर्पेण धान्यं परावपति" "उत्फाल्य प्रक्षिपति परिपवितुकामः"।

परा-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

परापतत्-२।१।७, पराभू = पराभवति-५।४।१०, परा..भवति-१।७।३, २।१।४, ३।२।२, ६।२।२, ७।२।५, पराभवन्-१।७।१, पराबभूवुः-६।६।२, पराभावयति-१।६।१०, परावधीत्-७।४।१९, परावप् = परा..वपति-१।५।२, पराविध् (व्यध्) पराविध्यति-२।४।१२, परासिच् = परासिञ्चति-५।२।६, परा..सिञ्चति-७।५।६, परा..सू (प्रेरणे) = परा..सुवामि-१।३।१४, पराहा = पराजिहीत-५।४।३॥

परि[1145]- परि का अर्थ – सर्वतोभाव है[1146]। परि क्रीड् के साथ "बहुत, अधिक" जैसे अर्थों को बताता है (परिक्रीडते=बहुत खेलता है)[1147]। वर्जन अर्थ में परि शब्द निपात कहलाता है (परित्रिगर्तेभ्यः वृष्टो देवः)[1148]। इत्थम्भूताख्यान (वृक्षं परि विद्योतते विद्युत्) भाग (यदत्र मां परि स्यात्) वीप्सा (वृक्षं वृक्षं परि सिञ्चति) में परि की निपात संज्ञा भी होती है[1149]। परि यदि अनर्थक न हो तो भी निपात संज्ञक (पर्यागच्छति=यहाँ इसका वही अर्थ है जो आगच्छति का है)[1150] है।

भट्टभास्कर के अनुसार इसके निम्न अर्थ हैं - <u>परिक्रम्</u> = परि..अक्रमीत्[1151] – परितः स्वीकृतवान्। परि..धीमहि[1152] – परितः स्वीकुर्मः। <u>परिचर्</u> = परिचरति[1153] – परिचरणं भवति। परि..नयन्ति[1154] – प्रदक्षिणीकुर्वन्ति। <u>परिदा</u> = परिददामि[1155]

1142. तै.सं. - ६।१।५॥

1143. तै.सं. – १।५।२॥

1144. तै.सं. – १।५।२, ५।२।२॥

1145. "..रयस्पोषवानिं पर्यूहामि.."। तै.सं. – १।३।१, पृ.३८०॥

1146. नि. – १।१॥

1147. "क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च"। अष्टा. – १।३।२१॥

1148. "अपपरी वर्जने"। अष्टा. – १।४।८७॥

1149. अष्टा. – १।४।८९॥

1150. "अधिपरी अनर्थकौ"। अष्टा. – १।४।९२॥

1151. तै.सं. – ४।१।२॥

1152. तै.सं. – ४।१।२॥

1153. "स्वयैव देवतया वरुणरूपयैनं परिचरति, तस्या एवेदं परिचरणं भवतीति, आत्मीयदेवताया एवेदं परिचरति इत्यर्थः"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ६।१।११॥

1154. "यत् यत्र मानुषाः ऋत्विजः अश्वं त्रिः परिणयन्ति त्रिवारं प्रदक्षिणीकुर्वन्ति"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ४।६।८॥

1155. "एतां उखाम् अभित्यै भेदाभावाय ते तुभ्यं परिददामि.."। (उखासंस्कारः के अन्तर्गत मन्त्र) ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ४।१।६॥

– परित्राणाय ददामि। परिपा (रक्षणे) परिपातु[1156] – सर्वैः प्रकारैः रक्षतु। परिपाहि[1157] – सर्वतो रक्ष। परिभू = परि..भवन्तु[1158] – व्याप्नुवन्तु, भागे लक्षणे द्योत्ये परेः कर्मप्रवचनीयत्वम्। परिमा (माने) = परिमिमीते[1159] – सर्वासु दिक्षु मिमीते। परिलिख् = परिश्रि = परिश्रयति[1160] – अभिसमीक्ष्य व्यवहितो अथवा अभिसमीक्ष्य तिरोहितो भवति। परिशी = परिशये[1161] – समीपशयनं परिशयनम्, अव्यवधानेन वर्तते। परिव्ये (वी) परिव्ययति[1162] – परितो वेष्टयति। परिवृज् = परि..वृणक्ति[1163] – परितो वर्जयति। परितः सर्वतः ऊहामि स्थापयामि[1164]। पर्यूह[1165] - परितः सेवमानान् कुरु। परि..धत्ताम्[1166] - परि धत्ताम्। पर्यधत्था[1167] - परिहितवानसि। परि वृणक्तु[1168] - सर्वतो वर्जयतु सायण के अनुसार – परिहरोतु। परिवृणक्ति[1169] - सर्वतो वर्जयति (वृजी वर्जने)।

परिगृह्णाति - "वेदिं च परिगृह्णाति[1170]"। चारों ओर रेखाओं का लेखांकन करना।

परिबाधन्ते - "ओषधयो वा एतं प्रजायै परिबाधन्ते[1171]"। बाध् (बाधृ लोडने, लोडनं प्रतिघातः)। परिबाधन्ते = प्रतिबध्नन्ति = हटाने या दूर करने अर्थ में।

परि शये - "वपामेकः परि शये[1172]"। शी (शीङ् स्वप्ने)। समीप में शयन अर्थ में।

पर्यदीर्यत - "प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् स स्वां देवतामार्च्छत् स पर्यदीर्यत[1173]"। दृ (दृ विदारणे)। भट्टभास्कर – परितः सर्वतः विपन्नोऽभवत्। परि = परितः (चारों ओर से) अदीर्यत = विपन्न होने अर्थ में।

[1156]. तै.सं. – ३।३।११॥

[1157]. तै.सं. – १।४।२४॥

[1158]. "इमाः वक्ष्यमाणाः स्तोत्रशस्त्रादिलक्षणाः गिरः त्वां परिभवन्तु व्याप्नुवन्तु विश्वतः सर्वतः। परिभवति विश्वकर्मा"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।३।१॥

[1159]. तै.सं. – ६।२।७॥

[1160]. "यस्मात् देवलोकः मनुष्यलोकात् अन्तर्हितः मनुष्यलोकमभिसमीक्ष्य व्यवहितो भवति। यद्वा – मनुष्यलोकमभिसमीक्ष्य तिरोहितो भवति"। भाष्य, तै.सं. – ६।१।१॥

[1161]. तै.सं. – ६।३।७॥

[1162]. तै.सं. – ६।३।४॥

[1163]. तै.सं. – १।२।९॥

[1164]. "..रयस्पोषवानिं पर्यूहामि.."। तै.सं. – १।३।१, पृ.३८०॥

[1165]. "..यजमानाय पर्यूह..."। तै.सं. – १।१।१०४, पृ.१०४॥

[1166]. "..त्वोत्तरतः परि धत्तां ध्रुवेण धर्मणा.."। तै.सं. – १।१।११, पृ. – १५८॥

[1167]. "..यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव.."। तै.सं. – १।१।१३, पृ.१८५॥

[1168]. "..हेतिः परि वो वृणक्तु...."। तै.सं. – १।१।१, पृ.१७॥

[1169]. " ..यज्ञस्थाणुमेव परि वृणक्तु...। तै.सं. – ६।१।२, पृ.१८॥

[1170]. तै.सं. – १।६।९॥

[1171]. तै.सं. – २।१।३॥

[1172]. तै.सं. – ६।३।७॥

पर्यवद्यति - "पुरोडाशं समन्तं पर्यवद्यति[1174]"। दो (दो अवखण्डने)। "पतितः अवद्यति" अवदान (पवित्र एवं मान्यता प्राप्त वृत्ति) करने अर्थ में।

पर्यविशन् - "रक्षांसि समन्तं देवान् पर्यविशन्[1175]"। विश् (विश प्रवेशने)। पर्यविशन् = "अरुन्धन्" अर्थ में।

पर्यूहते - "देवपुरा एवैतास्तनुपानीः पर्यूहते[1176]"। पर्यूहते = प्रतिष्ठापयति।

परि-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

परिक्रम् = परिक्रामति-६।२।४, परिक्रामतः-६।४।१०, पर्यक्रामत्-६।२।४, परिगृह् = परिगृह्णाति-१।५।२, २।१।२, ५।१।३, परिगृह्णाति-१।६।७, परि..गृह्णाति-७।१।१, परिगृह्णन्तु-१।१।९, परिगै = परिगायति-५।१।८, परिणी = परिणयति -२।३।४, परि..नयन्ति-४।६।८, परिदा = परिददामि-४।१।६, परि..ददामि-३।३।९, परिधा = परिधत्ते-२।४।९, परिदधाति-१।५।८, २।३।९, परिधत्ताम्-१।१।११, परिधत्तम्-२।४।७, परि..धीमहि-१।५।६, परिबाध् = परिबाधन्ते-२।१।५, परिभू = परि..अभवत्-३।३।३ परि..बभूव-१।८।१४, परिभूष् = परिभूषन्ति-४।९।९, परिमृश् = परिमृशति-६।३।४, परिलिख् = परिलिखति-५।१।३, परि-इ = पर्येति-१।७।१०, परियन्ति-२।५।१२, परीहि-६।४।१०, परिश्रि = परिश्रयति-६।१।१, परिशी = परिशेरे-६।२।८॥

प्र[1177] - प्र का अर्थ – अनर्वाक् अर्थात् अर्वाक् का विपरीत है[1178]। प्र कृ धातु के साथ प्रकथन=बढा-चढाकर कहना (जनापवादान् प्रकुरुते) व उपयोग= धर्मादि कर्यों में लगाना (शतं प्रकुरुते) अर्थों में होता है।[1179] कदाचित् प्र एवं उप का क्रम् धातु के योग में समान अर्थ होता है *प्रक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना आरम्भ करता है), उपक्रमते भोक्तुम्।*[1180] विप्रलाप अर्थ = परस्पर विरुद्ध कथनरूप अर्थ में वद धातु के साथ प्र एवं वि का योग होता है (विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ति सांवत्सराः)[1181]। स्पष्टवाणी वालों के सहोच्चारण=एक साथ उच्चारण करने अर्थ में वद धातु के योग में सं के साथ प्र का प्रयोग होता है (संप्रवदन्ते ब्रह्मणाः)[1182] प्र के साथ "युजिर् योगे" धातु अयज्ञपात्र विषय में*(प्रयुङ्क्ते)*[1183] स्था धातु प्रस्थान (एक

[1173]. तै.सं. – २।३।१२॥

[1174]. तै.सं. – २।३।२॥

[1175]. तै.सं. – २।४।१॥

[1176]. तै.सं. – ५।७।३॥

[1177]. "..हिंसीर्देवश्रूरेतानि प्र वपे.."। तै.सं. – १।२।१, पृ. २२३॥

[1178]. नि. – १।१॥

[1179]. "गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न प्रकथनोपयोगेषु कृञ्"। अष्टा. – १।३।३२॥

[1180]. "प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्"। अष्टा. – १।३।४२॥

[1181]. "विभाषा विप्रलापे"। अष्टा. – १।३।५०॥

[1182]. अष्टा. – १।३।४८॥

[1183]. "प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु"। अष्टा. – १।३।६४॥

स्थान को छोडकर जाना) अर्थ में होती हैं (प्रतिष्ठते)[1184]। प्र पूर्वक भू धातु का अर्थ प्रभव=उत्पत्तिस्थान है जिसको अपादानसंज्ञक माना जाता है[1185]।

भट्टभास्कर के अनुसार इसके निम्न अर्थ हैं – प्रगै = प्र..अगात्[1186] – प्राचीं गच्छति। प्रजन् = प्रजायते[1187] – प्रजावान् भवति। प्रज्ञा (जा) = प्रजानन्[1188] – निश्चेतुं अशक्नुवन्। प्रणु (नुद्) – प्र..नुदते[1189] – नाशयति। प्रपद् = प्रपद्येत[1190] – एकप्रवृत्ते इतरः प्रवर्तेत। प्रमुच् = प्रमुमुग्धि[1191] – प्रकर्षेण मोचय। प्रभृ = प्र..भरध्वम्[1192] – प्रकर्षेण संपादयत। प्रयज् = प्रयजति[1193] –प्रथमतो यजति। प्रविश् = प्रविश[1194] – प्रवेशं कुरु। प्रवह् = प्रवहन्तु[1195] – देशान्तरं प्रापयन्तु नाशयन्त्विति। प्रसह् = प्रसहते[1196] – अभिभवेत्। प्रच्यवते[1197] - अपगच्छति। प्रकृष्टं वपे छिनद्मि[1198]। प्रापयतु[1199]– प्रस्थापयतु, सायण – प्रेरयतु। प्रेतम्[1200] - प्रकर्षेण इतम् = गच्छतम्। प्रोर्ण्वाथाम्[1201]- प्रकर्षेणाच्छादयतम्; प्र चर[1202] - प्रकर्षेण प्रविश्य चर। प्रमिनाम[1203] - हिंसितवन्तः (मीङ् हिंसायां क्र्यादि)। प्र

1184. अष्टा. – १।३।२२॥

1185. "भुवः प्रभवः"। अष्टा. – १।४।३१॥

1186. "प्रेयमगाद्धिषणा बर्हिरच्छ मनुना"। तै.सं. – १।१।२, ज्ञानयज्ञभाष्य - "इयम् अश्वपर्शुः प्र अगात् प्राचीं गच्छति"॥

1187. तै.सं. – ७।१।१०॥

1188. "देवा वै देवयजनमध्यावसाय दिशो न प्राजाजन्"। तै.सं. – ६।१।५, ज्ञानयज्ञभाष्य - "दिशः प्रागादिकाः न प्राजानन् इयं प्राची इयं दक्षिणेत्यादि निश्चेतुं नाशक्नुवन्"॥

1189. "जातान् भ्रातृव्यान् प्रणुदते नाशयति"। भाष्य, तै.सं. – ५।४।११॥

1190. "ऋतुः ऋत्वन्तरम् अनुप्रपद्येत एक प्रवृत्ते इतरः प्रवर्तेत। ततश्च ऋतवः मोहुकाः मोहनशीलः संकीर्णस्वभावाः स्युः। भाष्य, तै.सं. – ६।५।३॥

1191. "कृतं चित् एनः पापम् अस्मत्तः प्र मुमुग्धि प्रकर्षेण मोचय"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं.-१।४।४५॥

1192. "हे ऋत्विग्यजमानाः, चित्रम् अर्कं विविधमर्चनं मारुताय मरुत्समूहाय प्रभरध्वं प्रकर्षेण संपादयत"। भाष्य, तै.सं.-४।१।११॥

1193. "एकादश प्रयाजान् यजति.."। तै.सं. – ६।३।७, भाष्य – समस्तमेव पशुं प्रयजति प्रथमतो यजति।

1194. "प्राप्य च प्रविश एषाम् शत्रूणां शरीरमध्ये प्रवेशं कुरु"। भाष्य, तै.सं.- ४।६।४॥

1195. "विश्वमस्मत् प्र वहन्तु रिप्रमुदाभ्यः.."। तै.सं. – १।२।१, भाष्य – अस्मत् अस्मत्तः अस्मदीयेभ्यो यजमानेभ्यः विश्वं रिप्रं पापमिमा आपः प्र वहन्तु देशान्तरं प्रापयन्तु नाशयन्त्विति यावत्॥

1196. "अदेवीः अदेवनशीलाः आसुरीः मायाः प्र सहते अभिभवेत्"। भाष्य, तै.सं. – १।२।१४॥

1197. तै.सं. – ५।४।१०॥

1198. "..हिंसीर्देवश्रूरेतानि प्र वपे.."। तै.सं. – १।२।१, पृ. २२३॥

1199. "देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण..."। तै.सं. - १।१।१, पृ. - १५॥

1200. "..प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती.."। तै.सं. – १।२।१३, पृ.३४६॥

1201. "..प्रोर्ण्वाथामच्छिन्नो रायः.."। तै.सं. – १।३।९, पृ. ४५५॥

1202. "..सुवीरोऽवीरहा प्र चरा..."। तै.सं. – १।२।१०, पृ.३१०॥

1203. "..यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि.."। तै.सं. – १।१।१४, पृ.२१५॥

वोचम्[1204] - प्रकर्षेण ब्रवीमि। प्र ससाहिषे[1205] - प्रकर्षेण अभिभवसि। प्रोक्षामि[1206] - अद्भिः सिञ्चामि, प्रकर्षेण सिञ्चामि[1207]।

प्रदधाति - "तद्यजमानोऽग्नौ प्रदधाति[1208]"। प्र पूर्वक डुधाञ् धारणपोषणयोः धातु से समर्पण अर्थ में - "समर्पयति"।

प्रभिन्दन्ति - "यथा वै लाङ्गलेनोर्वरां प्रभिन्दन्ति[1209]"। भिद् (भिदिर् विदारणे)। प्र = प्रकर्षेण भिन्दन्ति = जोतने अर्थ में, भिदिर् धातु विदारण अर्थ में है परन्तु प्र के योग में यह "कृष विलेखने" धातु का अर्थ देती है।

प्रयन्धि - "अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि[1210]"। यम् (यम उपरमे)। यह प्र पूर्वक यम् धातु दा धातु से निष्पन्न "देहि" के अर्थ में है।

प्रयुच्छसि - "कदाचन प्रयुच्छसि[1211]"। युच्छ् (युच्छ प्रमादे)। भट्टभास्कर - कदाचन न युच्छसि न प्रमाद्यसि। प्र शब्दो धात्वर्थस्य निवृत्तिं करोति प्रस्मरणं प्रस्थानं प्रपूरणमित्यत्र यथा। सायण - प्र शब्दो निषेधार्थ।।

प्रयुज्यते - "शक्करीं श्वो यज्ञे प्रयोक्तासे" "सर्वेभ्योः कामेभ्यो यज्ञः प्रयुज्यते[1212]"। प्र पूर्वक युजिर् योगे धातु से यह करने अर्थ में है = "अनुष्ठीयते"।

प्रवापयति – "पशून् प्र जनयति..प्रैव तेन वापयति[1213]"। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। प्रवापयति = गर्भं ग्राहयति (ग्रहण का णिजन्त रूप में)।

प्रागृह्णात् - "तामग्नौ प्रागृह्णात्[1214]"। प्र पूर्वक ग्रह उपादाने धातु से "प्राक्षिपत्" अर्थ में निष्पन्न है।

प्राभवत् - देवेभ्यो वै सुवर्णो लोको न प्राभवत्[1215]। प्र के साथ भू सत्तायाम् धातु प्रभवन अर्थ में हुई है अर्थात् "भुवः प्रभवः[1216]" सूत्र से भवनपूर्वक निःसरण अर्थ होता है (हिमवतो गङ्गा प्रभवति)।

[1204]. " ..विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्र वोचं यः"। तै.सं. – १।२।१३, पृ.३४८॥

[1205]. "..प्र ससाहिषे पुरुहूत शत्रूञ्ज्येष्ठस्ते शुष्म.."। तै.सं. – ३।४।११, पृ.३६८॥

[1206]. "..जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां.."। तै.सं. – १।१।५, पृ. – ८४॥

[1207]. "..प्रोक्षाम्यपां पेरुरसि..."। तै.सं. – १।३।८, पृ. – ४३९॥

[1208]. तै.सं. – २।३।२॥

[1209]. तै.सं. – ६।६।७॥

[1210]. तै.सं. – १।७।१३॥

[1211]. तै.सं. – १।४।२२॥

[1212]. तै.सं. – २।६।२, २।४।११॥

[1213]. तै.सं. – ३।४।९॥

[1214]. तै.सं. – २।१।१॥

[1215]. तै.सं. – ६।६।११॥

[1216]. अष्टा. – १।४।३१॥

प्राव्लीनात् - "सोऽस्मार्सृष्टः प्राङैत् स प्र यजुर्व्लीनात्[1217]"। व्ली वरणे। प्राव्लीनात् आच्छादन (आवरण) अर्थ में है।

प्रावोचः - "यो मा प्रावोचः[1218]"। वच् परिभाषणे धातु से निष्पन्न इस मन्त्रांश का अर्थ – "मद्-रहस्यमन्यस्मा आख्यद्"।

प्राहरत् - "इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्[1219]"। हृञ् हरणे धातु से निष्पन्न इसका अर्थ "प्रास्यत्" है।

प्र-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

प्रचर् = प्रचरति-६।३।१०, प्रचरन्ति-४।५।११, प्रगा = प्र..जिगाति-२।५।७, प्र..अगात्-१।१।२, प्रखिद् = प्रखिदते-४।५।९, प्रक्रम् = प्रक्रामति-५।२।१, प्रजन् = प्रजायते-१।५।९, २।४।६, प्र..जायते- १।५।९, ३।५।२, ६।२।५, प्रजायन्ते-१।५।१, ५।१।२, ६।३।७, ७।३।७, ६।४।१, प्र..जनयति-१।५।९, प्रच्यु = प्रच्यवते-५।४।६, ६।१।११, प्रच्यावयति-५।१।५, प्रज्ञा (जा) = प्रजानाति-५।६।६, ६।१।५, प्रजानन्ति-३।१।९, ७।४।६, प्रजि (प्रीणने) = प्र..जिनोषि-२।२।१२, प्रणु (नुद्) – प्रणुदते-२।१।३, ५।२।४, ६।२।३, प्र..नुदते-६।२।५, ५।४।११, प्रपद् = प्रपद्येत-६।५।३, प्रपादयति-६।१।२, प्रदा = प्र..प्र..ददातु-१।७।१०, प्रदह् = प्रदहन्ति-३।४।९, प्रमृ = प्रमृणीहि-१।२।१४, प्रमुच् (मुञ्च्) = प्रमुमोक्तु-३।१।४, प्रमुमुग्धि-१।४।४५, प्रमुञ्चतु-१।८।४, प्रमि (मी) = प्रमीयते-३।२।१, ६।४।६, ७।२।७, प्ररुज् = प्ररुजन्ति-१।२।१४, प्रयुज् = प्रयुङ्क्ते-६।१।२, प्रयु = प्रयौति-६।३।११, प्रया = प्र..यासि-१।८।५, ४।२।३, प्रयम् (यच्छ्) = प्रयच्छति-१।८।१८, प्र..यच्छति-५।१।६, ३।४।८, प्रशंस् = प्र..शंसति- ७।५।९, प्रवी = प्रवीयन्ते-६।१।७, ६।७।१, प्रविशन्ति-५।६।४, प्रवप् = प्रवपन्ते-७।४।९॥

प्रति[1220] - प्रति का अर्थ – प्रतिनिधि, व्याप्त होने की इच्छा, लक्षणा और प्रतिदान[1221] है। यास्क इसका अर्थ "आभिमुख्य (सम्मुखता) का विपरीत" मानते है।[1222] प्रति पूर्वक ज्ञा धातु अनाध्यान=उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ में वर्तमान न हो, को बतलाती है (शतं प्रतिजानीते)[1223]। प्रति प्रतिनिधि व प्रतिदान विषय में निपात है (अभिमन्युरर्जुनतः प्रति, माषान् तिलेभ्यः प्रति यच्छति)[1224] तथा वीप्सा अर्थ में (अर्थं अर्थं प्रति)[1225] एवं मात्रार्थ=स्वल्पार्थ (शाकप्रति)[1226] में यह समास को प्राप्त

[1217]. तै.सं. – ६।१।२॥

[1218]. तै.सं. – २।६।६॥

[1219]. तै.सं. – ५।२।६॥

[1220]. "..हिरण्यपाणिः प्रति गृह्णातु"। तै.सं. – १।१।५, पृ.९१॥

[1221]. "प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक – २४४॥

[1222]. नि. - १।१॥

[1223]. "संप्रतिभ्यामनाध्याने"। अष्टा. – १।३।४६॥

[1224]. "प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः"। अष्टा. – १।४।९१॥

[1225]. अष्टा. – २।१।६॥

[1226]. "सुप् प्रतिना मात्रार्थे"। अष्टा. – २।१।९॥

होता है। प्रति श्रु (यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिश्रृणोति)[1227] एवं गृणाति (होत्रे प्रतिगृणाति)[1228] के साथ पूर्व का कर्त्ता विद्यमान हो तो सदैव सम्प्रदान कारक का द्योतक होता है। व्यवहारार्थक दिव् धातु के साथ षष्ठी का विधान किया गया है परन्तु प्रति के साथ विकल्प से षष्ठी का विधान है, दोनों ही स्थितियों में अर्थ में कोई भी परिवर्तन नहीं आता है[1229] अतः यहाँ प्रति द्योतक मात्र है।

भट्टभास्कर के अनुसार इसके अन्य अर्थ निम्न हैं - प्रतिगृह्य रक्षतु[1230]। प्रतिदधति[1231] - प्रतिष्ठापयन्ति। प्रतिजागृहि[1232] – प्रतिदिनं जागरूकं सावधानं कुरु। <u>प्रतिज्ञा (जा)</u> = प्रतिजानीहि[1233] – प्रत्येकं जानीहि अनुध्यातुमर्हसि। <u>प्रतिविद् (ज्ञाने)</u> = प्रति..वेत्तु[1234] – अनुजानातु। <u>प्रतिवी</u> = प्रति..वियन्तु[1235] – प्रत्येकं वियन्तु। <u>प्रतियु (बन्धने)</u> = प्रतियौति[1236] – प्रातिकूल्येन प्रवर्तयति। <u>प्रतिमुञ्च्</u> = प्रतिमुञ्चते[1237] – स्वस्मिन् स्वीकरोति प्रकाशयतीत्यर्थः। <u>प्रतिनुद्</u> = प्रतिनुदते[1238] – प्रतीपमुत्पत्त्या नुदते। <u>प्रतिधा</u> = प्रति..धत्ते[1239] – संधत्ते। प्रतिदधाति[1240] – प्रतिष्ठापयति। प्रतिदधति[1241] – प्रतिष्ठापयन्ति॥

प्रतिजानीहि - ज्ञा (ज्ञा अवबोधने) "वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्[1242]"। भट्टभास्कर – "आत्मीयत्वेन बुध्यस्व प्रत्येकं वाऽस्माञ्जानीहि"।

प्रतिनिदधाति - "सप्तधा वितृण्णां वल्मीकवपां प्रतिनिदधाति[1243]"। धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः)। अर्थ - प्रतिनिधि करने अर्थ में।

1227. अष्टा. – १।४।४०॥

1228. अष्टा. – १।४।४१॥

1229. अष्टा. – २।३।५८, २।३।५९॥

1230. "..हिरण्यपाणिः प्रति गृह्णातु"। तै.सं. – १।१।५, पृ.९१॥

1231. "..कनीनिके प्रतिदधति..."। तै.सं. – ७।२।९, पृ.२०६

1232. तै.सं. – ४।७।१३॥

1233. "अस्मान् प्रतिजानीहि आत्मीयत्वेन बुध्यस्व, प्रत्येकं वा अस्मान् जानीहि अनुध्यातुमर्हसि"। भाष्य, तै.सं. – ३।४।१०॥

1234. "तस्मात् अदित्याः त्वग्भूतं कृष्णाजिनं त्वां प्रति वेत्तु अनुजानातु"। भाष्य, तै.सं.- १।१।५॥

1235. "सुगन्धीनि हवींषि प्रति ईं प्रत्येकमेव वियन्तु देवाः भक्षयन्तु"। भाष्य, तै.सं. – ४।३।१३॥

1236. "प्रतिलोमं अन्त्यादारभ्य अस्याभिचर्यमाणस्य प्रतीचः प्रतिलोमान् प्रतियौति प्रातिकूल्येन प्रवर्तयति"। भाष्य, तै.सं. – ३।४।८॥

1237. "कविः विद्वान् वरेण्यः श्रेष्ठः सविता विश्वा रूपाणि समस्तानि जगद्रूपाणि प्रतिमुञ्चते स्वस्मिन् स्वीकरोति प्रकाशयतीत्यर्थः"। भाष्य, तै.सं. – ४।१।१०॥

1238. "जनिष्यमाणान् प्रतिनुदते प्रतीपमुत्पत्त्या नुदते उत्पत्तिनिरोधं करोति"। भाष्य, तै.सं. - ५।३।५॥

1239. "प्रथमः मरुत्वतीयः धनुः, द्वितीयः ज्या तृतीयः इषुः। तत्र प्रथमेन प्रतिधत्ते ज्यायां बाणं संधत्ते"। भाष्य, तै.सं. – ६।५।५॥

1240. "तथा आघारणानन्तरम् आत्मनः पशोः समञ्जनात् आत्मनि एव यज्ञस्य शिरः प्रतिदधाति प्रतिष्ठापयति"। भाष्य, तै.सं. – ६।३।७॥

1241. तै.सं. – ७।२।९॥

1242. तै.सं. – ३।४।१०॥

1243. तै.सं. – ५।१।८॥

प्रतिप्रयच्छन्ति - "वध्यं प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति[1244]"। दा (दाण् दाने)। प्रत्यर्पण अर्थ में।

प्रतिमीवति - "पश्चाद्वातं प्रति मीवति[1245]"। मीव् (मीव स्थौल्ये)। क्षीण करने, स्थूल के विपरीत अर्थ में है। उपसर्ग के कारण यहाँ धात्वर्थ का बाध हो रहा है।

प्रतियौति - "प्राणानेवास्य प्रतीचः प्रति यौति"। यु (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। प्रतियौति नियच्छति प्रतिरुणद्धि। प्रातिकूल्येन प्रवर्तयतीति - भट्टभास्कर।

प्रत्याभवन्ति - "वै प्रजाः प्रभवन्तीः प्रत्याभवन्ति[1246]"। भू (भू सत्तायाम्)। प्रत्याभवन्ति = सन्निहित, हस्तगत या उपयोग्य होने अर्थ में।

प्रति-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

प्रतिगृ (स्तुतौ) = प्रतिगृणाति-३।२।९, प्रतिग्रह् = प्रतिगृह्णाति-६।१।४, ७।१।७, प्रति..गृह्णाति-१।७।२, प्रतिष्ठा = प्रतितिष्ठते-६।१।११, प्रतितिष्ठति-१।५।२, प्रतिष्टु = प्रतिष्टोभन्ति-२।२।१२, प्रतिशृ (हिंसायाम्) = प्रतिश्रृणाति-२।६।५, प्रतिविद् (ज्ञाने) = प्रति..वेत्तु-१।१।५, प्रतिमुद् = प्रतिमोदध्वम्-४।१।४, प्रतिमुञ्च् = प्रतिमुञ्चते-४।१।१०, प्रतिमुञ्चति-६।३।४, प्रतिनुद् = प्रतिनुदन्ते-५।३।१०, प्रतिमीव् = प्रतिमीवति-२।४।९, प्रतिस्था = प्रतितिष्ठति-५।२।८, प्रति..तिष्ठति-१।६।११, प्रतितिष्ठन्ति-५।१।३, ६।२।२, ७।२।१॥

वि[1247] - वि को एकीभाव का विरोधी माना जाता है।[1248] क्रिया के व्यतिहार=अदल बदल करने अर्थ में कर्तृवाच्य में धातु के साथ वि एवं अति का प्रयोग होता है (व्यतिलुनीते क्षेत्रम्)[1249]। वि पूर्वक - जि धातु विजय अर्थ (विजयते)[1250] स्था धातु या ह्वेञ् धातु "विशेष" अर्थ (वितिष्ठते, विह्वयते)[1251] कृ धातु शब्दकर्म वाले अर्थ (ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान्=कौआ स्वरों को बिगाड कर बोलता है)[1252] में प्रयोग होती हैं। वि पूर्वक नी धातु का विगणन = ऋणादि का चुकाना अर्थ होता है (मद्राः करं विनयते)[1253]। पादविहरण= पैर उठाना अर्थ में क्रम् के साथ (साधु विक्रमते वाजी)[1254] वद् के साथ विवाद अर्थ में वि का प्रयोग होता है (क्षेत्रे विवदन्ते)[1255]।

[1244]. तै.सं. – ६।५।८॥

[1245]. तै.सं. – २।४।९॥

[1246]. तै.सं. – १।७।२॥

[1247]. "..कविर्यज्ञस्य वि तनोति पन्थां..."। तै.सं. – ३।५।५, पृ.४०८॥

[1248]. नि. – १।१॥

[1249]. अष्टा. – १।३।१४॥

[1250]. अष्टा. – १।३।१९, १।३।३०॥

[1251]. "समवप्रविभ्यः स्थः"। अष्टा. – १।३।२२॥

[1252]. "वेः शब्दकर्मणः"। अष्टा. – १।३।३४॥

[1253]. "सम्माननोत्सञ्जना..."। अष्टा. – १।३।३६॥

[1254]. "वेः पादविहरणे"। अष्टा. – १।३।४१॥

[1255]. "भासनोपसंभाषा.."। अष्टा. – १।३।४७॥

रम् धातु के साथ वि विराम अर्थ को बताने के लिए भी रम् के साथ इसका प्रयोग होता है (विरमति)[1256]।

भट्टभास्कर के अनुसार इसके निम्न अर्थ हैं – विक्री = विक्रीणीते[1257] – अयुक्तरूपं क्रयं करोति। विचर् = विचरतः[1258] – विविधं चरतः। विचरन्ति[1259] – विश्वतः चरन्ति। विधू = विधूनुते[1260] – विविधं कम्पयति विनाशयतीत्यर्थः। विधा = वि..दधे[1261] – विविधमुत्पादयति, विभज्य स्थापयति। विभा = विभाति[1262] – विशेषेण प्रकाशते। विभज् = विभजति[1263] – विभाजन अर्थ। व्यभजन्त[1264] – विभज्य परिगृहीतवन्तः, विविधं वा अभजन्त। वियत् = वियातयति[1265] – व्यापारयति। विमा (माने) = विमिमीते[1266] – मापना। विभिद् = वि..भिनद्मि[1267] – विश्लेषयामि विश्लथयामि। विलिश् = विलिशते[1268] – अल्पीभवति क्षीयते इति यावत् "लिश अल्पीभावे"। विह्र विहरति[1269] – विविधमुत्पादयति, विधीयते। विसृप् = वि..सर्पत[1270] – विविधं गच्छत, विसृज् = विसृज[1271] - विस्तारय।

1256. अष्टा. – १।३।८३॥

1257. वाचा वा एष वि क्रीणीते यः सोमक्रयण्या स्वस्ति..। तै.सं. – ६।१।७, भाष्य – सोमक्रयण्या सोमं क्रीणाति, एषः यजमानण् वाचा विक्रीणते अयुक्तरूओअ क्रयं करोति, एकहायन्याः वाक्त्वात्, वाचो व्ययस्य च अयुक्तत्वात्॥

1258. "..सूर्यपत्नी विचरतः प्रजानती केतुं..". तै.सं.-४।३।११, भाष्य – एवं सति उषसा विचरतः द्वे अप्युषसौ विविधं चरतः॥

1259. तै.सं. – ३।३।११॥

1260. "आगत्य वाज्यध्वनः सर्वा मृधो वि धूनुते". तै.सं. – ४।१।२, भाष्य – अयं वाजी अध्वनः मार्गात् आगत्य प्राप्य सर्वाः मृधः मार्गश्रमादीन् सर्वान् बाधकान् विधूनुते विविधं कम्पयति विनाशयतीत्यर्थः॥

1261. "वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महीं देवस्य..". तै.सं. – १।२।१३, भाष्य – वयुनावित् एकअएव होत्राः स्तुतिलक्षणा वाचः विदधे विदधाति विविधमुत्पादयति, यद्वा – होत्राः ऋत्विग्विशेषान् होमस्य कर्तॄन् मैत्रावरुणादीन् विदधाति विभज्य स्थापयति।

1262. "द्यावा क्षामा रुक्मो अन्तर्वि भाति देवा अग्निं धारयन्". तै.सं. – ४।१।१०, भाष्य – द्यावा द्युलोके क्षामा क्षितौ भूलोके अन्तः तदुभयमध्यवर्तिन्यन्तरिक्षे विभाति, अयं रुक्मः अग्निः विशेषेण प्रकाशते।

1263. मैत्रावरुणो हि पुरस्तादृत्विग्भ्यो वाचं विभजति तामृत्विजो यजमाने प्रतिष्ठापयन्ति स्वाहा। तै.सं. – ६।१।४, भाष्य – क्रीते सोमे इत्यादि विधिः। मैत्रावरुणः पुरस्तात्। सः हि प्रथमं सर्वर्त्विग्भ्यः वाचं विभजति प्रैषेषु ऋतुग्रहजप्रस्थितयाज्यासु होतृकेभ्यः। ताम् ऋत्विजः वाचं यजमाने प्रतिष्ठापयन्ति..तदधीनत्वात्॥

1264. प्राचीनवँशं करोति देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा दक्षिणा..। तै.सं.- ६।१।१, भाष्य – देवाश्च मनुष्याश्च दिशः प्रागादिकाः व्यभजन्त विभज्य परिगृहीतवन्तः, विविधं वा अभजन्त।

1265. "अष्टौ मन्त्राः एका आहुतिः नवमी, ..। त्रिवृतं नवस्त्रोत्रीयं स्तोमं यज्ञमुखे वियातयति व्यापारयति"। भाष्य, तै.सं. – ५।१।१॥

1266. "यावान् पुरुषह् यजमानः अग्निं चेष्यमाणः ऊर्ध्वबाहुः भवति तावान् तत्परिमाणो वेणुः भवति। तावता वेणुना अग्निं विमिमीते"। भाष्य, तै.सं. – ५।२।५।

1267. "वि ते भिनद्मि तकरीं..". तै.सं. – ३।३।१०, भाष्य – हे वशे, ते तव तकरीं विभिनद्मि विश्लेषयामि विश्लथयामि जीवप्रदेशम्॥

1268. "यद्वा अनीशानो भारमादत्ते वि वै स लिशते यद्वादश..". तै.सं. – ६।२।५॥

1269. "यदाग्नीध्राद्धिष्णियान् विहरति". तै.सं. – ६।३।१, भाष्य – तस्मादाग्नीध्राद्धिष्णियान् विहरतीति विधीयते॥

1270. "अपेत वीत वि च सर्पतातो..". तै.सं. – ४।२।४, भाष्य – विसर्पत च अतः अस्मात् स्थानादपेत्य सांनिध्यं परित्यज्य विविधं गच्छत॥

विस्तारयति; वितिष्ठन्ते[1272]; विचरन्ति[1273]-विश्वतश्चरन्ति,विश्वग्गमनाः। वि चक्रमे[1274] - विभज्य प्राप्नोति। विभज्य क्रमते[1275]। विपश्यन्[1276] - विविधं पश्यन्। वि प्रथस्व[1277] - विस्तीर्णो भव; वि भिनद्मि[1278] - विश्लेषयामि विश्लथयामि। वि विनक्तु[1279] - तण्डुलेभ्यः कणान् पृथक्करोतु। वियन्तु[1280] - वृद्ध्यर्थं गर्भं धारयन्तु (वी गतिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु)। मा वि योषम्[1281] - वियुक्तो मा भुवम्; मा वि राधि[1282] - वियुक्तो मा कारि। वि रुहेम[1283] - विरूढा भूयास्म। विलिशते[1284] - अल्पीभवति क्षीयते इति यावत्। वि ष्यामि[1285] - विमुञ्चामि। विह्वयामहै[1286]- विविधम् आह्वयामः। व्यमार्ट्[1287] - विस्तारितवान्। व्यस्यन्[1288] - विविधं क्षिपन् प्रेरयन्। व्यवैर्यत[1289] - विशीर्णमभवत्। व्यद्यौत्[1290] - विविधं प्राप्तवान् (द्यु अभिगमने अदादिगणी)। व्यायच्छन्ते[1291] - व्यायामं कुर्वन्ति। व्युद्यते[1292] - विशेषेण क्लिद्यते। व्यस्यताम्[1293] - स्वस्थानात् इतश्चेतश्च विगमयताम्।

विचिनुयात् - "व्रीहीनाहरेच्छुक्लांश्च कृष्णांश्च विचिनुयात्[1294]"। चि (चिञ् चयने)। पृथक्करण अर्थ में है।

विधृते - "नासिकया चक्षुषी विधृते[1295]"। धृ (धृञ्)। व्यवहित अर्थ में।

[1271]. "..तथा प्रति स्पशः पाशान् वि सृज विस्तारय"। भाष्य, तै.सं. – १।२।१४॥

[1272]. "..पशवो वि तिष्ठन्ते प्रत्यञ्च...."। तै.सं. – ५।२।५, पृ.८५॥

[1273]. "वि ते.....शुचयश्चरन्ति.."। तै.सं. – ३।३।११, पृ.२७९॥

[1274]. "..इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा.."। तै.सं. – १।२।१३, पृ.३४४॥

[1275]. तै.सं. – १।२।१३, पृ.३४३॥

[1276]. "याति भुवना विपश्यन्.."। तै.सं. – ३।४।११, पृ.३६३॥

[1277]. "..भुवनमसि वि प्रथस्वाग्ने यष्टरिदं.."। तै.सं. – १।१।१२, पृ.१६४॥

[1278]. "..वि ते भिनद्मि तकरीं वि योनिं वि..."। तै.सं.३।३।१०, पृ.२७२॥

[1279]. "..वायुर्वो वि विनक्तु देवो..."। तै.सं. – १।१।५, पृ.९०

[1280]. "..रिहाणा वियन्तु वयः"। तै.सं. – १।१।१३, पृ.१८२॥

[1281]. "..वियुक्तो मा भुवम्..."। तै.सं. – १।२।५, पृ.२८२॥

[1282]. "..पूर्त्या वि राधि माऽहमायुषा.."। तै.सं. – १।२।३,पृ.२५६॥

[1283]. "..वि वयं रुहेम..."। तै.सं. – १।१।२, पृ. – ४२॥

[1284]. "..भारमादत्ते वि वै स लिशते.."। तै.सं. – ६।२।५, पृ.१३५॥

[1285]. "..इमं वि ष्यामि वरुणस्य."। तै.सं. – १।१।१०, पृ. – १४२॥

[1286]. "..विह्वयामहा इति ब्रह्म गन्धर्वा.."। तै.सं. – ६।१।६, पृ.६०॥

[1287]. "..विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट्.."। तै.सं. – ७।१।५, पृ.४२॥

[1288]. "..नहना व्यस्यन्। बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गू..."। तै.सं. ३।४।११, पृ.३६६॥

[1289]. "..व्यवैर्यत तस्माद्रुद्रा घातुका..."। तै.सं. – ७।१।५, पृ.४७॥

[1290]. "..उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः.."। तै.सं. – १।३।१४, पृ.५०३॥

[1291]. "..खलु वा एते व्यायच्छन्ते.."। तै.सं. – ३।४।८, पृ.३३५॥

[1292]. "..पृथिवी घृतैर्व्युद्यते"॥ तै.सं. – ३।१।११, पृ.९०॥

[1293]. "..विषूचीनान् व्यस्यताम्"। तै.सं. – १।१।१३, पृ.१७८॥

[1294]. तै.सं. – १।८।९॥

वियातयति - "त्रिवृतमेव यज्ञमुखे वियातयति[1296]"। यत् (यती प्रयत्ने)। अर्थ - आनुपूर्व्या न्यस्यति।

विरोचते - "यो ब्राह्मणो विद्यामनूच्य न विरोचते[1297]"। रुच् (रुच दीप्तावभिप्रीतौ च)। अर्थ - न विरोचते अर्थात् लोक में अर्चित न होना, यशस्वी न बनना।

विषजन्ति - "तस्माद्यत् पूयति तत् प्रवाते विषजन्ति[1298]"। सञ्ज् (षञ्ज सङ्गे)। विषजन्ति = प्रसारित करके स्थापित करने अर्थ में।

विष्यामि - "इमं वि ष्यामि वरुणस्य पाशम्[1299]"। सो (षो अन्तकर्मणि)। विष्यामि = विमुक्त करने अर्थ में।

विहर - "अग्नीदग्नीन् विहर[1300]"। वि पुर्वक हृ धातु पृथक्करण (अपहरण, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना – विहार करना[1301], सैर करना) अर्थ में होता है।

विन्यधत्त - "त्रेधात्मानं विन्यधत्त पृथिव्यां तृतीयम्[1302]"। वि एवं नि पूर्वक धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः)। अर्थ - विभज्य न्यधात्।

व्यतारीत् - "वि मित्र एवैररातिमतारीत्[1303]"। तॄ प्लवनतरणयोः। भट्टभास्कर - अरातिमदानशीलं शत्रुं व्यतारीत् वितारयतु (वितरणशीलं) दानशीलं करोतु। यदा विपूर्वस्तरतिर्विप्लवे वर्तते, विप्लवो विनाशः, तथा विनाशयतु।

व्यतृष्यन् - "आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन् तेऽमुष्मिंल्लोके व्यतृष्यन्[1304]"। तृष् (ञितृषा पिपासायाम्)। पिपासाकुला होने अर्थ में।

व्यह्वयन्त - "तां देवासुरा व्यह्वयन्त[1305]"। ह्वे (ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च)। व्यह्वयन्त = विविध आह्वान करने अर्थ में।

व्यादिशत् - "प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्[1306]"। दिश् (दिश अतिसर्जने)। विभाग करके देना।

व्यूहेत् - "शर्करा सिकता व्यूहेत्[1307]"। ऊह् (ऊह वितर्के)। अर्थ – पार्थक्य से बिखेरना (विकिरेत, विस्तृणीयात्) अर्थ में।

[1295]. तै.सं. – २।३।८॥

[1296]. तै.सं. – ५।१।१॥

[1297]. तै.सं. – २।१।२॥

[1298]. तै.सं. – ६।४।७॥

[1299]. तै.सं. – १।१।१०॥

[1300]. तै.सं. – ६।३।१॥

[1301]. अ.को. – तृतीय अध्याय, श्लोक – १६॥

[1302]. तै.सं. – २।४।१२॥

[1303]. तै.सं. – १।८।१०॥

[1304]. तै.सं. – १।५।४॥

[1305]. तै.सं. – १।७।१॥

[1306]. तै.सं. – १।७।३॥

वि-उपसर्ग के साथ तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त अन्य क्रिया-पद निम्नलिखित है –

विक्रम् = विक्रमते-५।३।७, विकृष् = विकर्षति-५।४।४, विकृ = विकरोति-१।५।९, विजि = विजयते-२।४।२, वि..जयते-२।२।१, विच्छिद् = विच्छिनत्ति-५।४।८, ६।६।९, विचक्ष् = विचष्टे-१।५।११, विधाव् = विधावति, विद्युत् = विद्योतते-७।५।२५, विभजतु = १।४।४३, विबाध् = विबाधते-२।४।१, विनुद् = वि..नुदस्व-१।६।१२, विराज् = विराजति-१।५।३, विमा (माने) = वि..मिमीते-५।४।६, विरुह् = वि..रोहन्ति-३।४।३, विरुच् = विरोचते-३।३।११, वि..रोचते-२।५।१२, विह्वे = विह्वयामहे-४।१।५॥

सम्[1308] - सम् को एकीभाव अर्थ में माना जाता है।[1309] सम् स्था धातु एवं ह्वेञ् धातु के साथ सम्यक् अर्थ का वाचक है[1310] गच्छ् धातु के साथ यह "सह" अर्थ में रहता है (सङ्गच्छते)[1311]। सम् पूर्वक ज्ञा धातु अनाध्यान (उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ में वर्तमान न हो तो) (शतं संजानीते)[1312] गृ धातु के साथ प्रतिज्ञान=स्वीकार करना अर्थ में होता है (शतं सङ्गिरते=सौ रुपये स्वीकार करता है)[1313]। चर् धातु के साथ सम् उपसर्ग जब तृतीया विभक्ति से युक्त हो तो वह धातु का द्योतक मात्र होता है (अश्वेन सञ्चरते)[1314]।

भट्टभास्कर के अनुसार इसके अर्थ निम्न हैं - संगच्छताम्[1315]; सम् अग्मत[1316]- संगच्छन्ताम् (आत्मनेपद में); समृच्छते[1317] - संगच्छते (आत्मनेपद में); सं गच्छे[1318] - संगता भूयासम् (आत्मनेपद); सं जानाते[1319] (आत्मनेपद में); सं नह्ये[1320] - बध्ये (कर्मणि लकार); सं पृच्यध्वम्[1321] -संपृक्ता भवत; सं पृच्यस्व[1322] - संपृक्तो भव; सं भरामि[1323] - भरामि (भरणे भौवादिकः); सं मार्ज्मि[1324] -

---

[1307]. तै.सं. – ५।२।६॥

[1308]. "..सं ज्योतिषा ज्योतिरङ्क्ताम्"॥ तै.सं. – १।१।१२, पृ.१६९॥

[1309]. नि. – १।१॥

[1310]. "समवप्रविभ्यः स्थः"। अष्टा. – १।३।२२, १।३।३०॥

[1311]. "समो गम्यृच्छिभ्याम्"। अष्टा. – १।३।२९॥

[1312]. "संप्रतिभ्यामनाध्याने"। अष्टा. – १।३।४६॥

[1313]. "समः प्रतिज्ञाने"। अष्टा. – १।३।५२॥

[1314]. "समस्तृतीयायुक्तात्"। अष्टा. – १।३।५४॥

[1315]. "..सं ज्योतिषा ज्योतिरङ्क्ताम्"॥ तै.सं. – १।१।१२, पृ.१६९॥

[1316]. "..समापो अद्भिरग्मत समोषधयो.."। तै.सं. – १।१।८, पृ.११०॥

[1317]. "..सोमः समृच्छते संवेशाय.."। तै.सं. – ३।१।७, पृ.४८॥

[1318]. "..समायुषा सं प्रजया...गच्छे समात्मा.."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१४३॥

[1319]. "..जामदग्नियौ न सं जानाते..."। तै.सं. – ७।१।९, पृ.८६॥

[1320]. "..भूत्वा सं नह्ये सुकृताय.."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१३९॥

[1321]. "..सं पृच्यध्वमृतावरीरूर्मिणीर्मधुमत्तमा.."। तै.सं.१।१।३, पृ.५८॥

[1322]. "..रक्षस्व सं ब्रह्मणा पृच्यस्वैकताय..."। तै.सं. १।१।८, पृ११६

[1323]. "..त्वा सं भराम्यदित्यै..."। तै.सं. – १।१।२, पृ. – ४३॥

[1324]. "..सपत्नसाहं सं मार्ज्मि.."। तै.सं. – १।१।१०, पृ. – १३५॥

शोधयामि; संयौमि[1325] - मिश्रीकरोमि सायण - सम्यक् मिश्रीकरोमि; मा सं विक्थाः[1326] - मा कम्पिष्ठाः (ओविजी भयचलनयोः); सं सृज्यध्वम्[1327] - संसृष्टा भवत; सं शिशाधि[1328] - संशितं कुरु (स्वकार्यसमर्थमित्यर्थः) सायण - सम्यगुपदिश्य पारं नय।

समजिज्ञपत् - समिन्द्रो "मरुद्भिर्यज्ञियैः समादित्यैर्नो वरुणो अजिज्ञपत्[1329]"। ज्ञा अवबोधने। भट्टभास्कर - समजिज्ञपत् सम्यग्ज्ञापयतु अभ्युपगच्छतु।

समध्रियन्त - "तेऽदित्यां समध्रियन्त[1330]"। धृ (धृङ् अवस्थाने)। समध्रियन्त सम्भूयातिष्ठन्।

समनैष्ट - "श्रेयः समनैष्ट देवाः[1331]"। णीञ् प्रापणे से निष्पन्न यह – "श्रेयः समनैष्ट = कल्याण को प्राप्त होने अर्थ में है।

समरुक्षन् - "अध्वानोऽभवन्न पन्थानः समरुक्षन्[1332]"। रुह बीजजन्मनि) धातु से निष्पन्न समरुक्षन् पद का अर्थ "प्रकृतिस्था अभूवन्" है।

समस्कुर्वत - "इषुं समस्कुर्वत[1333]"। इसका सम् पूर्वक डुकृञ् करणे धातु से "धनुषि समदधुः" अर्थ है।

सङ्क्रमतु - "यज्ञः संक्रामत्वमुष्मादधि मामभि[1334]"। क्रमु पादविक्षेपे धातु से इसका अर्थ - सङ्क्रामतु = इत आगच्छतु।

संचरतः - "तस्मात् प्राणापानौ सं चरतः[1335]"। चर् (चर गतिभक्षणयोः)। संचरतः = साथ संचरण अर्थ में है।

संनयति - "इन्द्रियेणैवैनं देवताभिः सं नयति[1336]"। भट्टभास्कर - संनयति = संयोजयति; संयोजन अर्थ में है।

संभव - "इयं ते शुक्र तनूरिदं वर्चस्तया संभव[1337]"। भट्टभास्कर - संभव सङ्गच्छस्व; साथ साथ जाने अर्थ में।

[1325]. "..त्वा सं यौम्यग्नये.."। तै.सं. - १।१।८, पृ.११२॥

[1326]. "..त्वा चक्षुषा प्रेक्षे मा भेर्मा सं विक्थाः.."। तै.सं. १।१।४, पृ.६९॥

[1327]. "..सं रेवतीर्जगतीभिर्मधुमतीर्मधुमतीभिः सृज्यध्वमद्ध्वः.."। तै.सं. – १।१।८, पृ.१११॥

[1328]. "..वरुण सं शिशाधि ययाऽति..."। तै.सं. १।२।२, पृ.२४२॥

[1329]. तै.सं. – २।१।११॥

[1330]. तै.सं. – ६।१।५॥

[1331]. तै.सं. – ५।७।२॥

[1332]. तै.सं. – २।५।११॥

[1333]. तै.सं. – ६।२।३॥

[1334]. तै.सं. – ७।३।११॥

[1335]. तै.सं. – ५।२।१०॥

[1336]. तै.सं. – ६।१।४॥

[1337]. तै.सं. – १।२।४॥

संसादयति - "देवता एवास्मै संसादयति[1338]"। सद् (षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु)। भट्टभास्कर - संसादयति = संगतान् स्थापयति।

समायच्छते - "सन्तरा मेखला समायच्छते[1339]"। यह सम् एवं आङ् पूर्वक यम उपरमे धातु से भट्टभास्कर के अनुसार "सुदृढमाच्छिद्य बध्नाति" अर्थ में है।

समावृङ्क्ते - "भक्तो राष्ट्र परिगृह्णान्येकधा समावृङ्क्ते[1340]"। वृजि वृजी वर्जने धातु से यह स्ववश में करने अर्थ में निष्पन्न है।

सु - सु पूजार्थ में निपात होता है (सुसिक्तं भवता)[1341]। अव्ययीभाव समास में समृद्धि में सु होता है (सुमगधम्)[1342]।

३.३.पाणिनि-प्रोक्त निपात-मीमांसा -

आचार्य पाणिनि अष्टाध्यायी के प्रथम-अध्याय के चतुर्थ-पाद में "प्राग्रीश्वरान्निपाताः[1343]" सूत्र के अधिकार में निपातों का परिगणन करते हैं। निपात-संज्ञा के ही अन्तर्गत उपसर्ग-संज्ञक[1344], गति-संज्ञक व कर्मप्रवचनीय-संज्ञकों[1345] का पाठ है। निपातों की व्याख्या करने हेतु आचार्य ने इनको गणों में, क्रिया के साथ व विशिष्ट अर्थों में संयोजित किया है। जिनका वर्णन निम्नलिखित है -

३.३.१.गणों में पठित निपात –

निपात-संज्ञक सूत्रों में पाणिनि ने मात्र चार गणों का उल्लेख किया है जो निम्न है -

चादिगण – च, वा, ह, अह, एव, एवम्, नूनम्, शश्वत्, यूगपत्, भूयस्, सूपत्, कूपत्, कुवित्, नेत्, चेत्, चण, कच्चित्, यत्र, तत्र, नह, हन्त, माकिम्, माकीम्, माकिर्, नकिम्, नकीम्, नकिर्, आकीम्, माङ्, नञ्, तावत्, यावत्, त्वा, त्वै, द्वै, न्वै, रै (रे), श्रौषट्, वैषट्, स्वधा, स्वाहा, ओम्, तथा, तथाहि किल, अथ, सुष्ठु, स्म, अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, आदह, उञ्, उकञ्, वेलायाम्, मात्रायाम्, यथा, यत्, तत्, किम्, पुरा, बधा (वध्या), धिक्, हाहा, हेहै (हहे), पाट्, प्याट्, आहो, उताहो, हो, ...।[1346]

प्रादिगण – प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप।[1347]

ऊर्यादि – ऊरी, उररी, तन्थी ताली, आताली, वेताली, धूली, धूसी, शकला, शंसकला, ध्वंसकला, भ्रंशकला, गुलगुधा, सजूस, फल, फली, विक्की, आक्की आलोष्ठी, केवाली, केवासी, सेवासी, पर्याली, शेवाली, वर्षाली,

---

[1338]. तै.सं. – ५।१।४॥

[1339]. तै.सं. – ६।२।२॥

[1340]. तै.सं. – २।१।२॥

[1341]. "सुः पूजायाम्"। अष्टा. – १।४।९३॥

[1342]. अष्टा. – २।१।६॥

[1343]. अष्टा. – १।४।५६॥

[1344]. "प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे"। अष्टा. – १।४।५८॥

[1345]. "कर्मप्रवचनीयाः"। अष्टा. – १।४।८२॥

[1346]. "चादयोऽसत्त्वे"। अष्टा. – १।४।५७, सि.कौ. - गणपाठ, पृ. – ४११-४१२॥

[1347]. "प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे"। अष्टा. – १।४।५८, सि.कौ. – गणपाठ, पृ. - ४१२

अत्यूमशा, वश्मसा, मश्मसा, मसमसा, औषट्, श्रौषट्, वौषट्, वषट्, स्वाहा, स्वधा, पांपी, प्रादुस्, श्वत्, आविस्।[1348]

साक्षात्प्रभृति – साक्षात्, मिथ्या, चिन्ता, भद्रा, रोचना, आस्था, अमा, अद्धा, प्राजर्या प्राजरुहा, बीजर्या, बीजरुहा, संसर्या, अर्थे, लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आद्रम्, अग्नौ, वशे, विकसने, विहसने, प्रतपने, प्रादुस्, नमस्।[1349]

३.३.२.क्रिया के योग में निपात -

उपर्युक्त गणों के अतिरिक्त कुछ शब्द भी **क्रिया के योग में** निपात कहलाते हैं –

- ऊर्यादि शब्द, च्व्यन्त और डाजन्त पद - शुक्लीकृत्य, पटपटाकृत्य[1350]। अनुकरणवाची शब्द निपात, यदि उस अनुकरणवाची शब्द के परे इति शब्द न हो – खाटकृत्य, खाट्कृतम्[1351]। सत् आदर अर्थ में असत् पद निरादर अर्थ में - सत्कृत्य,असत्कृत्य[1352]। अलम् पद भूषण अर्थ में – अलंकृत्य, अलंकृतम्[1353]।
- अन्तर् पद अपरिग्रह (न स्वीकार करना) अर्थ में निपात होता है, जैसे – अन्तर्हत्य, अन्तर्हतम्[1354]। कणे एवं मनसि पद श्रद्धा के प्रतिघात अर्थ में - कणेहत्य/मनोहत्य पयः पिबति[1355]।
- पुरस् पद - पुरस्कृत्य[1356]। अस्तम् पद - अस्तंगतानि धनानि[1357]।
- गत्यर्थक व वद के योग में अच्छ पद – अच्छगत्य, अच्छगतम्; अच्छोद्य, अच्छोदितम्[1358]। अदः पद अनुपदेश विषय में – अदःकृत्य, अदःकृतम्[1359]। तिरस् पद, व्यवधान अर्थ में -तिरोभूय, तिरोभूतम्[1360]।
- यदि कृञ् धातु का योग हो तो तिरस्[1361], उपाजे, अन्वाजे[1362] व साक्षात्प्रभृति[1363], शब्द भी विकल्प से पूर्ववत्, क्रमशः तिरस्कृत्य, उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा, साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा; विकल्प से निपात पाए जाते हैं।

[1348]. "ऊर्यादिच्विडाचश्च"। अष्टा. – १।४।६०, सि. कौ. – गणपाठ, पृ. – ४१२॥

[1349]. "साक्षात्प्रभृतीनि च"। अष्टा. – १।४।७३, सि. कौ. – गणपाठ, पृ. – ४१२॥

[1350]. "ऊर्य्यादिचिडाचश्च"। अष्टा. – १।४।६०॥

[1351]. "अनुकरणं चानितिपरम्"। अष्टा. – १।४।६१॥

[1352]. "आदरानादरयोः सदसती"। अष्टा. – १।४।६२॥

[1353]. "भूषणेऽलम्"। अष्टा. – १।४।६३॥

[1354]. "अन्तरपरिग्रहे"। अष्टा. – १।४।६४॥

[1355]. "कणेमनसी श्रद्धाप्रतिघाते"। अष्टा. – १।४।६५॥

[1356]. "पुरोऽव्ययम्"। अष्टा. – १।४।६६॥

[1357]. "अस्तं च"। अष्टा. – १।४।६७॥

[1358]. "अच्छ गत्यर्थवदेषु"। अष्टा. – १।४।६८॥

[1359]. "अदोऽनुपदेशे"। अष्टा. – १।४।६९॥

[1360]. "तिरोऽन्तर्द्धौ"। अष्टा. – १।४।७०॥

[1361]. "विभाषा कृञि"। अष्टा. – १।४।७१॥

[1362]. "उपाजेन्वाजे'। अष्टा. – १।४।७२॥

[1363]. "साक्षात्प्रभृतीनि च"। अष्टा. – १।४।७३॥

- मध्ये, पदे, निवचने (मध्येकृत्य, पदेकृत्य, निवचनेकृत्य) शब्द[1364] तथा अनत्याधान (चिपकाके न रखना) अर्थ में उरसि व मनसि (उरसिकृत्य, मनसिकृत्य)[1365] शब्द तथा उपयमन (विवाह विषय) में नित्य ही हस्ते व पाणौ (हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य)[1366] शब्द कृञ् धातु के योग में पूर्ववत् हो।
- प्राध्वम् अव्यय आनुकूल्य अर्थ में (प्राध्वंकृत्य)[1367] तथा जीविका व उपनिषद् शब्द उपमा विषय में (जीविकाकृत्य, उपनिषत्कृत्य)[1368] कृञ् धातु के योग में निपात हों।

ध्यातव्य है कि निपातों की अव्ययसंज्ञा[1369] होती है तथा गतिसंज्ञा होने के कारण इनको तत्पुरुष समास भी होता है[1370]।

३.३.३.कुछ उपसर्गों का विशेष अर्थ में निपात होना -

गणों में पठित व क्रिया के योग में निपातों के अतिरिक्त कुछ पद व उपसर्ग भी विशिष्ट परिस्थिति में गति व निपात संज्ञक कहलाते हैं। ऐसे उपसर्गों की संख्या एकादश है। अनु, उप, अप, परि, आङ्, प्रति, अभि, अधि, सु, अति और अपि। इनकी भिन्न-भिन्न अर्थों में कर्मप्रवचनीय एवं निपात संज्ञा होती है[1371]। कर्मप्रवचनीय संज्ञक शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है[1372]।

- अनु की लक्षण द्योतित होने पर कर्मप्रवचनीय तथा निपात संज्ञा होती है - जपमनुप्रावर्षत्।[1373] अनु एवं अव तृतीया अर्थ में - नदीमन्ववसिता सेना[1374]। अनु हीन अर्थ में - अनुहरिं सुराः[1375]। उप की न्यून एवं अधिक अर्थ में - उपहरिं सुराः।[1376]
- अप, परि वर्जन (छोडना) अर्थ में तथा इनमें पञ्चमी विभक्ति होती है[1377] - अपहरेः, परिहरेः[1378]। आङ् मर्यादा में - आमुक्तेः संसारः[1379] पूर्ववत् हो।
- प्रति, परि, अनु को लक्षणादि अर्थों में – लक्षण - वृक्षं प्रतिपर्यनु वा विद्योतते विद्युत्, इत्थम्भूताख्यान – साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, भाग – यदत्र मां प्रति स्यात्, वीप्सा – वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति।[1380] परन्तु अभि की लक्षणादि अर्थों में भाग को छोडकर निपात-संज्ञा होती है - हरिमभिवर्त्तते[1381]।

[1364]. "मध्ये पदे निवचने च"। अष्टा. – १।४।७५॥

[1365]. "अनत्याधान उरसिमनसी"। अष्टा. – १।४।७४॥

[1366]. "नित्यं हस्ते पाणावुपयमने"। अष्टा. – १।४।७६॥

[1367]. "प्राध्वं बन्धने"। अष्टा. – १।४।७७॥

[1368]. "जीविकोपनिषदावौपम्ये"। अष्टा. – १।४।७८॥

[1369]. "स्वरादिनिपातमव्ययम्"। अष्टा. – १।१।३३ अव्ययसंज्ञा॥

[1370]. "कुगतिप्रादयः"। अष्टा. – २।२।१८॥

[1371]. अष्टा. – १।४।८३-९७॥

[1372]. "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया"। अष्टा. – २।३।८॥

[1373]. "अनुर्लक्षणे"। अष्टा. – १।४।८३॥

[1374]. "तृतीयार्थे"। अष्टा. – १।४।८४॥

[1375]. "हीने"। अष्टा. – १।४।८५॥

[1376]. "उपोऽधिके च"। अष्टा. – १।४।८६॥

[1377]. "पञ्चम्यपाङ्परिभिः"। अष्टा. – २।३।१०॥

[1378]. "अपपरी वर्जने"। अष्टा. – १।४।८७॥

[1379]. "आङ् मर्यादावचने"। अष्टा. – १।४।८८॥

[1380]. "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः"। अष्टा. – १।४।८९॥

[1381]. "अभिरभागे"। अष्टा. – १।४।८७॥

- प्रति की प्रतिनिधि एवं प्रतिदान अर्थ में पूर्ववत् संज्ञा हो, तथा इसके पञ्चमी विभक्ति भी हो[1382] – प्रतिनिधि - प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति, प्रतिदान – माषान् तिलेभ्यः प्रति यच्छति[1383]।
- अधि, परि यदि अनर्थक (अन्य अर्थ के द्योतक न हों) हो तो पूर्ववत् - कुतोऽध्यागच्छति[1384]।
- सु पूजा अर्थ में - सुसिक्तम्, सुस्तुतम्[1385]। अति अतिक्रमण एवं पूजा अर्थ में - अतिदेवान् कृष्णः[1386]
- अपि पदार्थादि अर्थों में पूर्ववत् – पदार्थ – मधुनोऽपि स्यात्, सम्भावन – अपि सिञ्चेत् मूलकसहस्रम्, अन्ववसर्ग – अपि सिञ्च, गर्हा – अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम्, समुच्चय – अपि सिञ्च।[1387]
- अधि ईश्वर (स्वस्वामि-सम्बन्ध) अर्थ में पूर्ववत् तथा इसमें सप्तमी विभक्ति होती है[1388] - अधि देवदत्ते पञ्चालाः[1389]। परन्तु कृञ् धातु के साथ विकल्प से - अधि यदत्र मामधिकरिष्यति, पक्ष में – यदत्र माम् अधि करिष्यति[1390]॥

३.३.४.कारकों में निपातों के कारण अर्थ-वैशिष्ट्य –

कारक-प्रकरण में कुछ निपातों का उल्लेख किया गया है जिनके योग में विभक्तियाँ का विधान होता है -

- नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् व वषड् निपातों के कारण चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे – गुरुभ्यः नमः।[1391]
- अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् तथा आहि प्रत्ययान्त शब्दों के साथ सदैव पञ्चमी होती है[1392]।
- तसर्थ-प्रत्यय के योग में षष्ठी – दक्षिणतः ग्रामम् इत्यादि[1393]।
- एनप् प्रत्ययान्त के साथ द्वितीया होती है – दक्षिणेन ग्रामम्[1394]।
- पृथक्, विना, नाना शब्दों के साथ तृतीया व पञ्चमी होती है – पृथक् ग्रामेण/ ग्रामात्[1395]।

[1382]. "प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्"। अष्टा. – २।३।११॥

[1383]. "प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः"। अष्टा. – १।४।९१॥

[1384]. "अधिपरी अनर्थकौ"। अष्टा. – १।४।९२॥

[1385]. "सुः पूजायाम्"। अष्टा. – १।४।९३॥

[1386]. "अतिरतिक्रमणे च"। अष्टा. – १।४।९४॥

[1387]. "अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु"। अष्टा. – १।४।९५॥

[1388]. "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी"। अष्टा. – २।३।९॥

[1389]. "अधिरीश्वरे"। अष्टा. – १।४।९६॥

[1390]. "विभाषा कृञि"। अष्टा. – १।४।९७॥

[1391]. "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च"। अष्टा. – २।३।१६॥

[1392]. "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते"। अष्टा. – २।३।२९॥

[1393]. "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन"। अष्टा. – २।३।३०॥

[1394]. "एनपा द्वितीया"। अष्टा. – २।३।३१॥

[1395]. "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्"। अष्टा. – २।३।३२॥

३.३.५.निपातों के प्रकार -

संस्कृत वाङ्मय में निपातों के चार प्रकार माने गये हैं – उपसर्गप्रतिरूपक, विभक्तिप्रतिरूपक, प्रत्ययप्रतिरूपक और स्वरप्रतिरूपक।[1396] आचार्य पाणिनि ने इसका उल्लेख गणपाठ में किया है – "उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः"।[1397]

(क)उपसर्गप्रतिरूपक – परितः, अभितः, परावतः, सम्प्रति, अवस्तात्, परस्तात्, अधरात्, उद्क्तात्, पश्चात्, पश्चात्तात्, प्राक्तात्, अप्राक्तात्, पुरस्तात्, अनुकः, अतितराम्, उत्तमः, अर्वाक्, उत्तरात्, प्रवतः इत्यादि। इनमें प्रकृति उपसर्ग की होती है।

(ख)विभक्तिप्रतिरूपक –

१. तृतीया-विभक्ति – अन्तरेण, अमा, अला, इत्था, इदा, कथा, कुहया, नमसा, प्रायेण, मस्मसा, समया, स्वधया, स्वधाभिः, पराचैः इत्यादि।
२. चतुर्थी-विभक्ति – अह्नाय, चिराय, स्वस्तये इत्यादि।
३. पञ्चमी-विभक्ति – अवस्तात्, आरात्, पश्चात्तात्, पुरस्तात्, बलात् इत्यादि।
४. षष्ठी-विभक्ति – चिरस्य, नानानम् इत्यादि।
५. सप्तमी-विभक्ति – अन्यतरस्याम्, अभीके, परे, पारे इत्यादि।

(ग)प्रत्यय-प्रतिरूपक – (तिङ्प्रतिरूपक) – अस्तु, भवतु, अस्ति, असि, मन्ये, आह इत्यादि।

(घ)स्वर-प्रतिरूपक – अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऐ, औ, ऋ, ॠ, ऌ इत्यादि।

उपर्युक्त निपातों के प्रकार आकृति के दृष्टिकोण से स्वीकृत हैं। परन्तु यास्काचार्य निपातों को अर्थ के आधार पर तीन भेदों में विभाजित करते हैं – उपमार्थक, कर्मोपसंग्रहार्थक और पादपूरण। इव, न, नु, चित् – उपमार्थक। च, वा, आ - कर्मोपसंग्रहार्थक। कम्, ईम्, इत्, उ – पादपूरणार्थक।[1398]

३.३.६.पदों में दीर्घ-विधि -

संहिता-विषय में ऋचा में कुछ पदों को कदाचित् दीर्घ-विधि पाई जाती है -

- इगन्त शब्द को सुञ् निपात परे रहते – *अभी षु णः सखीनाम् (ऋ.४।३१।३)।*[1399]
- तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र, उरुष्य में – तु – आ तू न इन्द्र वृत्रहन् (ऋ.४।३२।१), तङ् – भरता जातवेदसम् (ऋ. – १०।१७६।२), कु – कूमनः, त्र – अत्रा गौः, उरुष्य – उरुष्या णोऽग्नेः।[1400]
- दो अच् वाले तिङन्त के अकार को – विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूर गोनाम्।[1401]

[1396]. "उपसर्गविभक्तिप्रत्ययस्वरप्रतिरूपकाश्च"। म.भा. – ३।२।४२॥

[1397]. "चादयोऽसत्त्वे"। अष्टा. – १।४।५७, सि.कौ. - गणपाठ, पृ. – ४११-४१२॥

[1398]. "अथ निपाता। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पादपूरणाः..". नि. – अ.१, पा.२, खं.२

[1399]. "इकः सुञि"। अष्टा. – ६।३।१३३॥

[1400]. "ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्"। अष्टा. – ६।३।१३२॥

- ऋचा-विषय में निपात को दीर्घ होता है, जैसे – एवा ते, अच्छा ते[1402]।

३.४.तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त निपातों का अर्थवैज्ञानिक अध्ययन –

अच्छ[1403] - भट्टभास्कराचार्य के अनुसार इसका अर्थ - आभिमुख्येन; बर्हिरच्छ = आसुं, बर्हिरच्छ = बर्हि प्रासुम्[1404], नाकमच्छ = स्वर्गं अभिप्रासुं[1405] अर्थात् प्राप्ति के अर्थ में है। यास्क के अनुसार इसका अर्थ "आसुम्[1406]" है। गत्यर्थक एवं वद् धातु के योग में निपात संज्ञक होता है[1407]। अमरकोष में यह वारिवर्ग में पठित है तथा इसका निर्मल साफ अर्थ कर अव्यय न मानकर तीनों लिङों में मानते हैं।[1408] उत्तररामचरितम् में भी इसको इसी अर्थ में माना गया है – "मुक्ताच्छदन्तच्छविदन्तुरेयम्[1409]"।

अथ[1410] - वाङ्गमय में इस निपात को मङ्गलार्थक, अधिकारवाचक[1411] तथा इति शब्द का विपरितार्थक माना जाता है। साहित्य[1412] एवं शास्त्रों[1413] में इसको "इसके पश्चात्" इस अर्थ में स्वीकार किया गया है। भट्टभास्कराचार्य ने भी इसको इसी अर्थ में माना है – "एतस्मात कारणात्; अनन्तरम्"[1414]। जबकि अमरकोष में इसको – मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और कात्स्र्न्य अर्थों में माना है।[1415]

अथो[1416] - अमरकोष के अनुसार यह निपात भी अथ के समान अनन्तर[1417] मङ्गलादि अर्थों में होता है।[1418] भट्टभास्कर व सायण के अनुसार इसका अर्थ "अपि च" है।

[1401]. "द्व्यचोऽतस्तिङः"। अष्टा. – ६।३।१३४॥

[1402]. "निपातस्य च"। अष्टा. – ६।३।१३५॥

[1403]. "..सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय.."। तै.सं. – १।२।४, पृ.२७४॥

[1404]. ज्ञानयज्ञ व सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।२॥

[1405]. सायणभाष्य, तै.सं. – ४।४।४॥

[1406]. दुर्गाचार्यकृतटीका। नि. – पञ्चम अध्याय, पृ.४८८॥

[1407]. "अच्छ गत्यर्थवदेषु"। अष्टा. – १।४।६८॥

[1408]. अ.को. – प्रथम काण्ड, श्लोक -१४

[1409]. उ.रा.च. – ६।२७॥

[1410]. "..अथा सोमस्य प्रयती.."। तै.सं. – १।१।१४॥

[1411]. "अथ योगानुशासनम्"। यो.सू. – १।१॥
"अथ शब्दानुशासनम्"। म.भा. पस्पशाह्निक॥

[1412]. "अथ प्रजानामधिपः प्रभाते बनाय धेनुं मुमोच"। रघु. – २।१॥

[1413]. "अथातो धर्मजिज्ञासा"। मी.सू. – १।१॥

[1414]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ३।४।११॥

[1415]. "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्र्न्येष्वथो अथ"। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – २४६॥

[1416]. "..पतिरन्नियानामथो पिता.."। तै.सं. – ३।३।९॥

[1417]. तै.सं. – ४।१।९॥

[1418]. अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक।

अभितः[1419] - यह निपात उभयतः अर्थ में अभि शब्द से तसिल् विभक्तिसंज्ञक तद्धित प्रत्यय से निष्पन्न है[1420]। जिसकी अव्ययसंज्ञा भी मानी गई है।[1421] अमरकोष के अनुसार यह निम्न अर्थों में प्रयोग होता है – समीप, उभयतः, शीघ्र, साकल्य (सम्पूर्ण) और अभिमुख (सम्मुख) [1422]। इस निपात के योग में द्वितीया विभक्ति होती है[1423]। भट्टभास्काराचार्य इसको एक स्थान पर दो बिन्दुओं के अर्थों को बताने वाला मानते हैं "अधस्तादुपरिष्टाच्च"[1424]।

अलम् – अलम् अव्यय भूषण, पर्याप्त, समर्थ (शक्ति) व वारण का वाचक[1425] एवं निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है[1426]। तैत्तिरीय-संहिता में भी इसका प्रयोग इन्हीं अर्थों में हुआ है[1427]। यदि अलं शब्द के प्रयोग के बिना ही समर्थता की प्रतीति हो रही हो तो पर्याप्त विशिष्ट सम्भावना अर्थ में लिङ् लकार होता है[1428] - अपि गिरि शिरसा भिन्द्यात्।

अह[1429] - यास्क ने निरुक्त में इस निपात को कर्मोपसंग्रहार्थक निपातों में परिगणित किया है एवं इसको विनिग्रहार्थक कहा है[1430]। निरुक्तवृत्तिकार दुर्ग इसका अर्थ "एव" करते हैं।[1431] मैक्डॉनल के अनुसार यह निपात वेद में निश्चय, ध्रुवम्, वस्तुतः और ठीक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[1432] तैत्तिरीय-संहिता में इसका अर्थ - खलु = एव[1433] = *धामानि (स्थानानि) पुनर्विशिष्यन्ते – अत्र अह अत्रैव। अहेत्यवधारणे। येष्वेव धामसु उरुगायस्य..[1434]। अह एव उरुगायस्य महात्मभिर्गीयमानस्य भूरे महतः।[1435]* कुत्रचित् यह निपात वैकल्पिक स्थिति में पक्ष के द्योतक के रूप में प्रयुक्त होता है[1436] - *तस्मात् एतस्य किं कर्तव्यमेव क्रियते किं वा अकर्तव्यमेव*

1419. "..पृथिवीमभितः मयूखैः"। तै.सं. – १।२।१३॥

1420. "प्राग्दिशो विभक्तिः"। अष्टा. – ५।३।१, "पर्यभिभ्यां च"। अष्टा. – ५।३।९॥

1421. "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः"। अष्टा. – १।१।३७॥

1422. "अभितः परितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि"। वार्तिक, अष्टा. – १।४।४८॥

1423. "समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः"। अ.को. – तृतीयकाण्डम् श्लोक – २५४॥

1424. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।२।१३॥

1425. "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्"। अ.को. – अव्ययवर्ग, श्लोक – २५१॥

1426. अ.को. – अव्ययवर्ग, श्लोक – ११॥

1427. "..आदित्येष्टका उप दधात्यादित्या वा एतं भूत्यै प्रति नुदन्ते योऽलं भूत्यै सन् भूतिं न प्राप्नोति..। तै.सं. – ५।३।१०॥
"आहाग्नीदग्नीन् वि हर बर्हिः स्तृणाहि पुरोडाशां अलं कुर्विति"। तै.सं. – ६।३।१॥

1428. "सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे"। अष्टा. – ३।३।१५४॥

1429. "..अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः.."। तै.सं. – १।३।६, पृ.४२३॥

1430. "अथ यस्यागमादर्थ पृथकत्वमह विज्ञायते"। नि. – १।४।२०॥

1431. "पृथकत्वमह पृथग्भाव एव विज्ञायते"। नि.वृ. – १।४।२०॥

1432. वै.व्या. – मैक्डॉनल (अनु.सत्यव्रत शास्त्री), पृ.२८६॥

1433. "..अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भाति भूरेः...."। तै.सं.- १।३।६।२॥

1434. तै.सं. – ज्ञानयज्ञ-भाष्य, पृ.४२४ भाग – १॥

1435. – वही – सायणभाष्य - ॥

1436. "उत्सन्नयज्ञो वा एष यदग्निः किं वाऽहैतस्य क्रियते किं वा न यद्वै....."। तै.सं.-५।३।१।१,
"..यामो हि तेषां कस्मा अह देवा यामं वाऽयामं वाऽनु ज्ञास्यन्तीत्युत्तरेण...."। तै.सं. – ६।३।१।६॥

क्रियते इति को ज्ञातुम् अर्हति। अह इति पक्षे।[1437] इस निपात की एक अन्य विशेषता है कि यह अपने पश्चात् आने वाले शब्द की व्याख्या में प्रयुक्त होता है।

आनुषक् - "यस्त आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्"[1438]। भट्टभास्कर के अनुसार इसका अर्थ – "यः त्वाम् आनुषक् अनुषक्तं नित्यं आतिथ्यम् अतिथिसत्कारम्" है। निरुक्त में भी इसको परिभाषित किया है।[1439]

इति[1440] - यह हेतु[1441], प्रकरण (प्रकार), प्रकाश[1442], समाप्ति आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1443] यह निपात शब्द[1444] व प्रातिपदिक[1445] के स्वरूप को दर्शाने के लिए भी प्रयुक्त होता है – "हे वरुण, इति यत् शपामहे[1446]"।

ईम्[1447] - भट्टभास्कराचार्य इस निपात को खल्वर्थ में, अवधारण में[1448] प्रयोग हुआ है[1449]।

उ[1450] - तैत्तिरीय संहिता में उ निपात पादपूरण[1451] एव अर्थ में,[1452] समुच्चय में[1453] तथा कहीं कहीं यह पूर्व से व्यावृत्ति के लिए भी दिखाई देता है। "तु" के तकार का लोप होने के पश्चात् शेष उकार का भी "उ" निपात के रूप विधान होता है (भट्टभास्कर = उ शब्दः पूर्वस्माद्-व्यावृत्त्यै। तु शब्दो वा लुप्ततकारः)। इस निपात का प्रयोग विकल्प अर्थ में भी होता है तथा जहाँ वा पद के द्वारा इसका अर्थ विकल्पार्थक मान्ते है वहाँ यह निपात प्रश्नवाचक पद के पश्चात् प्रयुक्त होता है।[1454]

उरु[1455] - यह निपात बृहत्, विशाल और विपुल[1456] आदि के अर्थ में है[1457]। भट्टभास्कर इसका अर्थ "विस्तीर्णम्" करते है[1458]।

[1437]. तै.सं. - ज्ञानयज्ञभाष्य – पृ.१२४, भाग – २॥

[1438]. तै.सं. – १।२।१४, पृ. – ३६५॥

[1439]. नि. – षष्ठ अध्याय, पृ.- ५४२॥

[1440]. "..अग्निया वरुणेति शपामहे.."। तै.सं. – १।३।११॥

[1441]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ४।२।६॥

[1442]. अष्टा. – २।१।६॥

[1443]. अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – २४४॥

[1444]. "न वेति विभाषा"। अष्टा. – १।१।४३॥

[1445]. "पुरा....क्रमादमुं नारद इत्यबोधिः.."। शिशु. – १।३॥

[1446]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. - १।३।११॥

[1447]. "..अस्त्वथेमव स्य वर आ...."। तै.सं. – १।२।३, पृ.२६१।

[1448]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।३।१४॥

[1449]. तै.सं. – ४।२।२॥

[1450]. "..देवानामिदमु नः सह.."। तै.सं. – १।१।४, पृ.७१॥

[1451]. "उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति..."। सायणभाष्य, तै.सं. – १।२।८, २।३।८, ६।१।११॥

[1452]. "..वयमु त्वा पथस्पते.."। तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०५॥

[1453]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।४।२३॥

[1454]. "सः तादृशः वृक्षः क उ आस कीदृग्वा बभूव तदुत्पादकं वनम् अरण्यं किं स्वित्। सायणभाष्य, तै.सं. – ४।६।२॥

[1455]. "..हराम्युर्वन्तरिक्षमन्विहि..."। तै.सं. – १।१।३, पृ. – ४६॥

उत[1459] - यह निपात विकल्प तथा समुच्चय अर्थ में है।[1460] "उत" बीने हुए सूत को भी कहा जाता है[1461]। कई बार उत के साथ आहो का प्रयोग किया जाता है तथा ओकारान्त होने के कारण "उताहो" की प्रगृह्य संज्ञा होती है[1462] तथा पाणिनि के अनुसार उताहो से युक्त व्यवधानरहित तिङ् को अनुदात्त नहीं होता है[1463]। भट्टभास्कर एवं सायण भी इसको इन्हीं अर्थों में स्वीकार करते है[1464] - जैसे – "युञ्जते मनः विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य इष्टे विषये स्थापयन्ति। उत अपि च, धियः च युञ्जते यागादिलक्षणानि कर्माणि कुर्वते"[1465]। परन्तु उत निपात यदि अपि के समान अर्थ वाला हो (बाढम् = हाँ अर्थ में दोनों समानार्थक होते हैं) तो क्रिया लिङ् लकार में होती है – उत कुर्यात्[1466]।

एव[1467] - सायण ने एव निपात को एवम्, एव, खलु तथा अपि के अर्थ में माना है।[1468] कुछ मन्त्रों में इसकी एकाधिक बार आवृत्ति हुई है।[1469] कुछ स्थानों पर इसका प्रयोग संज्ञा[1470] एवं सर्वनाम[1471] शब्दों के पश्चात् हुआ है उन स्थानों पर इसको पदों पर बल देने हेतु निश्चय अर्थ में प्रयुक्त माना गया हैं कभी – कभी यह उपसर्ग व क्रिया के मध्य में पाया जाता है।[1472]

ओ[1473] - भट्टभास्कर के अनुसार यह निपात समुदाय में प्रयुक्त होता है (ओ इति निपातसमुदायात्मा निपातः[1474])। परन्तु यह निपात व्याकरण के "ओ" गुण संज्ञक से[1475], भो भगो अघो[1476] आदि, गार्ग्य मत के "ओ"[1477] से भिन्न होता है।

[1456]. "विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत्। वड्रोरुविपुलम्...."। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, ६०-६१॥

[1457]. रघु. – ६।७४॥

[1458]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।३, ४।१।११॥

[1459]. "..विजामातुरुत वा..."। तै.सं. – १।१।१४

[1460]. "उताप्यर्थविकल्पयोः..."। श्लोक – २४२, "आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमुत च"। श्लोक – ५, अ.को. – तृतीयकाण्डम्॥

[1461]. "ऊतं स्यूतमुतं चेति तन्तुसन्तते"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक – १०१॥

[1462]. "ओत्"। अष्टा. – १।१।१५॥

[1463]. "आहो उताहो चानन्तरम्"। अष्टा. – ८।१।४८॥

[1464]. ज्ञानयज्ञ व सायणभाष्य, तै.सं. – ४।१।१०, ४।२।६॥

[1465]. तै.सं. – १।२।१३, इसके अतिरिक्त भी उत के समुच्चय अर्थ के उदाहरण – १।४।२१, ३।१।४, ३।३।११, ४।१।१, ४।१।६॥

[1466]. "उताप्योः समर्थयोर्लिङ्"। अष्टा. – ३।३।१५२॥

[1467]. तै.सं. – ३।१।१॥

[1468]. सायणभाष्य, तै.सं. – ३।१।१, १।५।१, १।५।२, २।१।१ इत्यादि॥

[1469]. तै.सं. – ३।३।४॥

[1470]. "प्रजा एव तद्यजमानः.."। तै.सं. – ३।१।१॥

[1471]. "..निर्वधिष्टेत्याहैतदेव सर्वमात्मन्.."। तै.सं. – ३।१।१॥

[1472]. "..वेद प्रत्येव तिष्ठति.."। अष्टा. – ३।१।२॥

[1473]. "..प्रतिचक्ष्याभूदो.."। तै.सं. – १।४।३३॥

[1474]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।४।३३॥

किल[1478] - भट्टभास्कर व सायण आद्युदात्त इस निपात को प्रसिद्ध अर्थ में मानते हैं – "आसथ किल=स्थिता इति एतत् लोके प्रसिद्धम्"।[1479] यास्काचार्य ने इसका अर्थ "विद्या की प्रकर्षता" प्रकट करने वाला कहा है।[1480] इस सन्दर्भ की व्याख्या में दुर्गाचार्य ने टीका में विद्या-प्रकर्ष से तात्पर्य "विज्ञानातिशय" माना है।[1481] किन्तु यास्क का यह अर्थ तैत्तिरीय संहिता में उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अल्प ही इस अर्थ को भाष्यकारों ने कहा है। मैक्डोनल इस निपात का "वस्तुतः" तथा "अवश्यमेव" अर्थ करते हैं, इनके अनुसार यह निपात अपने पूर्ववर्ती पद पर बल देने के लिए प्रयोग में आता है।[1482] अमरकोष में इसको सम्भावना व वार्ता अर्थ में माना गया है।[1483] विवरण दर्शाने के लिए भी[1484]।

खलु[1485] - भट्टभास्कर व सायण इस निपात को विभिन्न स्थानों में निश्चयार्थक के द्योतक के रूप में स्वीकार करते है।[1486] आचार्य यास्क ने 'मा' निपात के सन्दर्भ में इसका वर्णन करते हुए इसे पदपूरणार्थक एवं निषेधार्थक माना है[1487]। ध्यातव्य है कि खलु निपात के उदाहरणों में निरुक्तकार वैदिक उदाहरणों का प्रयोग नहीं करते हैं।[1488] मैक्डॉनल इसके वस्तुतः, कृपया, सचमुच अर्थ करते हुए इसे बलाधायक निपात मानते हैं[1489]। अमरकोष के अनुसार यह निषेध[1490], वाक्य का अलङ्कार, जानने की इच्छा और अनुनय के अर्थ में[1491] होता है[1492]।

घ[1493] - यह निपात पादपूरण एवं प्रसिद्धि अर्थ में प्रयुक्त होता है - "घ शब्द पादपूरणे प्रसिद्धौ वा"*[1494]* तथा इसको संहिता विषय में दीर्घादेश होता[1495]होता है। निरुक्त

[1475]. "अदेङ् गुणः"। अष्टा. – १।१।२॥

[1476]. "भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि"। अष्टा. – ८।३।१७॥

[1477]. "ओतो गार्ग्यस्य"। अष्टा. – ८।३।२०॥

[1478]. "गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ.."। तै.सं. – ४।२।६॥

[1479]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – ४।२।६॥

[1480]. "किलेति विद्याप्रकर्ष एव किलेति"। नि. – १।५।६॥

[1481]. "किलेति विद्याप्रकर्षे विज्ञानातिशय इत्यर्थः"। नि. – दुर्गटीका १।५।६॥

[1482]. वै. व्या. – मैक्डो. अनु. सत्यव्रत शास्त्री, पृ.२९९॥

[1483]. "..वार्ता संभाव्ययोः किल"। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – २।५३॥

[1484]. "बभूव योगी किल कार्तवीर्यः"। रघु. – ६।३८॥

[1485]. "..छन्दाँसि खलु वै सोमस्य.."। तै.सं. – ३।१।२॥

[1486]. ज्ञानयज्ञभाष्य व सायणभाष्य - तै.सं. – ३।१।२॥

[1487]. "मा प्रतिषेधे...खल्विति च...अथापि पदपूरणः"। नि. – १।५।८, ९, १०॥

[1488]. "खलु कृत्वा, खलु कृतम्, एवं खलु तद्वभूवेति"। नि. – १।५।८, ९, १०॥

[1489]. वै. व्या. – मैक्डॉ., अनु. सत्यव्रत शास्त्री, पृ. ३००॥

[1490]. "निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्"। शिशु. – २।७०॥

[1491]. "न खलु... साहसं कार्यमेतत्"। नागा. – ३॥

[1492]. "निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक – २५४॥

[1493]. "..विजामातुरुत वा घा स्यालात्.."। तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०१॥

[1494]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।१४॥

में इस निपात का उल्लेख नहीं है तथा मैक्डॉनल इसके केवल, ही अथवा केवल बल देना, बिल्कुल अर्थ मानते हैं[1496]। लेकिन कुछ स्थानों पर इसका अर्थ ही नहीं किया है।

तिरः[1497] - तिरस् को अन्तर्धान व तिर्यक्[1498] अर्थ में जाना जाता है[1499] यह अन्तर्द्धि = व्यवधान अर्थ में क्रिया के योग (तिरोभवति) तथा विकल्प से कृ के योग में (तिरः करोति) निपातसंज्ञक कहलाता है।[1500] तथा इसी अन्तर्द्धि के कारण जिससे अपना छिपना चाहना हो वह अपादानसंज्ञक होता है (उपाध्यायाद् अन्तर्द्धत्ते, उपाध्यायाद् निलीयते)[1501]। भट्टभास्कर भी इसका अर्थ "तिरोहित" मानते हैं। तैत्तिरीय संहिता में तिर्यक्[1502] शब्द का भी व्याख्यान मिलता है जिसका भट्टभास्कर तिरश्चीनम् अर्थ करते हैं।

तुथः[1503] - यह रूप सौत्र तु धातु से[1504] उणादि थक् प्रत्यय करके बनता है जिसका अर्थ "महान्" है। भट्टभास्कर के अनुसार – "तु इति सौत्रो धातुः (पा.७।३।९५) वृद्धिकर्मा। "पातृतुदि" (उणादि.१७२) इत्यादिना पिबत्यादिभ्यो विधीयमानः थक्-प्रत्ययो बहुलवचनादस्मादपि भवति। महानित्यर्थः। यद्वा – स्तौते थक्याद्यवर्णलोपः। स्तुत्य इत्यर्थः"।

न[1505] - यह निपात नहि, अ, नो के समान अभाव वाचक है[1506]तथा निषेध अर्थ में भी जाना जाता है।[1507] यास्काचार्य के अनुसार उपमानार्थक भी है[1508] उपमार्थक जैसे – "वत्सं न माता सिषक्ति" तथा "शिवाभिर्न स्मयमानाभिराऽगात्"[1509]।

नु[1510] - यह निपात प्रश्न (पृच्छा अर्थ में – को नु धावति), विकल्प (विकल्प में – भीमो नु धर्मो नु[1511]), अनुनय और प्रतीत अर्थ में तथा सन्देह एवं अनिश्चयातमकता प्रकट

1495. "ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्"। अष्टा. – ६।३।१३२ ॥

1496. वै.व्या. – मैक्डॉ., अनु. सत्यव्रत शास्त्री, पृ. ३०१॥

1497. "तिर इव यर्हि.."। तै.सं. – ३।१।१॥

1498. "स तिर्यङ् सस्तिरोऽञ्चति"। अ.को. – तृतीयकाण्ड, श्लोक ३४॥

1499. "तिरोऽन्तर्धौ तिर्यगर्थे"। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – २५५॥

1500. "तिरोऽन्तर्धौ"। अष्टा. – १।४।७०, "विभाषा कृञि"। अष्टा. - १।४।७१॥

1501. "अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति"। अष्टा. – १।४।२८॥

1502. "..त्वाऽन्वङ्मा तिर्यक्..."। तै.सं. – १।१।२, पृ.४०॥

1503. "..तुथोऽसि विश्ववेदा.."। तै.सं. – १।३।३, पृ.३९६॥

1504. "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके"। अष्टा. ७।३।९५॥

1505. "..न स रिष्यति पूरुषः"। तै.सं. – ४।२।६॥

1506. "अभावे नह्यनो नापि"। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – ११॥

1507. "न रिष्यति= नैव रिष्यामि"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ४।२।६॥

1508. नि. – १।४॥

1509. तै.सं. – ३।१।११॥

1510. "..विदुषो नु यज्ञं शृणोतु.."। तै.सं. – १।३।१३, पृ.४८२॥

1511. "नु पृच्छायां वितर्के च..."। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – २८७॥

करने के लिए होता है[1512]। इनके साथ-साथ भट्टभास्कर इसको विकल्प[1513],(वितर्क), इव, क्षिप्र,[1514], पुराणवचन व हेतु[1515] "इदानीम्"[1516], खलु[1517], ननु[1518] अर्थ में है।

नूनम्[1519] - यह निपात तर्क तथा अर्थ का निश्चय[1520] - अर्थों में प्रयुक्त है।[1521]। यास्क के अनुसार यह पदपूरण तथा विचिकित्सार्थक है[1522]। सायण ने इसके इदानीम्, क्षिप्रम्, सत्य और पुरा आदि अर्थ किये हैं[1523]।

पुरस्तात्[1524] - दिशावाचि "पूर्व" प्रातिपदिक से दिक्, देश और काल में अस्ताति प्रत्यय होता है[1525] तथा इस पूर्व को पुर् आदेश होता है[1526]। यह निपात पहला, पूर्वदिशा, प्रथम, भूतकाल व आगे[1527] अर्थों में है। भट्टभास्कर ने इसका अर्थ "पूर्वस्मिन् काले" करते हैं।

पुरा – यह निपात – "पूर्वमेव"[1528], पुरस्तात्[1529], प्राक्[1530], सृष्ट्यादौ[1531] आदि अर्थों में है। अमरकोष में इसको प्रबन्ध, चिरातीत, निकट व आगामी अर्थों में माना है[1532]। पुरा के उपपद होने से भविष्यत्काल में भी वर्त्तमानकालिक लट् होता है।[1533] यदि स्म रहित पुरा उपपद हो, तो अनद्यतन भूतकाल में लुङ् व लट् दोनों होते हैं, तथा

[1512]. शिशु. – १०।१४॥

[1513]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।३।१३॥

[1514]. "..जुषेथां सेवेथां नु क्षिप्रम्"। ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।१।१४॥

[1515]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।४।२२

[1516]. "अस्मानिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो.."। तै.सं. – १।४।३३, भाष्य – अस्माभिः एव त्विदानीम् प्रतिचक्ष्या..॥

[1517]. "तूर्वन् न यामन्नेतशस्य नू रण आ.."। तै.सं. – ४।६।१॥

[1518]. "वसतु नु न इदमिति तद्वसतीवरीणाम्.."। तै.सं. – ६।४।२॥

[1519]. तै.सं. – १।५।६॥

[1520]. मेघ. – पूर्वमेघ -१८॥

[1521]. "नूनं तर्केऽथ निश्चये"। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – २४९॥

[1522]. "नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च। नि. – १।५।१२॥

[1523]. सायणभाष्य, तै.सं. – १।८।५, २।६।११, २।६।१२, ४।४।४ इत्यादि॥

[1524]. "लोकः पुरस्तात् सोमस्य.."। तै.सं. – ३।१।२॥

[1525]. "दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः। अष्टा. – ५।३।२७॥

[1526]. "अस्ताति च"। अष्टा. – ५।३।४०॥

[1527]. रघु. – २।४४॥

[1528]. "पुरा क्रुरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय"। तै.सं. – १।१।९॥

[1529]. "..पुरा प्रातरनुवाकाज्जुहुयादात्मन एव तदध्वर्युः.."। तै.सं. – ३।१।७॥

[1530]. "यो वै पवमानस्य संततिं वेद सर्वमायुरेति न पुराऽऽयुषः प्र.."। तै.सं. – ३।२।१॥

[1531]. "या जाता ओषयधयो देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा"। तै.सं. – ४।२।६॥

[1532]. "स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा"। अ.को. – २५२॥

[1533]. "यावत्पुरानिपातयोर्लट्"। अष्टा. – ३।३।४॥

भूतकालिक लुङ् को पुरा के उपपद होने से कोई परिवर्तन नहीं होता – "स्वकीयात् आयुषः पुरा मा पादि अपमृत्युना मृतो मा भूत्"[1534]।

प्र प्र[1535] - प्र उपसर्ग को पाद की पूर्ति करने के लिए द्वित्व हो जाता है इसके अतिरिक्त भी सम्, उप, तथा उत् उपसर्गों को भी द्वित्व हो जाता है।[1536]

भूयः[1537] - यह निपात अधिकता के अर्थ में प्रयुक्त है[1538]। भट्टभास्कर ने इसका अर्थ "बहुतरम्"[1539] किया है।

माकिः[1540] - तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त यह निपात भट्टभास्करार्य के अनुसार "मा कश्चिदपि, माकिः ईशत = शक्तो मा" अर्थों में है।

माङ् – माङ् के ङकार का लोप[1541] होकर मा शेष रहता है। मा के उपपद रहते धातु से लुङ्, लिङ् व लोट् लकार होते हैं[1542]। सामान्यतः माङ् का प्रयोग लुङ् लकार में होता है[1543] जिसके पश्चात् अडागम का अभाव पाया जाता है[1544]। यदि मा के साथ स्म शब्द भी हो तो लङ् व लुङ् होते हैं[1545]। "मा" अव्यय के रूप में निषेधवाचक भी होता है[1546]। तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार यह निषेध[1547] व लुङ्-लकार[1548] में है। अमरकोषकार "मा" को लक्ष्मीवाची[1549] भी मानते है।

वै[1550] - भट्टभास्कराचार्य के अनुसार यह खल्वर्थ में होता है। परन्तु कभी कभी इसका प्रयोग खलु निपात के साथ भी पाया जाता है।[1551] इस निपात का निरुक्त में उल्लेख नहीं है। जबकि मैक्डोनल इसको बलाधायक निपात मानते हैं जिसको

1534. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ४।१।४॥

1535. "..पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर.."। तै.सं. – १।३।४, ४।२।३॥

1536. "प्रसमुपोदः पादपूरणे"। अष्टा. – ८।१।६॥

1537. "..सोमाऽऽभूयो भर..."। तै.सं. – १।२।३, पृ.२५६॥

1538. "..पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूयश्च भूरि..."। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक - ६३॥

1539. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।२।३॥

1540. "मार्किष्टे व्यथिरा.."। तै.सं. – १।२।१४॥

1541. "हलन्त्यम्"। अष्टा. – १।३।२, "तस्य लोपः" – १।३।९॥

1542. "माङि लुङ्"। अष्टा. – ३।३।१७५॥

1543. "मा स्कान्" तै.सं. – १।१।९॥

1544. अष्टा. – ६।४।७४, ६।४।७५॥

1545. "स्मोत्तरे लङ् च"। अष्टा. – ३।३।१७६॥

1546. अ.को. – अव्ययवर्ग, श्लोक – ११॥

1547. "देवबर्हिर्मा त्वाऽन्वङ्मा तिर्यक् पर्व ते राध्यासमाच्छेत्ता"। तै.सं. – १।१।२, ज्ञानयज्ञभाष्य - "अन्वक् पर्वणोऽधस्तात्। तिर्यक् तिरश्चीनम्। यत्र क्वापि एवं त्वा मा आच्छिदम्।..आच्छेत्ता इति वक्ष्यमाणात्वाच्चा माशब्देन छेदनं निषिध्यते इति वेदितव्यम्"॥

1548. "मा भेर्मा सं विक्था"। तै.सं. – १।१।४॥

1549. अ.को. – स्वर्गवर्ग, श्लोक – ५॥

1550. "..भारमादत्ते वि वै स..."। तै.सं. -६।२।५, १।७।११॥

1551. "..छन्दाँसि खलु वै सोमस्य राज्ञः..."। तै.सं. – ३।१।२॥

उदाहरणों से भी स्पष्ट किया जा सकता है[1552]। अष्टाध्यायी में वै एवं वाव निपात के योग में आख्यात पद को वेद में सर्वानुदात्त नहीं माना है[1553]। वै का प्रयोग सर्वनाम तथा सर्वनामों पदों से निर्मित अव्ययो के साथ[1554] प्रायशः दिखाई देता है। इसको निश्चयात्मक परन्तु पूरक के रूप में भी माना जाता है[1555]।

शश्वत् – यह एक निपात है जो चादिगण में पठित है[1556]। इसको बारम्बार अर्थसूचक[1557], निरन्तरवाचक[1558] माना जाता है। परन्तु तैत्तिरीय-संहिता में यह विभक्तियों से सज्जित एक पद है – शश्वतः, शश्वता, शश्वन्तः[1559] इत्यादि। जिसको भाष्यकार निरन्तर अर्थ में मानते हैं।

सदा[1560] - सर्व शब्द से दा प्रत्यय होता है[1561]। तथा सर्व शब्द के स्थान में दकारादि प्रत्यय परे रहते स आदेश विकल्प से होता है[1562] इस प्रकार सदा शब्द बनता है विकल्प से सकार होने के कारण सर्वदा शब्द बनता है।

सह[1563] - साथ के वाचक – सार्धम्, साकम्[1564], सत्रा, समम् और सह शब्दों का प्रयोग होता है।[1565] पाणिनि के अनुसार सह के अर्थवाची शब्दों के योग में अप्रधान तृतीया विभक्ति होती है[1566]। सायणाचार्य के अनुसार सह का अर्थ सहित है। यदि विसर्ग सहित सह = सहः का प्रयोग हो तो उसका अर्थ "बलं" किया जाता है।[1567]

स्म[1568] - यहाँ निरुक्त में इसका उल्लेख नहीं है। मैक्डोनल इसको ठीक, अभी-अभी, विशेष रूप से, निःसन्देह इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त मानते हैं तथा अल्प बल देने वाला मानते हैं।[1569] स्म के योग में वर्तमानकालिक लट् भी परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में होता है

1552. "..ततो वै स प्रजा असृजत..."। तै.सं. – ३।१।१॥
"..यद्वै दीक्षितमभिवर्षति दिव्या..."। तै.सं. – ३।१।१॥

1553. "वैवावेति च छन्दसि"। अष्टा. – ८।१।६४ ॥

1554. तै.सं. – ३।३।४, "यद्वै दीक्षितमभिवर्षति दिव्या..."। तै.सं. – ३।१।१॥

1555. "आपो वै नरसूनवः"। मनु. – १।१०॥

1556. "चादयोऽसत्त्वे"। अष्टा. – १।४।५७॥

1557. "मुहुः पुनः पुनः शश्वद्...."। अ.को. – अव्ययवर्ग, श्लोक – १॥

1558. "अभीक्ष्णं शश्वदनारते"। अ.को. – अव्ययवर्ग, श्लोक – ११॥

1559. क्रमशः - तै.सं. - २।२।१२, १।८।२१, ४।३।१३॥

1560. "..परमं पदँ सदा"। तै.सं. – १।३।६॥

1561. "सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा"। अष्टा. – ५।३।१५॥

1562. "सर्वस्य सोऽन्यतस्याम्"। अष्टा. – ५।३।६॥

1563. "..देवानामिदमु नः सह.."। तै.सं. – १।१।४॥

1564. " ..साकमेकेन कर्मणा"। तै.सं. – १।१।१४॥

1565. "सार्धं तु साकं सत्रा समं सह"। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, अव्ययवर्ग श्लोक – ४॥

1566. "सहयुक्तेऽप्रधाने"। अष्टा. – २।३।१९॥

1567. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – ३।३।८॥

1568. "..ह स्म वा ऋषयः.."। तै.सं. – ३।३।८॥

1569. वै. व्या., – मैक्डॉ., अनु. सत्यव्रत शास्त्री, पृ. ३३३॥

जैसे - आह स्म[1570] = अब्रवीत्[1571]; विभजति स्म[1572]। स्म पादपूरण में भी होता है[1573]। अमरकोषकार इसको भूतकाल व पादपूरण में मानते हैं[1574]।

स्वाहा[1575] - भट्टभास्कर इसको "स्वयम् ही कहता है" इस अर्थ का द्योतक माना जाता है।[1576] तथा इसको आद्युदात्त होता है।[1577]

ह[1578] - निरुक्तकार ने इसे विनिग्रहार्थक माना है[1579]। परन्तु इसके लिए यास्क ने वैदिक उदाहरणों का प्रयोग नहीं किया है।[1580] मैक्डोनल ने "गम्भीरतापूर्वक कथन करना" तथा "तनिक सा बल देने" अर्थ में प्रयुक्त माना है[1581]। तैत्तिरीय-संहिता के भाष्यकारों के अनुसार इसका अर्थ निम्नलिखित हैं - निश्चय[1582] क्रियाविशेषण - ह देभुः[1583] = एव। क्रिया के पश्चात् - ऋध्नोति ह[1584] = ऋध्नोति एव; वृश्चन्ति ह[1585] = विनाशयन्त्येव। सर्वनाम के साथ - एतां ह = एताम् एव; एष ह वै हविषा = एषः एव यजमानः हविषा। संज्ञा को स्पष्ट करने के लिए - अरुणः ह स्म आह = अरुणः नाम आह स्म अब्रवीत्[1586], द्युतान ह स्म वै मारुतः[1587]। ह के उपपद होने पर धातु से अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में लङ् होता है[1588]- ह अकरोत्। अमरकोष में "ह" निपात को पादपूरण माना गया है[1589]।

1570. "क्षोधुकोऽरुणो ह स्माऽऽहौपवेशिः..."। तै.सं. – ६।१।९॥

1571. "लट् स्मे" – ३।२।११८॥

1572. तै.सं. – ६।६।१॥

1573. "..अन्वागन्ता यज्ञपरिर्वो अत्र तं स्म जानीत परमे व्योमन्"। तै.सं. – ५।७।७, ज्ञानयज्ञभाष्य – अत्र परमे व्योम्नि प्रशस्ते निधिलक्षणे च पुण्यलोके युष्मानन्वागन्तारं जानीत प्रविष्टवानयमस्य स्थानमिति, तम् एनं स्वीकुरुत॥

1574. अ.को. – अव्ययवर्ग, श्लोक – ५ व १७॥

1575. "..नाकाय स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम्..."। तै.सं. – १।१।३, पृ.५५॥

1576. "स्वयमेवाह' इत्यस्यार्थस्य द्योतकोऽकं निपातः"। तै.सं. – १।१।३॥

1577. "निपाता आद्युदात्ताः। फिट्सू. – ८०॥

1578. "..ना ह देभुः"। तै.सं. – १।२।१४॥

1579. "अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थौ यौ"। नि. १।५।२॥

1580. "अयमहेदं करोत्वयमिदमिदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति"। नि. – १।५।२॥

1581. वै.व्या. – मैक्डॉनल, अनु. सत्यव्रत शास्त्री॥

1582. सायणभाष्य, तै.सं. – ३।१।११॥

1583. तै.सं. – १।२।१४॥

1584. "तेष्वार्ध्नोअदधि तदृध्नि ह वा ऋत्विक्षु"। तै.सं. – ७।२।१०, ज्ञानयज्ञभाष्य - "तस्मात् एवं विदित्वा द्वादशाहेन यष्टा ऋत्विक्षु निमित्तेषु ऋध्नोति एव"।

1585. तै.सं. – ३।१।११॥

1586. तै.सं. – ६।१।९, पृ.८२, ॥

1587. तै.सं. – ६।२।१०॥

1588. "हशश्वतोर्लङ् च"। अष्टा. – ३।२।११६॥

1589. अ.को. – अव्ययवर्ग, श्लोक – ५॥

हि[1590] - भट्टभास्कराचार्य इसको निश्चय अर्थ में, खलु[1591], चार्थ में[1592], यस्मादर्थ[1593]में मानते हैं। यास्काचार्य ने भी इस निपात को विविध अर्थो में स्वीकार किया है[1594] इस निपात को कारण और निश्चय के अर्थ में भी स्वीकार किया जाता है।[1595] अमरकोषकार इसे हेतु, अवधारण (निश्चय) व पादपूरण अर्थों में मानते हैं[1596]।

<u>ध्यातव्य</u> - पञ्चम-अध्याय (लकारार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन) में जिन निपातों (यत्, ह, शश्वत्, स्म, ननु, न, नु, पुरा, यावत्, कदा, कर्हि, किंवृत्त = कथम् इत्यादि, अपि, जातु, किंकिल, यच्च, यत्र, उत, अलम्, माङ्) के कारण लकारार्थ का विधान होगा उनका वर्णन भी यहाँ किया गया है। इन निपातों में से तैत्तिरीय-संहिता में जातु, किंकिल, ननु व यच्च के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं। जबकि यत्, न, यावत्, कदा, कर्हि, किंवृत्त, यच्च व यत्र का लकारार्थ-प्रयोग न होकर मात्र निपात के रूप में हुआ है।

उपसंहार - निरुक्त में पद को चार भागों में बाँटा गया है – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। परन्तु पाणिनि पद में नाम व आख्यात का ग्रहण करते हैं। अष्टाध्यायी में उपसर्ग को निपात के अधिकार के अन्तर्गत कहा गया है[1597] अर्थात् प्र परादि क्रिया के योग में उपसर्गसंज्ञक होते हैं (प्रणयति) अन्यत्र निपात के रूप में जाने जायेंगे[1598]। अष्टाध्यायी में क्रिया के योग में निपातसंज्ञक होने वाले कुछ अन्य शब्द निम्नलिखित हैं – च्व्यन्त, डाजन्त, अनुकरणवाची, सत्, असत्, अलम्, अन्तर्, कणे, मनसि, पुरस्, अस्तम्, अच्छ, अदः, तिरस्, उपाजे, अन्वाजे, उरसि, मनसि, मध्ये, पदे, निवचने आदि। आचार्य पाणिनि के अनुसार कुछ उपसर्ग भी जब एक विशेष को बतलाते हैं तो निपात संज्ञक होते हैं – अनु (लक्षण अर्थ), अनु, अव (तृतीया अर्थ), अनु (हीन अर्थ), उप (न्यून, अधिक अर्थ), अप, परि (छोडना), आङ् (मर्यादा), प्रति, परि, अनु, अभि (लक्षणादि अर्थ) प्रति (प्रतिनिधि, प्रतिदान), अधि, परि (अनर्थक), सु (पूजा) अति (अतिक्रमण, पूजा) इत्यादि। स्वरांकन के दृष्टिकोण से उपसर्ग आद्युदात्त[1599] होते है तथा निपात आद्युदात्त[1600] व अनुदात्त[1601] दोनों होते हैं।

तैत्तिरीय-संहिता में उपसर्ग कदाचित् स्पष्ट रूप से अर्थ के वाचक है यथा – "अधिनिर्वदति[1602]" (ऊर्ध्व को निष्काषित करके बोलना) यहाँ अधि=ऊर्ध्व, निर्=निष्काष्य, पूर्वक वद् धातु है, कहीं द्योतक मात्र – "अनुमन्त्रयते" यहाँ "मन्त्रि गुप्तभाषणे धातु" है जो स्वयं ही अर्थ को कहने में सक्षम है। कभी-कभी उपसर्ग

1590. "..अश्रवँ हि भूरिदावत्तरा वां..". तै.सं. – १।१।१४॥
1591. तै.सं. – ४।४।४॥
1592. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।३।१३॥
1593. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।४।४॥
1594. "हीत्येषोऽनेकर्मेदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे, कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे, कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्"। नि. – १।५।५॥
1595. "हि हेताववधारणे"। अ.को. – तृतीयकाण्डम्, श्लोक – १५६॥
1596. क्रमशः - अ.को. – नानार्थवर्ग – श्लोक – २५५, अव्ययवर्ग, श्लोक – ५॥
1597. "प्राग्रीश्वरान्निपाताः"। अष्टा. – १।४।५६॥
1598. "प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे"। अष्टा. – १।४।५८॥
1599. "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्"। फिट्सू. – ४।१३॥
1600. "निपाताः आद्युदात्ताः"। फिट्सू. – ४।१२॥
1601. "चादयोऽनुदात्ताः"। फिट्सू. – ४।१६॥
1602. तै.सं. – ६।३।१०॥

के साथ धातु स्वयं के अर्थ को नहीं बताती है - अनुपश्यति[1603]= अनुक्रमेण जानाति यहाँ भाष्यकार दृश् धातु को ज्ञा धातु के अर्थ के साथ सम्बद्ध करते हैं अनु उपसर्ग के योग में। कहीं कहीं उपसर्ग ही प्रधानता से अपने अर्थ को बताता है – "राष्ट्रमनुकल्पते[1604]" में अनुकल्पते अनुपूर्वक "कृपु सामर्थ्ये" धातु से सम्पन्न यह क्रिया अनुसरण अर्थ में, जिसमें अनु की प्रधानता का ज्ञान होता है।

[1603]. तै.सं. – ६।१।५॥

[1604]. तै.सं. – ३।४।८॥

चतुर्थ अध्याय

वाच्य की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

चतुर्थ-अध्याय

वाच्य की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

वाक्य में प्रयुक्त पद साक्षात् और असाक्षात् रूप से क्रियान्वित होते हैं। क्रियान्वित पदों में कदाचित् कर्त्ता की, कदाचित् कर्म की प्रधानता होती है, और जब कर्त्तृ और कर्म की प्रधानता नहीं होती तब क्रिया ही प्रधानभूता हो जाती है। इस प्रकार कर्त्तृ, कर्म और क्रिया के प्रधानभूत होने के कारण क्रमशः कर्त्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य होते हैं।

क्रिया के दो मुख्य अंश होते हैं – व्यापार और फल। इन्हीं दोनों के आश्रय (व्यापाराश्रय तथा फलाश्रय) के आधार पर सकर्मक व अकर्मक का निर्णय होता है। जब क्रिया का फलाश्रय और व्यापाराश्रय एक ही होता है तब वह अकर्मक होती है यथा – *तेन भूयते,* और जब इसका फलाश्रय और व्यापाराश्रय भिन्न होता है तब वह सकर्मकक्रिया होती है, यथा – *रामः फलं खादति* यहाँ खादनक्रिया का व्यापार राम में स्थित है और उसका फल *'गलविलाधः संयोगः'* फल में स्थित है, अतः फल और व्यापार के भिन्न होने के कारण खाद्-धातु सकर्मक है।[1605]

इस प्रकार कर्म की विद्यमानता और अविद्यमानता के आधार पर क्रिया के दो भेद होते हैं – सकर्मक और अकर्मक। अकर्मक धातु से भाव और कर्त्ता में लकार होते हैं, तद्यथा – *आस्यते देवदत्तेन*, आस्ते देवदत्तः। सकर्मक से कर्म और कर्त्ता में लकार होते हैं - *देवदत्तेन फलं खाद्यते, रामः भोजनं खादति।*[1606] अतः जब सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार की धातुओं से परे लकार कर्त्ता कारक में होता है तो उसको "लकारों का कर्तृवाच्य प्रयोग" कहा जाता है, जैसे – *आस्ते देवदत्तः, रामः भोजनं खादति।* परन्तु जब तृतीया विभक्ति से कर्त्ता का बोध होता है तो वहाँ कर्मवाच्य या भाववाच्य का प्रयोग माना जाता है।[1607] जिसमें अकर्मक धातु से भाववाच्य एवं सकर्मक धातु से कर्मवाच्य का प्रयोग माना जाता है।

४.१.पाणिनि-प्रोक्त वाच्य-मीमांसा –

किसी वाक्य में क्रिया का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। संस्कृत में इसके प्रयोग में हिन्दी भाषा के समान बन्धन नहीं होते हैं अर्थात् वाक्य में किसी भी स्थान पर इसका प्रयोग हो सकता है। वात्तिककार के अनुसार वाक्य की अन्य विशेषताएँ – "एकतिङ्। आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। सक्रियाविशेषणञ्च। आख्यातं सविशेषणम्"[1608] है। भर्तृहरि वाक्य के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का उल्लेख करते हैं –

[1605]. "फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः।
धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः" ॥ वै.भू.सा. - कारिका- १३
"आत्मानम् आत्मना बिभ्रद अस्तीति व्यपदिश्यते।
अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मण न सकर्मकः"॥ वा.प. ३।३।४७ ॥

[1606]. "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः"। अष्टा. -३।४।६९ ॥

[1607]. "कर्तृकरणयोस्तृतीया"। अष्टा. – २।३।१८ – अनभिहित कर्त्ता में तृतीया होती है॥

[1608]. वार्त्तिक, म.भा. – २।१।१॥

"आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्तिनि। एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः"॥ "पदमाद्यं पृथक् सर्वं पदं साकाङ्क्षमित्यपि। वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्[1609]॥"

इनके अतिरिक्त भी वाक्य को कर्त्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य में विभक्त किया जाता है। पाणिनि के अनुसार इनका वर्णन निम्नलिखित है -

४.१.१.कर्त्तृवाच्य –

क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्र रूप से जो विवक्षित होता है वह कारक कर्तृ-संज्ञक होता है जैसे – *छात्रः पुस्तकं पठति* यहाँ छात्र कर्तृसंज्ञक है। इसके अतिरिक्त उस स्वतन्त्र कर्ता का जो प्रयोजक अर्थात् प्रेरक उसकी भी कर्त्ता संज्ञा होती है तथा हेतु संज्ञा भी, जैसे - *देवदत्तः कटं करोति, तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते – यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति*[1610] यहाँ यज्ञदत्त कर्तृसंज्ञक है।

उपर्युक्त दोनों वाक्य कर्तृवाच्य में है। कर्तृवाच्य में कर्त्ता की प्रधानता होती है। क्रिया के द्वारा कर्त्ता उक्त होने के कारण उसमें प्रथमा विभक्ति होती है[1611] तथा कर्म के अनुक्त होने के कारण कर्म में द्वितीया।[1612] यहाँ प्रश्न होता है कि किससे अनुक्त? इसके समाधान में वैयाकारणसिद्धान्तकौमुदीकार तिङ्, कृत, तद्धित, समास का उल्लेख करते हैं[1613]। उदाहरण में 'पठति' तिङन्त पद में तिप् कर्त्ता में आया है। अतः उसका समानाधिकरण कर्त्ता के साथ है। फलतः तिङन्त पद कर्त्ता को ही कह रहा है तथा कर्म अनुक्त बना हुआ है। इस प्रकार अनुक्त में द्वितीया हुई।

वस्तुतः क्रिया के द्वारा वाच्य का निर्धारण किया गया है। क्रिया की महत्ता को स्वीकार करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं कात्यायन ने भी वाक्य का केन्द्रबिन्दु क्रिया को ही मानकर वाक्य की परिभाषा दी है[1614] – वाक्य एक क्रियापद होता है, अव्यय कारक विशेषण से युक्त क्रियापद वाक्य होता है, क्रियाविशेषण से युक्त क्रियापद वाक्य होता है, विशेषण से युक्त क्रियापद वाक्य होता है[1615] – इस प्रकार चार प्रकार के वाक्य स्वीकार किये गये हैं।

४.१.२.कर्मवाच्य एवं भाववाच्य –

कर्मवाच्य में कर्म मुख्य होता है, क्रिया के द्वारा कर्म उक्त होता है। कर्म में प्रथमा तथा कर्त्ता में तृतीया होती है। पाणिनि ने कर्म को विस्तार से परिभाषित किया है –

[1609]. वा.प. – २।१-२॥

[1610]. "स्वतन्त्रः कर्त्ता"। अष्टा. – १।४।५४ । "तत्प्रयोजको हेतुश्च"। अष्टा. – १।४।५५ ॥

[1611]. "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा"। अष्टा. – २।३।४६॥

[1612]. "कर्मणि द्वितीया"। अष्टा. – २।३।२॥

[1613]. "तिङ्कृत्तद्धितसमासैः, तिङ् – हरिः सेव्यते, कृत् – लक्ष्म्या सेवितः, तद्धितः – शतेन क्रीतः शत्यः, समासः – प्राप्त आनन्दो यम् स प्राप्तानन्दः" । वै.सि.कौ. – कारकप्रकरणम्, पृ.५७॥

[1614]. "एकतिङ्वचनमनर्थकं समानवाक्याधिकारात्"। म.भा. - ८।१।२८, वार्तिकम् ॥
"न च समानवाक्ये द्वे तिङन्ते स्तः"। म.भा. - ८।१।२८ ॥

[1615]. "एकतिङ्"। म.भा. – २।१।१ वार्तिकम्। "आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। सक्रियाविशेषणं च। आख्यातं सविशेषणम्"। म.भा. – २।१।१, वार्तिकानि ॥

- कर्त्ता को क्रिया के द्वारा जो ईप्सिततम है उसको कर्म कहते हैं, – रामः भोजनं खादति यहाँ भोजनं कर्म है।।[1616] कर्त्ता के अनीप्सित हो भी कर्म कहते हैं, – विषं भक्षयति यहाँ विषं कर्मसंज्ञक है।[1617]
- जिसे अन्य कारकों द्वारा न कहा गया हो, उसकी कर्म संज्ञा होती है, जैसे - पौरवं गां याचते यहाँ पौरवम् कर्म संज्ञक है। माणवकं पन्थानं पृच्छति।[1618] वस्तुतः दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध्, प्रच्छ्, चि, ब्रू, शास्, जि, मथ् तथा मुष् इन बारह धातुओं एवं नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध होता है वही अकथित है।[1619]
- गति अर्थ वाली, बुद्धि अर्थ वाली, भोजन अर्थ वाली, शब्द कर्म वाली अकर्मक अधातुओं का अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता वह ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञक हो जाता है, जैसे - गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम् यहाँ माणवकम् कर्म संज्ञक है।[1620]
- हृञ् तथा कृञ् धातु का अण्यन्त अवस्था का जो कर्त्ता, वह ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञक विकल्प से होता है। कर्मसंज्ञक न होने पर *कर्तृकरणयोः तृतीया (अष्टा. – २।३।१८)* से तृतीया विभक्ति हो गई। जैसे - हरति माणवको भारम्, हारयति माणवकं भारम्, हारयति भारं माणवकेन इति वा यहाँ माणवकेन।[1621]

पाणिनि ने उपसर्ग के कारण भी कुछ धातुओं को – सोपसर्ग क्रुध् व द्रुह् धातु[1622], दिव् धातु का साधकतम कारक[1623], अधिपूर्वक शीङ् स्था व आस् धातु का आधार[1624], अभि नि पूर्वक विश् धातु का आधार[1625], उप अनु अधि और आङ् पूर्वक वस् धातु का आधार[1626] कर्म संज्ञक कहा है।

संस्कृत भाषा में क्रिया को सम्पादित करने के लिए दस लकारों का विधान किया गया है – लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ् (विधिलिङ्, आशीर्लिङ्) लुङ्, लृङ्। इन लकारों की सार्वधातुक एवं आर्द्धधातुक संज्ञा होती है।[1627] सार्वधातुक लकार लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में ही कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य में विशेष परिवर्तन होता है। कर्तृवाच्य में कर्त्तावाची सार्वधातुक के परे रहते धातु से शप् प्रत्यय होता है, जैसे – भवति, भवतु, अभवत्, भवेत्।[1628] कर्मवाच्य एवं भाववाच्य में निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं –

[1616]. "कर्तुरीप्सिततं कर्म"। अष्टा. – १।४।४९॥

[1617]. "तथा युक्तं चानीप्सितम्"। अष्टा. – १।४।५०॥

[1618]. "अकथितं च"। अष्टा. – १।४।५१॥

[1619]. "दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासूजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्थान्नीहृकृष्वहाम्"॥ वै.सि.कौ. – कारकप्रकरणम्, पृ.७००॥

[1620]. "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ"। अष्टा. – १।४।५२॥

[1621]. "हृक्रोरन्यतरस्याम्"। अष्टा. – १।४।५३॥

[1622]. "क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म"। अष्टा. – १।४।३८॥

[1623]. "दिवः कर्म च"। अष्टा. – १।४।४३॥

[1624]. "अधिशीङ्स्थासां कर्म"। अष्टा. – १।४।४६॥

[1625]. "अभिनिविशश्च"। अष्टा. – १।४।४७॥

[1626]. "उपान्वध्याङ्वसः"। अष्टा. – १।४।४८॥

[1627]. "तिङ्शित्सार्वधातुकम्"। अष्टा. – ३।४।११३। "आर्द्धधातुकं शेषः"। अष्टा. – ३।४।११४॥

[1628]. "कर्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८॥

- भाव और कर्म में विहित सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो, धातुमात्र से यक् प्रत्यय होता है, जैसे – भाव – आस्यते भवता, शय्यते भवता। कर्म – क्रियते कटः, गम्यते ग्रामः।[1629]
- भाव और कर्म में क्रिया सदैव आत्मनेपद में होती है[1630], जैसे - भाव - आस्यते भवता, सुप्यते देवदत्तेन, कर्म – रामेण पाठः पठ्यते, देवदत्तेन भोजनं खाद्यते।
- जिस वाक्य में दो कर्म होते हैं अर्थात् दुहादि धातुओं के प्रयोग में कर्तृवाच्य में गौणकर्म में प्रत्यय होता है कर्मवाच्य में इसी कर्म के अभिहित होने से प्रथमा होती है, यथा – *माणवकं पन्थानं पृच्छति - माणवकः पन्थानं पृच्छ्यते।* तथा नी, हृ इत्यादि धातुओं के योग में प्रधानकर्म में प्रत्यय होता है – *अजा ग्रामं नीयते, ह्रियते;* परन्तु बुद्ध्यर्थकादि धातुओं के योग में विकल्प से मुख्यकर्म में, पक्ष में – गौणकर्म में भी प्रत्यय होता है - *माणवकं धर्मः बोद्ध्यते, माणवकः धर्मं बोद्ध्यते।*[1631]
- भाव और कर्म में त प्रत्यय के परे रहते च्लि के स्थान में चिण् आदेश होता है[1632] – अभावि, अभाविष्यत, अभविष्यत। ञित्, णित्, कृत् और चिण् परे रहते आदन्त अङ्ग को युक् का आगम होता है, – अदायि, अदायिषाताम्।[1633] लभ धातु को नुमागम विकल्प से होता है, चिण् और णमुल् परे हों तो – चिण् – अलम्भि, अलाभि[1634]। चिण् और णमुल् जिससे परे हों, ऐसे णिच् के परे रहते मित् अङ्गों की उपधा को दीर्घ विकल्प से दीर्घ होता है – शामिष्यते, शमिष्यते, शमयिष्यते[1635]। चिण्, ञित्, णित्, कृत् परे होम् तो आङ् पूर्वक चम्वर्जित मकारान्त अङ्ग की उपधा को वृद्धि न हो – अशमि, अदमि[1636]। चिण् परे हो तो भञ्ज धातु के नकार का लोप विकल्प करके हो – अभाजि, अभञ्जि।[1637]
- भाव और कर्म में स्य, सिच्, सीयुट् और तासि प्रत्ययों के परे रहते उपदेश में अजन्त, हन्, ग्रह् और दृश् अंगों को विकल्प से चिण् के समान कार्य्य एवं इट् का आगम होता है, (चिण् को णित् होने से विभिन्न कार्य्य होते हैं) – भविता। भाविष्यते, भविष्यते। भाविषतै, भाविषातै इत्यादि[1638]।
- (यह नियम भाव में न होकर मात्र) कर्मकर्त्ता और अनुताप अर्थ में, तप धातु से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश का निषेध करता है, जैसे – कर्मकर्त्ता में – अतप्त तपस्तापसः।[1639]

इन नियमों के अतिरिक्त भी धातु से भाववाच्य एवं कर्मवाच्य के रूपों के निर्माण की प्रक्रिया में कुछ धातुओं में निम्न परिवर्तन होते हैं (अधिकांशतः अधोलिखित नियम यक् प्रत्यय के कित् होने के कारण प्राप्त हैं) -

---

[1629]. "सार्वधातुके यक्"। अष्टा. – ३।१।६७॥

[1630]. "भावकर्मणोः"। अष्टा. – १।३।१३॥

[1631]. अष्टा. – १।४।५१ – ५२॥

[1632]. "चिण् भावकर्मणोः"। अष्टा. - ३।१।६६॥

[1633]. "आतो युक् चिण्कृतोः"। अष्टा. – ७।३।३३॥

[1634]. "विभाषा चिण्णमुलोः"। अष्टा. – ७।१।६९॥

[1635]. "चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्"। अष्टा. – ६।४।१३॥

[1636]. "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः"। अष्टा. – ७।३।३४॥

[1637]. "भञ्जेश्च चिणि"। अष्टा. – ६।४।३३॥

[1638]. "स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च"। अष्टा. – ६।४।६२॥

[1639]. "तपोऽनुतापे च"। अष्टा. – ३।१।६५॥

- हलन्त अङ्ग की उपधा के नकार का लोप होता है यदि उसके इकार की इत् संज्ञा न हुई हो तो, कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते – अञ्ज् = अज्यते, बन्ध् = बध्यते[1640]।
- जन, सन खन, अङ्गों को विकल्प से आकारादेश होता है यदि यकारादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते – जायते, जन्यते, सायते, सन्यते, खायते, खन्यते[1641]। तनु विस्तारे धातु को भी विकल्प से आकारादेश होता है यक् प्रत्यय के परे रहते – तायते, तन्यते[1642]।
- णिजन्त धातुओं के णि का लोप होता है यदि अनिडादि आर्धधातुक परे हो तो – भाजि = भज्यते, कार्यते, हार्यते[1643]।
- घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् त्यागे एवं षो अन्तकर्मणि धातु को हलादि कित् ङित् आर्धधातुक के परे रहते ईकारादेश होता है – मा = मीयते, दा = दीयते[1644]।
- कृत् से भिन्न एवं सार्वधातुक से भिन्न कित् ङित् यकार परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है – कर्म में यक् = चीयते , स्तूयते[1645]।
- ऋकारान्त अङ्ग को रिङ् आदेश होता है यदि श, यक् तथा यकारादि सार्वधातुक भिन्न लिङ् परे हो तो – यक् - कृ = क्रियते, ह्रियते[1646]।
- ऋ तथा संयोग आदि में है जिसके ऐसे ऋकारान्त धातु को गुण होता है यदि यक् तथा यकारादि सार्वधातुक भिन्न लिङ् परे हो तो – यक् – स्मृ = स्मर्यते[1647]।
- ॠकारान्त धातु को इकारादेश होता है[1648] ॠकार के स्थान पर आदेश 'र्' पर वाला होता है[1649], इस प्रकार धातु के रेफान्त होने से उसकी उपधा को दीर्घादेश प्राप्त हुआ, हल् परे रहते – शॄ = शीर्यते[1650]। किन्तु ओष्ठ्य वर्ण पूर्व में हो जिस ॠकार से, उसको उकारादेश होता है[1651]। पुनश्च ॠकार के स्थान पर आदेश 'र्' पर वाला होता है[1652], इस प्रकार धातु के रेफान्त होने से उसकी उपधा को दीर्घादेश प्राप्त हुआ, हल् परे रहते – पॄ = पूर्यते[1653]।
- वच्, ञिष्वप् शये तथा यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है – यज् = इज्यते[1654] तथा ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वय (वेञो वयिः से जो वय आदेश होता है, उसका यहाँ ग्रहण है), व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां भ्रस्ज

[1640]. "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति"। अष्टा. – ६।४।२४॥

[1641]. "ये विभाषा"। अष्टा. – ६।४।४३॥

[1642]. "तनोतेर्विभाषा"। अष्टा. – ६।४।४४॥

[1643]. "णेर्निटि"। अष्टा. – ६।४।५१॥

[1644]. "घुमास्थागापाजहातिसां हलि"। अष्टा. – ६।४।६६॥

[1645]. "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः"। अष्टा. – ७।४।२५॥

[1646]. "रिङ् शय्लिङ्क्षु"। अष्टा. – ७।४।२८॥

[1647]. "गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः"। अष्टा. – ७।४।२९॥

[1648]. "ऋत इद्धातोः"। अष्टा. – ७।१।१००॥

[1649]. "उरण् रपरः"। अष्टा. – १।१।५०॥

[1650]. "हलि च"। अष्टा. – ८।२।७७॥

[1651]. "उदोष्ठ्यपूर्वस्य"। अष्टा. – ७।१।१०२॥

[1652]. "उरण् रपरः"। अष्टा. – १।१।५०॥

[1653]. "हलि च"। अष्टा. – ८।२।७७॥

[1654]. "वचिस्वपियजादीनां किति"। अष्टा. – ६।१।१५॥

पाके धातुओं को भी सम्प्रसारण होता है – ग्रह् = गृह्यते इत्यादि[1655]। सम्प्रसारण से तात्पर्य - इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर क्रमशः य, व्, र्, ल् आदेश[1656]।

४.१.३.कर्मकर्त्तृ - प्रक्रिया –

कर्मकर्त्तृवाच्य नामक एक अन्य वाच्य को भी स्वीकार किया जाता हैं[1657] - जब काम के अत्यन्त अच्छे प्रकार होने रूप अर्थ को प्रकट करने के लिये, कर्त्ता का क्रिया करना न कहा जाय, तब अन्य कारक भी कर्त्तृसंज्ञा को प्राप्त होते हैं क्योंकि वे अपने- अपने विषय में स्वतन्त्र हैं और स्वाधीन व्यापारवाले की कर्त्ता संज्ञा होती है। इस कारण पहले करण आदि संज्ञा होती हैं, तथापि उन कारकों के स्वतन्त्र होने से कर्त्तृसंज्ञा होकर उस कर्त्ता में भी लकार होते हैं। करण में कर्त्ता – यज्ञदत्तोऽसिना छिनत्ति, छिन्दतो यज्ञदत्तस्य असिः स्वयमेव छिनत्ति – यज्ञदत्त तलवार से काटता है, काटते हुए देवदत्त की तलवार अपने आप ही काटती है। यज्ञदत्तः काष्ठैः पचति, पचतो यज्ञदत्तस्य काष्ठानि साधु पचन्ति।

तथा जब कर्म को कर्तृत्व की विवक्षा होती है, तब पहले से विद्यमान सकर्मक धातु भी प्रायः अकर्मक हो जाती हैं और उनसे अकर्मक बनने के कारण भाव वा कर्त्ता में लकार होते हैं। जैसे – भाव – देवदत्तः ओदनं पचति, पचतो देवदत्तस्य ओदनेन स्वयमेव पच्यते। भिद्यते काष्ठेन। पाणिनि ने इसको निम्न सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है –

- जिस कर्म के कर्त्ता हो जाने पर भी क्रिया वैसी ही लक्षित हो, जैसी कि कर्मावस्था में थी, उस कर्म के साथ तुल्य क्रिया वाले कर्त्ता को कर्मवद्भाव होता है, जैसे – देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति यहाँ देवदत्त कर्त्ता तथा काष्ठ कर्म है। जब वही काष्ठ अत्यन्त सूखा हुआ हो, फाडने में कोई कठिनाई न पडे, तो सौकर्यातिशय विवक्षा में वह कर्म ही कर्त्ता बन जाता है, अर्थात् कर्म की ही कर्तृत्व – विवक्षा होती है, जैसे – काष्ठं भिद्यते स्वयमेव, यहाँ लकडी स्वयं फटी जा रही है। सो ऐसी अवस्था में उस कर्त्ता को कर्म के समान माना जाय, कर्मवद्भाव हो जाय।[1658] यहाँ सूत्र में प्रयुक्त "कर्मणा" शब्द कर्मस्थक्रिया का वाचक है। इससे स्पष्ट होता है कि धातुओं के चार प्रकार हैं – कर्मस्थक्रियक, कर्मस्थभावक, कर्तृस्थक्रियक, कर्तृस्थभावक। किन्तु कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रियक धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् होता है तथा कर्तृस्थभावक व कर्तृस्थक्रिय धातुओं का कर्त्ता कर्मवत् नहीं होता है। कर्मस्थक्रियक = जहाँ क्रिया (व्यापार) कर्म में स्थित होती है, जैसे – रामः काष्ठं भिनत्ति यहाँ क्रिया (फटना) कर्म (काष्ठ) में हो रही है। कर्मस्थभावक = जिनका धात्वर्थ कर्म में ही होता है वह कर्मस्थभावक कहलाता है, जैसे – शेते बालः, शयानं बालं जनकः प्रयोजयति – जनको बालं शाययति, शाययतो जनकस्य बालः स्वयमेव शाय्यते, यहाँ सोना रूप भाव कर्मस्थ है। कर्तृस्थक्रियक = जब धातुओं का व्यापार जब कर्त्ता में हो, जैसे – रामः ग्रामं गच्छति यहाँ जाना रूपी क्रिया कर्त्ता

[1655]. "ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च"। अष्टा. – ६।१।१६॥

[1656]. "इग्यणः सम्प्रसारणम्"। १।१।४४॥

[1657]. "सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते तदा कारकान्तराण्यपि कर्तृसंज्ञां लभन्ते। स्वव्यापारे स्वतन्त्रत्वात्। तेन पूर्वं करणत्वादिसत्त्वेऽपि संप्रति कर्तृत्वात्कर्तरि लकारः। साध्वसिश्छिनत्ति। काष्ठानि पचन्ति। स्थाली पचति। कर्मणस्तु कर्तृत्वविवक्षायां प्राक्सकर्मका अपि प्रायेणाकर्मकास्तेभ्यो भावे कर्तरि च लकाराः। पच्यते ओदनेन। भिद्यते काष्ठेन। कर्तरि तु"। वै.सि.कौ. – कर्मकर्तृतिङ्प्रकरणम्, पृ.२७० ॥

[1658]. "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"। अष्टा. – ३।१।८७, व्याख्या – प्रथमावृत्ति॥

में है। कर्तृस्थभावक = कर्त्ता में जब धात्वर्थ स्थित हो तो, जैसे – देवदत्तः आस्ते यहाँ बैठना रूपी क्रिया देवदत्त में है।

- सकर्मक तप धातु यदि तप कर्मवाली ही हो तो (अन्य कर्म की न हो तो) उसके कर्त्ता को कर्मवद् होता है - तप्यते तपस्तापसः, अतप्त तपस्तापसः।[1659]
- कर्मवद्भाव में कहे हुए कार्यों अर्थात् यक् –प्रत्यय, चिण्, आत्मनेपद, चिण्वद्भाव में से यक् और चिण् कार्य दुह्, स्नु एवं नम धातुओं को नहीं होते – दुग्धे गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव, अदोहि गौः स्वयमेव।[1660]
- प्राचीन आचार्यों के मत में कुष एवं रञ्ज धातु को कर्मवद्भाव में श्यन् प्रत्यय तथा परस्मैपद होता है, – कुष्यति पादः स्वयमेव। रज्यति वस्त्रं स्वयमेव। परन्तु अन्यों के मत में – कुष्यते, रज्यते।[1661]
- अजन्त धातुओं च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प से होता है, कर्मकर्त्ता लुङ् के त प्रत्यय के परे रहते – अकारि कटः स्वयमेव, अकृत कटः स्वयमेव।[1662]
- दुह् धातु से उत्तर च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प से होता है, कर्मकर्त्ता लुङ् के त प्रत्यय के परे रहते – अदोहि गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव।[1663] परन्तु रुध् धातु के साथ इसका निषेध है – अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव।[1664] तप धातु में भी इसका निषेध है – अतप्त तपस्तापसः।[1665]

लट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन में निष्पादित रूपों का विवरण निम्न प्रकार है -

क्रम	गण	धातु	कर्त्तृवाच्य	कर्मवाच्य	भाववाच्य
१.	भ्वादिगण	भू सत्तायाम्	भवति	भूयते	भूयते
२.	अदादिगण	अद भक्षणे	अत्ति	अद्यते	अद्यते
३.	जुहोत्यादिगण	हु दानादनयोः	जुहोति	हूयते	हूयते
४.	दिवादिगण	दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्यु-तिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु	दीव्यति	दीव्यते	दीव्यते
५.	स्वादिगण	षुञ् अभिषवे	सुनोति	सूयते	सूयते
६.	तुदादिगण	तुद व्यथने	तुदति	तुद्यते	तुद्यते
७.	रुधादिगण	रुधिर आवरणे	रुणद्धि	रुध्यते	रुध्यते

[1659]. "तपस्तपःकर्मकस्यैव"। अष्टा. – ३।१।८८॥

[1660]. "न दुहस्नुनमां यक्चिणौ"। अष्टा. – ३।१।८९॥

[1661]. "कुषिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च"। अष्टा. – ३।१।९०॥

[1662]. "अचः कर्मकर्त्तरि"। अष्टा. – ३।१।६२॥

[1663]. "दुहश्च"। अष्टा. – ३।१।६३॥

[1664]. "न रुधः"। अष्टा. – ३।१।६४॥

[1665]. "तपोऽनुतापे च"। अष्टा. – ३।१।६५॥

८.	तनादिगण	तनु विस्तारे	तनोति	तन्यते, तायते	तन्यते, तायते
९.	क्र्यादिगण	डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये	क्रीणाति	क्रीयते	क्रीयते
१०.	चुरादिगण	चुर स्तेये	चोरयति	चोर्यते	चोर्यते

४.२.तैत्तिरीय-संहिता का वाच्य की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन –

अधूनुतम्[1666] - स्वादिगणपठित उभयपदी "धूञ् कम्पने" (धुनोति, धुनुते) व क्र्यादिगणपठित उभयपदी "धूञ् कम्पने" (धुनाति, धुनीते) धातुओं से परस्मैपद में लङ् लकार के मध्यम पुरुष द्विवचन में सिद्ध यह पद अर्थ की दृष्टि से भी समान है[1667]। परन्तु क्र्यादिगण में इसकी सिद्धि श्ना विकरण के स्थान पर श्नु व्यत्यय के कारण होती है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	अधूनोत्	अधूनुताम्	अधून्वन्
मध्यमपुरुष	अधूनोः	अधूनुतम्	अधूनुत
उत्तमपुरुष	अधूनवम्	अधूनुव	अधूनुम

(<u>स्वादिगणी धातु के अनुसार</u> – अडागम धूञ्-धातु श्नु विकरण व थस् को तमादेश = अट्=अ[1668] धूञ्=धू श्नु=नु[1669] थस्=तम्[1670])। (<u>क्र्यादिगणी धातु के अनुसार</u> – अडागम धूञ्-धातु श्ना के स्थान पर श्नु-विकरण थस् को तमादेश = अट्=अ धूञ्=धू श्नु=नु थस्=तम्; यहाँ श्ना[1671] के स्थान पर व्यत्यय के कारण श्नु प्रत्यय हुआ है।)।

अभ्यानट्[1672] - सायणाचार्य इस मन्त्रांश की व्याख्या में इस पद का अर्थ "अभिव्याप्तवानस्मि[1673]" करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पद में धातु का अर्थ व्याप्ति से सम्बन्धित है। स्वादिगणपठित आत्मनेपदी "अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च" धातु व्याप्ति के अर्थ में है। परन्तु स्वादिगण में होने के कारण श्नु प्रत्यय होता है। परन्तु वेद विषय में यहाँ श्नु[1674] के स्थान पर व्यत्यय करके श्नम् प्रत्यय हुआ है। श्नम् प्रत्यय के मित् होने के कारण अन्तिम अच् से परे होता है[1675]।

1666. "इन्द्राणी नवति पुरो दासपत्नीरधूनुतम्"। तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०३॥

1667. "..साकं सहैव एकेन कर्मणा प्रहरणलक्षणेन तादृशीः पुरः अधूनुतम् अकम्पयतं नाशितवन्तौ"। तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०३॥

1668. "लुङ्लङ्लृङ्ष्वडुदात्तः"। अष्टा. – ६।४।७१

1669. "स्वादिभ्यः श्नुः"। अष्टा. – ३।१।७३॥

1670. "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१॥

1671. "क्र्यादिभ्यः श्ना"। अष्टा.३।१।८१, व्यत्ययो बहुलम्। अष्टा. – ३।१।८५॥

1672. "..पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडर्कम्"। तै.सं. – १।१।१४॥

1673. "फलकामेन प्रेरितोऽहं तस्य तस्य सन्मार्गस्य परिपालकं पूषापरपर्यायमर्कं स्तोत्ररूपेण वचसाऽभिव्याप्तवानस्मि"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।१४॥

1674. "स्वादिभ्यो श्नुः"। अष्टा. -३।१।७३॥

1675. "मिदचोऽन्त्यात्परः"। अष्टा. - १।१।४६॥

व्यत्यय – *व्यतिगमनं व्यत्ययो व्यतिकरः विषयान्तरे विधानम्*[1676] अन्य काशिका व्याख्याकार के अनुसार – *अन्योऽन्यविषयावगाहनमित्यर्थः*[1677] इस रूप में व्यत्यय को परिभाषित किया है। तदनुसार व्यत्यय को शब्द के निम्नलिखित अर्थ होते हैं – व्यतिगमन, विषयान्तर में विधान, अन्य नियमों के विषय में अन्य कार्य का होना अर्थात् विहित नियमों का उल्लंघन आदि। व्यत्यय की विधियों का महाभाष्य में परिगणन किया गया है जिसके अनुसार सुबन्त, तिङन्त, परस्मैपद, आत्मनेपद, पुरुष, काल, हल्, अच्, स्वर, कर्त्ता, और यङ् प्रक्रिया आदि का व्यत्यय वेद में बहुलता से होता है।[1678]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	अभ्यानट्	अभ्याण्ष्टाम्[1679]	अभ्याञ्शन्
मध्यमपुरुष	अभ्यानट्	अभ्याण्ष्टम्	अभ्याण्ष्ट
उत्तमपुरुष	अभ्यानशम्	अभ्याञ्श्व[1680]	अभ्याञ्श्म

अशूङ् धातु तिप्-प्रत्यय = अशूङ्=अश् तिप्=ति; आडागम श्नम्-विकरण श्नम् मित् होने से अन्तिम अच् में परे रहते = आट्=आ[1681] अ श्नम्[1682] श् ति; तिप् के इकार का लोप = आ अ न श् ति=त्[1683]; अपृक्त तिप् के तकार का लोप = आ अ न श् त्[1684]; शकार को षकारादेश = आ अ न श्=ष्[1685]; जश्त्व = आ अनष्[1686]; विकल्प से चर्त्व = आनड्[1687]; दीर्घादेश व यणादेश = अभि आ[1688] अनट्; अभ्यानट्।

अपावधीम्[1689] - अदादिगणपठित परस्मैपदी "हन् हिंसागत्योः" धातु से निष्पन्न यह रूप लुङ् लकार उत्तमपुरुष एकवचन में हैं। यद्यपि हन् धातु लुङ् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में

1676. का. – ३।१।८५ ॥

1677. प.म. – ३।१।८५ ॥

1678. "सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छन्ति। शास्त्रकृदेषां सोऽपि न सिध्यति बाहुलकेन"॥ म.भा. – ३।१।८५ ॥

1679. "श्नसोरल्लोपः"। अष्टा. – ६।४।१११, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहने पर अकारलोप, ष्टुत्व होकर॥

1680. अष्टा. – ८।२।३६ से झल् परे न होने से षकारादेश नहीं।

1681. "आडजादीनाम्"। अष्टा. – ६।४।७२॥

1682. वेद में बहुल करके व्यत्यय करके पदों को सिद्ध किया जाता है; मिदचोऽन्त्यात्परः। अष्टा. – १।१।४६ मित् अन्तिम अच् से परे॥

1683. "इतश्च"। अष्टा. – ३।४।१००, इकार लोप।

1684. "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६८॥

1685. "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः"। अष्टा. - ८।२।३६, षकारादेश॥

1686. "झलां जशोऽन्ते"। अष्टा. - ८।२।३९ जश्त्व।

1687. "वावसाने"। अष्टा. – ८।२।५५ विकल्प से चर्।

1688. "अकः सवर्णे दीर्घः"। अष्टा. - ६।१।९८, दीर्घादेश, इको यणचि। अष्टा. – ६।१।७५॥

1689. "..गह्वरेष्ठोग्रं वचो अपावधीं त्वेषं वचो अपावधीं स्वाहा"। तै.सं. – १।२।१॥

रूप अवधिषम् होता है। जिसमें मिप् को अम्[1690] तथा अम् के अपृक्त हलादि न होने के कारण ईट् का आगम नहीं होता है[1691]। परन्तु "अपावधीम्" में अम् के स्थान पर वेद विषय में मश् आदेश हुआ है।[1692] मश् के शित् होने के कारण यह सर्वादेश (सम्पूर्ण अम् के स्थान पर) है।[1693]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	अपावधीत्	अपावधिष्टाम्	अपावधिषुः
मध्यमपुरुष	अपावधीः	अपावधिष्टम्	अपावधिष्ट
उत्तमपुरुष	अपावधीम्	अपावधिष्व	अपावधिष्म

हन्-धातु लुङ्-लकार च्लि को सिजादेश, अडागम (अट् हन् च्लि=सिच्=स् लुङ्) हन्-धातु को वधादेश (अ वध[1694] स् मिप्) वध के अकार का लोप (अ वध्[1695] स् मिप्) अम् को मशादेश, अकार को स्थानिवत् (अ वध्[1696] स् मि=अम्=मश्[1697]) इडागम, ईडागम व सकार का लोप (अ वध् इट्[1698] स्[1699] ईट्[1700] मश्) ईकार व इकार मिलकर दीर्घादेश (अ वध् ई म) अवधीम्।

अवख्येषम्[1701] - यह रूप ख्या धातु से परस्मैपद में आशीर्लिङ् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में निष्पन्न है। धातु-पाठ में अदादिगण में दो स्थानों पर ख्या धातु पठित है - आत्मनेपदी "चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि" (चष्टे) धातु जिसको ख्याञ्[1702] आर्द्धधातुक लकारों में आदेश होता है तथा परस्मैपदी "ख्या प्रकथने" (ख्याति)। सायणाचार्य के अनुसार इसका अर्थ - "अवेक्षे" है जिससे ज्ञात होता है कि यह पद आत्मनेपदी धातु से दर्शन अर्थ में परस्मैपद में सम्पन्न है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	अवख्येत्	अवख्येष्टाम्	अवख्येषुः
मध्यमपुरुष	अवख्येः	अवख्येष्टम्	अवख्येष्ट
उत्तमपुरुष	अवख्येषम्	अवख्येष्व	अवख्येष्म

1690. "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. - ३।४।१०१॥
1691. "अस्तिसिचोऽपृक्ते"। अष्टा. -७।३।९६, ईडागम।॥
1692. "अमो मश्"। अष्टा. – ७।१।४०॥
1693. "अनेकाल्शित्सर्वस्य"। अष्टा. – १।१।५४॥
1694. "लुङि च"। अष्टा. – २।४।४३ वधादेश।
1695. "अतो लोपः"। अष्टा. ६।४।४८ अकारलोप॥
1696. "वदव्रजहलन्तस्याचः"। अष्टा. – ७।२।३, से वृद्धि प्राप्त होने लगी परन्तु अकार स्थानिवत् माना गया।
1697. "अमो मश्"। अष्टा. – ७।१।४०, मश् आदेश॥
1698. "आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः"। अष्टा. – ७।२।३५॥
1699. "इट् ईटि"। अष्टा. – ८।२।२८ सकार लोप॥
1700. "अस्तिसिचोऽपृक्ते"। अष्टा. – ७।३।९६॥
1701. "..नृचक्षसं त्वा देव सोम सुचक्षा अव ख्येषम्...."। तै.सं. – ३।२।५॥
1702. "चक्षिङः ख्याञ्"। अष्टा. – २।४।५४॥

ख्या धातु से लिङ्-लकार, लिङ् में वेद विषय में अङ्-प्रत्यय (ख्या अङ्[1703] लिङ्) यासुट्-प्रत्यय यासुट् को इय्, मिप् को अमादेश (ख्या अ यासुट्=यास्=इय् स्[1704] मिप्=अम्[1705]) (ख्या अ इ स् अम्) (इसके अतिरिक्त आर्द्धधातुक रहते हुए भी = ख्या = ख्ये[1706] यासुट् अम्= ऐसी स्थिति में रूप "ख्येयासम्" बनेगा; ख्येयात् ख्येयास्ताम्, ख्येयासुः इत्यादि बनने चाहिए किन्तु अङ् विधान से या को इय् हो गया, क्योंकि अङ् की सार्वधातुक-संज्ञा हो गई।

अवीवृधन्[1707] - यह रूप वृध् धातु से लुङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में णिच् तथा चङ् प्रत्यय होकर कर्त्तृवाच्य में बना है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	अवीवृधत्	अवीवृधताम्	अवीवृधन्
मध्यमपुरुष	अवीवृधः	अवीवृधतम्	अवीवृधत
उत्तमपुरुष	अवीवृधम्	अवीवृधाव	अवीवृधाम

वृध् धातु से णिच्-प्रत्यय, णिच् के णित् होने से गुण व वृद्धि प्राप्त, परन्तु धातु के ऋकार को नित्य ऋकारादेश, लुङ्-लकार, अडागम, च्लि को चङादेश, णि का लोप, प्रथम-पुरुष बहुवचन में झि-प्रत्यय (वृध्[1708] णिच्[1709]; वृध्[1710] इ; वृध् इ[1711]; वृध् इ लुङ्[1712]=झि; अट्=अ वृध् इ च्लि[1713] झि; अ वृध् इ[1714] चङ्=अ झि) द्वित्व, अभ्यास-कार्य, सन्वत्-कार्य (अ वृध्[1715] अ झि; अ वृध्[1716] वृध् अ झि; अ व[1717] वृध् अ झि; अ वि[1718] वृध् अ झि; अ वी वृध् अ झि[1719]) झि-प्रत्यय को

[1703]. "लिङ्याशिष्यङ्"। अष्टा. ३।१।८६, वेद विषय में आशिषि में अङ् प्रत्यय, तथा वह "छन्दस्युभयथा"। अष्टा. -३।४।११७ सार्वधातुक भी होता है॥

[1704]. "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च"। अष्टा. – ३।४।१०३, यासुट्। "अतो येयः"। अष्टा. – ७।२।८०, अकारान्त से उत्तर सार्वधातुक या को इयादेश (अङ् का अकार होने के कारण)। "लोपो व्योर्वलि"। अष्टा. - ६।१।६४ ॥

[1705]. "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१, अमादेश॥

[1706]. "वान्तस्य संयोगादेः"। अष्टा. – ६।४।६८, सूत्र से कित् ङित् लिङ् आर्द्धधातुक परे रहते एत्व॥

[1707]. "..उद्भाभश्च निग्राभश्च ब्रह्म देवा अवीवृधन्.."। तै.सं. – १।१।१३, पृ.१७८॥

[1708]. "भूवादयो धातवः"। अष्टा. - १।३।१, धातु संज्ञा।

[1709]. "हेतुमति च"। अष्टा. – ३।१।२६ णिच् प्रत्यय।

[1710]. "नित्यं छन्दसि"। अष्टा. – ७।४।८ नित्य ऋकारादेश, यहाँ णिच् होने के कारण ऋकार को गुण व वृद्धि प्राप्त हुई थी।

[1711]. "सनाद्यन्ताः धातवः"। अष्टा. -३।१।३२ धातु संज्ञा, धातोः। अष्टा. ३।१।९१, लुङ्। अष्टा. - ३।२।११०॥

[1712]. "लुङ्लङ्लृङ्ष्वडुदात्तः। अष्टा. – ६।४।७१, अडागम॥

[1713]. "च्लि लुङि"। अष्टा. – ३।१।४३, च्लि प्रत्यय, णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्। अष्टा. – ३।१।४८ चङ् आदेश॥

[1714]. "णेरनिटि"। अष्टा. – ६।४।५१ णि का लोप॥

[1715]. "चङि"। अष्टा. – ६।१।१ द्वित्व होकर॥

[1716]. "पूर्वोऽभ्यासः"। अष्टा. ६।१।४, अभ्यास संज्ञा, "हलादिशेषः"। अष्टा. – ७।४।६० अनादि हल् लोप, "उरत्"। अष्टा. – ७।४।६६ ऋकार को अकारादेश, "उरण् रपरः"। अष्टा. – १।१।५०॥

[1717]. "सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे"। अष्टा. – ७।४।९३ सन्वत् कार्य, "सन्यतः"। अष्टा. – ७।४।७९ अभ्यास को इत्व॥

[1718]. "दीर्घो लघोः"। अष्टा. – ७।४।९४ अभ्यास को दीर्घ॥

[1719]. "झोऽन्तः"। अष्टा. – ७।१।३ अन्तादेश।

अन्तादेश, इकार-लोप, संयोगान्तलोप (अ वी वृध् अ अन्ति[1720]; अ वी वृध् अ अन्त्[1721]; अ वी वृध् अ[1722] अन्; अ वी वृध् अन्; अवीवृधन्)।

आगहि[1723] - यह पद भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "गम्लृ गतौ" से लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में निष्पन्न है। गम् धातु के लोट् लकार में रूप "गच्छतु, गच्छताम्" इत्यादि होते है। जिनमें भ्वादिगण में पठित होने से शप् विकरण[1724] शप् के शित् होने से छकारादेश[1725], छकारादेश परे रहने पर तुगागम[1726] कार्य होते है। परन्तु यदि गम् धातु का लोट् लकार छन्द विषय हो तो इसके विकरण (शप्) का लुक् हो जाता है।[1727] शप् के लुक् होने से शित् प्राप्त नही हुआ अतः छकारादेश भी प्राप्त नहीं हुआ। सायणाचार्य ने आगहि का अर्थ आगच्छ किया है।[1728]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	गन्तु[1729]	गताम्	गमन्तु
मध्यमपुरुष	गहि	गतम्	गत
उत्तमपुरुष	गमानि[1730]	गमाव	गमाम

(गम् लोट्; गम् सिप्) सिप् को अपित् हि आदेश, अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है अतः अनुनासिक लोप (गम् हि[1731]) अकार से उत्तर हि का लुक् प्राप्त हुआ परन्तु वेद-विषय में निषेध हुआ (ग[1732] हि)।

आजिघर्मि[1733] - इसको जुहोत्यादिगणी परस्मैपदी "घृ क्षरणदीप्त्योः" धातु से लट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन में निष्पन्न किया जाता है। जुहोत्यादिगण में पठित होने से शप् विकरण को श्लु होता है[1734]। श्लु होने के कारण द्वित्व होता है।[1735] अभ्यासकार्य करने के पश्चात् स्थिति "ज घर् मि" बनती है। यहाँ वेद विषय में बहुल करके अभ्यास को

[1720]. "इतश्च"। अष्टा. - ३।४।१००, इकार लोप।

[1721]. "संयोगान्तस्य लोपः"। अष्टा. - ८।२।२३ ॥

[1722]. "अतो गुणे"। अष्टा. - ६।१।९५ – पररूप।

[1723]. "शिवस्त्वष्टरिहाऽऽगहि विभुः पोष..."। तै.सं. – ३।१।११॥

[1724]. "कर्त्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८॥

[1725]. "इषुगमियमां छः"। अष्टा. – ७।३।७७॥

[1726]. "छे च"। अष्टा. – ६।१।७१॥

[1727]. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७३॥

[1728]. "हे त्वष्टः, त्वं शिवः सुखकरः सन् इह अस्मिन् कर्मणि आ गहि आगच्छ"। सायणभाष्य, तै.सं. – ३।१।११॥

[1729]. "नश्चापदान्तस्य झलि"। अष्टा. – ८।३।२४, "अनुस्वरस्य ययि परसवर्णः"। अष्टा. – ८।४।५७॥

[1730]. "आडुत्तमस्य पिच्च"। अष्टा. – ३।४।९२ आट् आगम तथा वह पित् होता है॥

[1731]. "सेह्यर्पिच्च"। अष्टा. – ३।४।८७ अपित् हि आदेश, "सार्वधातुकमित्"। अष्टा. – १।२।४, अपित् सार्वधातुक ङित्वत्, "अनुदातोपदेश वनतितनोत्यादीनां अनुनासिकलोप झलि क्ङिति"। अष्टा. – ६।४।३७, अनुनासिक लोप॥

[1732]. "अतो हेः"। अष्टा. – ६।४।१०५, हि का लुक् प्राप्त हुआ परन्तु वेद में प्राप्त नहीं हुआ।

[1733]. (क) "रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं..."। तै.सं. – १।२।१४॥
(ख) "..पृथिव्यास्त्वा मूर्धन्ना जिघर्मि..."। तै.सं. – १।२।५॥

[1734]. "जुहोत्यादिभ्यः श्लुः"। अष्टा. – २।४।७५॥

[1735]. "श्लौ"। अष्टा. – ६।१।१० द्वित्व॥

इत्व होता है[1736]। "घृ" धातु के दो अर्थ है - क्षरण व दीप्ति। ज्ञानयज्ञभाष्य व सायणभाष्य में भिन्न भिन्न स्थानों पर इसके दोनों अर्थ मिलते हैं[1737]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	आजिघर्त्ति, आजघर्त्ति	आजिघृतः, आजघृतः	आजिघ्रति, आजघ्रति
मध्यमपुरुष	आजिघर्सि, आजघर्सि	आजिघृथः, आजघृथः	आजिघृथ, आजघृथ
उत्तमपुरुष	आजिघर्म्मि, आजघर्म्मि	आजिघृवः, आजघृवः	आजिघृमः, आजघृमः

आप्यायध्वम्[1738] - यह पद भ्वादिगणपठित आङ् उपसर्गपूर्वक आत्मनेपदी सेट् "स्फायी ओप्यायी वृद्धौ" व आत्मनेपदी अनिट् "प्यैङ् वृद्धौ" धातुओं से लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में सिद्ध होता है। सायण भाष्य में इस मन्त्रांश का अर्थ "प्रवृद्धं कुरुत[1739]" किया गया है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	आप्यायताम्	आप्यायेताम्	आप्यायन्ताम्
मध्यमपुरुष	आप्यायस्व	आप्यायेथाम्	आप्यायध्वम्
उत्तमपुरुष	आप्यायै	आप्यायावहै	आप्यायामहै

(आ प्याय् णिच् = "हेतुमति च[1740]" सूत्र के द्वारा णिच्) (आ प्याय् इ= प्यायि = "सनाद्यन्ता धातवः[1741]" धातु संज्ञा "बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः[1742]" णि का लुक् हुआ)

(प्याय् = इस अण्यन्तावस्था में "अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्त्तृकात्[1743]" सूत्र से अण्यन्त स्थिति में जो अकर्मक व चेतन कर्त्ता वाला धातु होता वह ण्यन्त स्थिति में परस्मैपद होगा। परन्तु मन्त्रांश में "चित्तवत्कर्त्तृकात्" न होने के कारण ण्यन्त प्रयोग होने के पश्चात् भी धातुरूप परस्मैपद में नहीं हुआ ऐसी स्थिति में "णिचश्च[1744]" सूत्र जिसमें सणिजन्त धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में आत्मनेपद होता है का अपवाद मानी जाती है। इस पद का चेतन कर्त्ता न मानने के

1736. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – ७।४।७८॥

1737. ज्ञानयज्ञभाष्य – "हे आज्य, तस्मिन् तादृशे पदे त्वाम् आ जिघर्मि मर्यादया क्षारयामि"। तै.सं. – १।२।५॥ सायणभाष्य – "हे घृत, त्वाम् इडायाः सोमक्रयण्याः पदे समन्तात् क्षारयामि"। तै.सं. – १।२।५॥ ज्ञानयज्ञभाष्य - "रक्षसां हन्तारं वाजिनम् अन्नवन्तम् अन्नस्य दातारम् आ जिघर्मि..."। तै.सं. – १।२।१४ सायणभाष्य - "..हन्तारमन्नवन्नमग्निमाभिमुख्येन दीपयामि"। तै.सं. - १।२।१४॥

1738. "देवो वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आ प्यायध्वमघ्निया"। तै.सं. – १।१।१, पृ.१५-१६।

1739. "हे अघ्निया गावः देवस्येन्द्रस्य दधिरूपं भागम् आप्यायध्वं प्रभूतघासभक्षणेन प्रवृद्धं कुरुत"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।१, पृ.१५॥

1740. अष्टा. – ३।१।२६॥

1741. अष्टा. – ३।१।३२॥

1742. उ.को. – १९०॥

1743. अष्टा. – १।३।८८॥

1744. अष्टा. – १।३।७४॥

सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि भट्टभास्कर इस सम्पूर्ण मन्त्रांश के प्रथम भाग में सविता को प्रार्पयतु का कर्त्ता मानते हैं[1745]।

आतनच्मि[1746] - यह पद रुधादिगणपठित परस्मैपदी "तञ्चु संकोचने" धातु से लट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन में सिद्ध है। रुधादिगण में पठित धातुओं से श्नम् प्रत्यय[1747] होता है। श्नम् प्रत्यय में मकार की इत् संज्ञा होने से यह अन्तिम अच् से परे होता है।[1748]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	आतनक्ति	आतङ्क्तः[1749]	आतञ्चन्ति
मध्यमपुरुष	आतनक्षि	आतङ्क्थः	आतङ्क्थ
उत्तमपुरुष	आतनच्मि	आतञ्चवः	आतञ्चमः

(तञ्च् मिप्; त श्नम् ञ्च् मिप्; त न ञ्च् मि; धातु के नकार का लोप[1750])।

आतनुहि[1751] - तनादिगणपठित उभयपदी "तनु विस्तारे" धातु से लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन में यह रूप सिद्ध है। तनादिगण में पठित होने के कारण धातु से विकरण "उ" प्रत्यय होता है[1752]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	आतनोतु	आतनुताम्	आतन्वन्तु
मध्यमपुरुष	आतनु, आतनुहि	आतनुतम्	आतनुत
उत्तमपुरुष	आतनवानि	आतनवाव	आतनवाम

(तनु=तन् उ सिप्) सिप् को अपित् हि, हि को लुक् प्राप्त जिसका निषेध हुआ (तनु सि[1753])

इषुध्यसि[1754] - यह कण्ड्वादिगणपठित "इषुध शरधारणे" धातु से लट्-लकार मध्यमपुरुष एकवचन में सम्पन्न है। कण्ड्वादिगण में विकरण यक्-प्रत्यय होता है[1755]। ज्ञानयज्ञभाष्य में इस पद को क्यच् में सम्पन्न बताया गया है[1756]।

1745. "देवः सविता सर्वस्य प्रेरकः, येन विना तृणाग्रमपि न चलति, स वः युष्मान् प्रार्पयतु प्रस्थापयतु"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।१, पृ.१५॥

1746. "..सोमेन त्वाऽऽतनच्मीन्द्राय दधि.."। तै.सं. – १।१।३, पृ.५९॥

1747. "रुधादिभ्यः श्नम्"। अष्टा. – ३।१।७८॥

1748. "मिदचोऽन्त्यात्परः"। अष्टा. – १।१।४६॥

1749. अष्टा. - ६।४।१११ से अकार लोप, अष्टा. - ८।२।३० से कुत्व, अष्टा. - ८।३।२४ से नकार को अनुस्वार, अष्टा. – ८।४।५८ से परसवर्ण॥

1750. "श्नान्नलोपः"। अष्टा. – ६।४।२३॥

1751. "..अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां...."। तै.सं. – १।२।१४॥

1752. "तनादिकृञ्भ्यः उः"। अष्टा. – ३।१।७९॥

1753. "सेह्यर्पिच्च"। अष्टा. – ३।४।८७, "उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्"। अष्टा. – ६।४।१०६, हि का लुक्। "उतश्च प्रत्ययाच्छान्दो वा वचनम्"। वार्त्तिक, १, अष्टा. – ६।४।१०६ हि के लुक् का निषेध॥

1754. "विश्वे देवस्य नेतुर्मर्तो वृणीत सख्यं विश्वे राय इषुध्यसि..."। तै.सं. – १।२।२॥

1755. "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। अष्टा. ३।१।२७॥

1756. "इषुध्यसि त्वमपि देवसख्यं वृतवन्तमिमं जनमिषुधिमिवाचरसि, यथा इषुधिरिषूणां निधानं भवति, एवमिमं सर्वसिद्धीनां

"इषुधिमिवाचरसि" आचार अर्थ में उपमानवाची सुबन्तकर्म से क्यच् होता है (इषुधि अम् क्यच्)[1757]। सनाद्यन्त होने से धातु-संज्ञा, सुप् का लुक्[1758] (इषुधि क्यच्) इषुधि के इकार का लोप व्यत्यय से होता है[1759]। (इषुध् य) शप्-प्रत्यय एवं सिप्-प्रत्यय होकर "इषुध्यसि"।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	इषुध्यति	इषुध्यतः	इषुध्यन्ति
मध्यमपुरुष	इषुध्यसि	इषुध्यथः	इषुध्यथ
उत्तमपुरुष	इषुध्यामि	इषुध्यावः	इषुध्यामः

उपगेषम्[1760] - भट्टभास्कर इस पद का अर्थ "उपगतो भूयासम्" मानते है[1761]। इससे ज्ञात होता है कि यह पद अदादिगण परस्मैपदी "इण् गतौ" धातु से (एति) आशीर्लिङ् उत्तमपुरुष एकवचन में निष्पन्न है। परन्तु इण् धातु का गा आदेश मात्र लुङ् लकार में होता है।[1762] इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस रूप को लिङ् तथा लुङ् लकारों में व्यत्यय या बहुल मानकर सिद्ध किया जा सकता है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	उपगेत्[1763]	उपगेष्टाम्	उपगेषुः
मध्यमपुरुष	उपगेः	उपगेष्टम्	उपगेष्ट
उत्तमपुरुष	उपगेषम्	उपगेष्व	उपगेष्म

(<u>लिङ् लकार</u> = इण् लिङ्[1764]; गा अङ्[1765] लिङ्=ल्; गा[1766] अ मिप्=मि=अम्; ग् अ यासुट्=यास्[1767] अम्; ग् अ यास्[1768] अम्; ग यास्[1769] अम्; ग इय्[1770] स् अम्; ग इ स्[1771] अम् = गेषम्)। (<u>लुङ् लकार</u> = इण्=गा लुङ्; गा च्लि=सिच्=स् अम्; गा स्[1772] अम्; गा[1773] स् अम्; गा इ[1774] स् अम्)।

भाजनत्वेनाचरसि, तादृशमेनं करोषीति यावत्"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।२।२॥

[1757]. "उपमानादाचारे"। अष्टा. – ३।१।१० क्यच् प्रत्यय॥

[1758]. "सनाद्यन्ताः धातवः"। अष्टा. - ३।१।३२, धातु संज्ञा, "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः"। अष्टा. – २।४।७१, सुप् का लुक्।

[1759]. "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः"। अष्टा. – ७।४।३९, व्यत्यय से इकार लोप॥

[1760]. "..तपस्तपस्यतिरञ्जसा सत्यमुप गेषँ सुविते मा धाः"। तै.सं. - १।२।१०॥

[1761]. तै.सं. – १।२।१०॥

[1762]. "इणो गा लुङि"। अष्टा. – २।४।४५॥

[1763]. "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च"। अष्टा. - ८।२।२९ से यासुट् एवं सुट् के सकारों का लोप।

[1764]. "आशिषि लिङ्लोटौ"। अष्टा. - ३।३।१७३, "लिङाशिषि"। अष्टा. - ३।४।११६, आर्द्धधातुकसंज्ञक॥

[1765]. "लिङ्याशिष्यङ्"। अष्टा. – ३।१।८६ आशीर्लिङ् में अङ्-प्रत्यय॥

[1766]. "आतो लोप ईटि च"। अष्टा. – ६।४।६४, अजादि ङित् आर्द्धधातुक परे रहते आकार का लोप॥

[1767]. "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च"। अष्टा. - ३।४।१०३॥

[1768]. "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य"। अष्टा. - ७।२।७९, आर्धधातुक होने के कारण सकार का लोप नहीं हुआ।

[1769]. "अतो येयः"। अष्टा. – ७।२।८०, या को इयादेश॥

[1770]. "लोपो व्योर्वलि"। अष्टा. - ६।१।६४, यकार लोप॥

[1771]. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९ ।

[1772]. "गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु"। अष्टा. - २।४।७७, सूत्र से सिच् का लुक् प्राप्त हुआ परन्तु वेद में व्यत्यय होने के कारण सिच् नहीं हुआ।

[1773]. "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि"। अष्टा. – ६।४।७५ अट् निषेध माङ् न होने पर भी॥

उपेतन[1775] - भट्टभास्कर के अनुसार इस पद का अर्थ "उपगच्छत" है[1776]। यह रूप गत्यर्थक अदादिगण परस्मैपदी "इण् गतौ" धातु से निष्पन्न है। पाणिनि के अनुसार लोट् लकार के मध्यमपुरुष के बहुवचन थ के स्थान में उक्त त को वेद विषय में तप्, तनप्, तन तथा थन आदेश होते हैं[1777]। इस प्रकार यह रूप उप पूर्वक इण् धातु से लोट् लकार के मध्यम बहुवचन में है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	उपैतु[1778], उपेतात्	उपेताम्	उपयन्तु[1779]
मध्यमपुरुष	उपेहि, उपेतात्	उपेतम्	उपेत, उपेतन, उपेथन
उत्तमपुरुष	उपायानि	उपायावः	उपायामः

(इण् लोट्[1780]; इ थ[1781], इ तनप्[1782]; ए तन = उप[1783] एतन; उप एतन[1784])।

करत्[1785] - यह तनादिगणपठित उभयपदी "डुकृञ् करणे" धातु से वेद-विषय में लुङ् लकार में च्लि के स्थान में अङ्-प्रत्यय करके सम्पन्न है, क्योंकि सामान्यतः कृ धातु से आत्मनेपद से – "अकृत" तथा परस्मैपद में – "अकार्षीत्" रूप होते हैं। अतः वेदविषय में कृ धातु को लुङ् लकार में च्लि के स्थान पर अङ् प्रत्यय होता है।[1786] अङ् प्रत्यय के ङित् होने से गुण निषेध[1787] होने के पश्चात् भी इस अङ् प्रत्यय के परे रहते गुण प्राप्त होता है[1788]। भट्टभास्कर ने "करत्" का अर्थ "करोति" किया है।[1789]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	करत्	करताम्	करन्
मध्यमपुरुष	करः	करतम्	करत

[1774]. छन्द विषय में इत्व विकार होता है।

[1775]. "शमितार उपेतन यज्ञं देवेभिरिन्वितम्..."। तै.सं. – ३।१।४॥

[1776]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – ३।१।१४॥

[1777]. "तप्तनप्तनथनाश्च"। अष्टा. – ७।१।४५॥

[1778]. "एत्येधत्युठ्सु"। अष्टा. – ६।१।८६॥

[1779]. "इको यण्"। अष्टा. – ६।४।८१, यणादेश॥

[1780]. "लोट् च"। अष्टा. – ३।३।१६२॥

[1781]. "लोटो लङ्वत्"। अष्टा. - ३।४।८५॥

[1782]. "तप्तनप्तनथनाश्च"। अष्टा. - ७।१।४५ लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में उक्त प्रत्यय अपित् होने से ङित्वत् था परन्तु तनप् पित् होने से गुण; "सार्वधातुकार्द्धकयोः"। अष्टा. – ७।३।८४ से गुण॥

[1783]. "एत्येधत्युठ्सु"। अष्टा. – ६।१।८६ = अवर्ण से उत्तर इण् धातु से सम्पन्न एकारादि रूप परे हो तो वृद्धि एकादेश प्राप्त है परन्तु इसको वेद विषय में व्यत्यय जानकर निषेध कर दिया जाता है॥

[1784]. "एङि पररूपम्"। अष्टा. – ६।१।९१ अवर्णान्त उपसर्ग पररूप एकादेश से उत्तर एङ् परे रहते॥

[1785]. "..यथा नो अदितिः करत् पश्वे..."। तै.सं. – ३।४।१॥

[1786]. "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि"। अष्टा. – ३।१।५९ अङादेश छन्दविषय में॥

[1787]. "क्ङिति च"। अष्टा. – १।१।५॥

[1788]. "ऋदृशोऽङि गुणः"। अष्टा. – ७।४।१६ गुण हो, अङ् परे रहते; अङ् ङित् होने के कारण गुण का निषेध था॥

[1789]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – ३।४।११॥

उत्तमपुरुष	करम्	करव	करम

(कृ च्लि लुङ्; कृ अङ् ति; कृ अ ति; कर् अ त्)

क्रियन्ते[1790] - सायणाचार्य के अनुसार इस पद के द्वारा "एतं युवानम्" इत्यादि मन्त्रों के द्वारा जिन कर्मों को सिद्ध किया जाता है उन कर्मो को कहा गया है[1791]। अतः यह क्रिया किसी कर्तृत्व को सम्बोधित न करके कर्म को सम्बोधित कर रही है जिसके कारण इसमें यक् प्रत्यय[1792] का विधान हुआ है तथा कर्म में होने के कारण धातु से आत्मनेपद हुआ।[1793] इस प्रकार यह पद तनादिगणपठित उभयपदी "डुकृञ् करणे" (करोति, कुरुते) धातु से कर्म में है (क्रियन्ते)।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	क्रियते	क्रियेते	क्रियन्ते
मध्यमपुरुष	क्रियसे	क्रियेथे	क्रियध्वे
उत्तमपुरुष	क्रिये	क्रियावहे	क्रियामहे

कृ धातु से लट्-लकार, लट् के स्थान में आत्मनेपद बहुवचन में झ-प्रत्यय, यक्-प्रत्यय व रिङ् आदेश (कृ लट्; कृ झ; कृ=क् रिङ्[1794] यक्=य[1795] अन्ते[1796])

कृणुष्व[1797] - यह पद कृञ् धातु से लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में निष्पन्न है। कृञ् धातु स्वादिगणपठित परस्मैपदी "कृञ् हिंसायाम्" (कृणोति), तथा तनादिगणपठित उभयपदी "डुकृञ् करणे" (करोति, कुरुते) दो स्थानों पर पठित है। प्रस्तुत पद को परस्मैपदी "कृञ् हिंसायाम्" धातु से विकरण श्नु[1798] प्रत्यय एवं आत्मनेपद का व्यत्यय करके सिद्ध किया जा सकता है। (कृ श्नु=नु थास्=से=स्व; कृ नु[1799] स्व; कृणुष्व) जिसका अर्थ होगा "जहि"। परन्तु भट्टभास्कर एवं सायण "कृणुष्व" का अर्थ "कुरुष्व" स्वीकार करते हैं। अतः कृणुष्व पद "डुकृञ् करणे" धातु से करणार्थ में उ प्रत्यय के स्थान पर श्नु का व्यत्यय करके निष्पन्न है (कृ उ = श्नु थास्=से=स्व) जिसका अर्थ कुरुष्व है। भट्टभास्कर कृणुष्व को भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "कृवि हिंसाकरणयोश्च" (कृणोति) धातु से भी मानते हैं।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	कृणुताम्	कृण्वाताम्	कृण्वताम्
मध्यमपुरुष	कृणुष्व	कृण्वाथाम्	कृणुध्वम्

1790. "व्यृद्धेन वा एष पशुना यजते यस्यैतानि न क्रियन्त एष...क्रियन्ते"। तै.सं. – ३।३।९॥

1791. "एतं युवानम् इत्यादिभिमन्त्रैः साध्यानि यानि कर्माणि तानि विद्यन्ते....व्यृद्धेन वा एष पशुना..."। सायणभाष्य, तै.सं. – ३।३।९॥

1792. "सार्वधातुके यक्"। अष्टा. – ३।१।६७॥

1793. "भावकर्मणोः"। अष्टा.१।३।१३॥

1794. "रिङ् शयग्लिङ्क्षु"। अष्टा. – ७।४।२८॥

1795. "सार्वधातुके यक्"। अष्टा. – ३।१।६७॥

1796. "झोऽन्तः"। अष्टा. – ७।१।३, "टित आत्मनेपदानां टेरे"। अष्टा. – ३।४।७९।

1797. "कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि..."। तै.सं. १।२।१४॥

1798. "स्वादिभ्यः श्नुः"। अष्टा. - ३।१।७३॥

1799. "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि"। अष्टा. – ८।४।२॥

उत्तमपुरुष	कृणवै[1800]	कृण्वावहै	कृण्वामहै

कृवि धातु को नुमागम, थास्-प्रत्यय, थास् को से, उ-प्रत्यय व अकार अन्तादेश (कृवि=कृव्; कृ नुम्[1801] व्; कृ न् व्; कृ न् व् थास्=से=स्व; कृ न् अ उ[1802] स्व; कृ न्[1803] अ उ स्व; कृ ण् अ[1804] उ स्व; कृणु स्व[1805]; = कृणुष्व)।

तप्यध्वम्[1806] - यह तप् धातु से लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में है। तप् धातु – भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "तप सन्तापे" (तपति), दिवादिगणपठित अनिट् आत्मनेपदी "तप ऐश्वर्ये" (तप्यते) चुरादिगणपठित उभयपदी "तप दाहे" (तापयति, तपति) धातुएँ तीन स्थानों पर पठित हैं। भट्टभास्कर के अनुसार "तप्यध्वम्" पद "तप सन्तापे" धातु से कर्म में विहित है।[1807] सायणाचार्य भी इसको कर्म में स्वीकार करते हैं[1808]। अतः यह रूप यक् प्रत्यय से निर्मित है[1809]। ध्यातव्य है कि इस रूप को दिवादिगणगठित आत्मनेपदी "तप ऐश्वर्ये" धातु से भी कर्तृवाच्य में भी निष्पन्न किया जा सकता है। परन्तु सायणाचार्य इस मन्त्र को "कपाल" को सम्बोधित करते हैं, जो तप्त होते हैं अतः यह ऐश्वर्ये के अर्थ में न होकर तप्त के अर्थ में हैं।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	तप्यताम्	तप्येताम्	तप्यन्ताम्
मध्यमपुरुष	तप्यस्व	तप्येथाम्	तप्यध्वम्
उत्तमपुरुष	तप्यै	तप्यावहै	तप्यामहै

ददः[1810] - प्रस्तुत पद दा धातु से लेट् लकार में है। लेट् लकार में घुसंज्ञक[1811] होने के कारण आकार का लोप[1812] होता है। घुसंज्ञक दा धातुएँ = जुहोत्यादिगण में पठित उभयपदी डुदाञ् दाने, भ्वादिगणपठित परस्मैपदी दाण् दाने भ्वादिगण आत्मनेपदी देङ् रक्षणे दिवादिगण परस्मैपदी दो अवखण्डने धातुएँ है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	ददत्	ददतः	ददन्
मध्यमपुरुष	ददः	ददथः	ददथ

[1800]. "एत ऐ"। अष्टा. – ३।४।९३॥

[1801]. "इदितो नुम् धातोः"। अष्टा. – ७।१।५८ इकार जिसका इत् है उसको नुमागम॥

[1802]. "धिन्विकृण्व्योर च"। अष्टा. – ३।१।८०, कृवि धातु से उ प्रत्यय (यह शप् के स्थान पर है) तथा उसका अकार अन्तादेश॥

[1803]. "ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्"। वार्त्तिक, अष्टा. – ८।४।१॥

[1804]. "अतो लोपः"। अष्टा. – ६।४।४८ आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अकार का लोप हो।

[1805]. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९॥

[1806]. "..भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वं...."। तै.सं. – १।१।७॥

[1807]. "..तेषां तपसा तप्यध्वं तप्तानि भवत। कर्मणि लकारः।..."। तै.सं. – १।१।७, पृ.१०७॥

[1808]. "हे कपालानि, देवतातपो रूपेणाऽग्निना तप्तानि भवत"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।७, पृ. – १०७॥

[1809]. "सार्वधातुके यक्"। अष्टा. – ३।१।६७॥

[1810]. "..स्वस्तये प्रबुधे नः पुनर्ददः"। तै.सं. – १।२।३॥

[1811]. "दाधाघ्वदाप्"। अष्टा. - १।१।१९॥

[1812]. "घोर्लोपो लेटि वा"। अष्टा. – ७।८।७०, आकारलोप॥

उत्तमपुरुष	ददाम्	ददाव	ददाम

(डुदाञ्=दा लेट्; द दा[1813] अट्=अ[1814] सिप्=सि; द दा अ सि; द द्[1815] अ सि=स्[1816]; ददस्[1817] = ददः)।

दुहे[1818] - यह पद अदादिगणपठित उभयपदी "दुह प्रपूरणे" (दोग्धि, दुग्धे) धातु से निष्पन्न है। परन्तु यह रूप दुह् धातु के आत्मनेपद व परस्मैपद किसी भी लकार में दृष्टिगोचर नहीं होता है। इससे ज्ञात होता है कि यह एक छान्दस प्रयोग है जिसको दुह् धातु से लट् लकार में सम्पन्न किया जाता है। (दुह् त=ए[1819]) दुहे।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	दुहे (दुग्धे)	दुहाते	दुहते
मध्यमपुरुष	धुक्षे	दुहाथे	धुग्ध्वे
उत्तमपुरुष	दुहे	दुह्वहे	दुह्महे

जेष्म[1820] - लिङ् के अर्थ में[1821] उक्त लेट् लकार में भ्वादिगणपठित "जि जये" धातु से उत्तमपुरुष बहुवचन में यह सिद्ध है।

धातु से लेट्-लकार सिप्-प्रत्यय, शप्-प्रत्यय, गुणादेश व षत्व विधान (जि सिप्[1822]=स् शप् लेट्; जे[1823] स् शप्[1824] मस्[1825]; जे ष्[1826] म)।

जुजोषत्[1827] - यह रूप जुष् धातु से निष्पन्न है। धातु पाठ में जुष् धातुएँ चुरादिगणपठित परस्मैपदी "जुष परितर्कणे" (इकट्ठा होना वा मारना - जोषयति, जोषति) तथा तुदादिगण में पठित आत्मनेपदी "जुषी प्रीतिसेवनयोः" (जुषते) है। भट्टभास्कर इस पद का अर्थ चुरादिगणपठित धातु से (जोषयति) मानते है। परन्तु सायणाचार्य

1813. "जुहोत्यादिभ्यः श्लुः"। अष्टा. - २।४।७५, "श्लौ"। अष्टा. - ६।१।१० द्वित्व, "पूर्वोभ्यासः"। अष्टा. – ६।१।४, "ह्रस्वः"। अष्टा. ७।४।५९॥

1814. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. – ३।४।९४, आट् आगम॥

1815. "घोर्लोपो लेटि"। अष्टा. – ७।३।७०, आकारलोप॥

1816. "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु"। अष्टा. – ३।४।९७ इकार लोप॥

1817. "ससजुषो रुः"। अष्टा. - ८।२।६६, "खरवसानयोर्विसर्जनीयः"। अष्टा. – ८।३।१५॥

1818. "..यज्ञो वा वै यज्ञपतिं दुहे यज्ञपतिर्वा यज्ञं दुहे..। तै.सं. – ३।२।७॥

1819. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"। अष्टा. – २।४।७२, "टित आत्मनेपदानां टेरे"। अष्टा. – ३।४।७९, "लोपस्त आत्मनेपदेषु"। अष्टा. – ७।१।४१, तकार लोप॥

1820. "..वद द्युमद्वदत वयँ संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि..."। तै.सं. – १।१।५, पृ.८९॥

1821. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥

1822. "सिब्बहुलं लेटि"। अष्टा. – ३।१।३४॥

1823. "सार्वधातुकार्द्धकयोः"। अष्टा. – ७।३।८४ गुण॥

1824. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७३, छन्दविषय में शप् का लुक् हो जाता है॥

1825. "स उत्तमस्य"। अष्टा. – ३।४।९८, सकार लोप।

1826. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९ षत्वम्॥

1827. "..यस्त आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्.."। तै.सं. – १।२।१४॥

"जुजोषत्" का अर्थ तुदादिगणपठित "जुषी प्रीतिसेवनयोः" धातु से परस्मैपद का व्यत्यय करके लेट् लकार में मानते हैं[1828]

जुष् धातु से णिच्-प्रत्यय, शप्-प्रत्यय को श्लु, श्लु होने से द्वित्व एवं द्वित्व-कार्य होता है (लेट् लकार = जुष् णिच्=इ; जुष् इ तिप्=ति; जुष् इ[1829] शप्[1830]ति; जुष्[1831] जुष् ति; जु जुष्[1832] ति=त्; जु जोष् अट्=अ[1833] त्[1834])।

जोहवीमि[1835] - यह पद भ्वादिगणपठित उभयपदी "ह्वेञ् स्पर्धाया शब्दे च" धातु से यङ्लुगन्त में निष्पन्न है। यङ्-प्रत्यय क्रिया के बार-बार करने या निरन्तर करने अर्थ में होता है[1836] ज्ञानयज्ञभाष्य में जोहवीमि का अर्थ "भृशमाह्वयामि" किया है।[1837] सायणाचार्य ने भृशम् जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया है अपितु यङ् का प्रयोग ही भृशम् में क्रिया के होने को दर्शाता है अतः उन्होंने "जोहवीमि" का अर्थ "आह्वयामि" मात्र किया है[1838]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	जोहवीति	जोहुतः	जोहुवति
मध्यमपुरुष	जोहवीषि	जोहुथः	जोहुथ
उत्तमपुरुष	जोहवीमि	जोहुवः	जोहुमः

(ह्वे यङ्[1839]; ह्वे यङ्[1840]; ह्वे[1841]; हु उ ए[1842]; हु[1843] मिप्; हु[1844] हु मि; हु[1845] हु मि; जु[1846] हु मि; जो हु[1847] ईट्=ई[1848] मि)।

1828. "..यः तवातिथिसत्कारम् आनुषक् प्रतिदिनं जुजोषत् प्रीतिपुरःसरं करोति.."। सायणभाष्य, तै.सं. - १।२।१४॥
"...यः त्वाम् आनुषक् अनुषक्तं नित्यम् आतिथ्यम् अतिथिसत्कारम्। यद्वा – अनुषक्तं यथाभिलषितमातिथ्यं जुजोषत् जोषयति प्रापयति"। ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।२।१४॥

1829. "णेरनिटि"। अष्टा. - ६।४।५१, णि का लोप॥

1830. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. - २।४।७६, शप् का श्लु॥

1831. "श्लौ"। अष्टा. ६।१।१० – द्वित्व, अभ्यास कार्य।

1832. "पुगन्तलघूपधस्य"। अष्टा. - ७।३।८६, गुण॥

1833. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. – ३।४।९४, अट् आगम॥

1834. "इतश्च"। अष्टा. - ३।४।१०० इकार लोप, । यदि तिप् को अट् आगम का व्यत्यय होता है।

1835. "..उभा हि वाँ सुहवा जोहवीमि ता वाजँ सद्य.."। तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०३॥

1836. "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्"। अष्टा. – ३।१।२२ यङ् प्रत्यय॥

1837. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०४॥

1838. सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।१४, पृ.२०४॥

1839. "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्" । अष्टा. – ३।१।२२ यङ् प्रत्यय॥

1840. "यङोऽचि च"। अष्टा. – २।४।७४ यक् का लुक्॥

1841. "ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च"। अष्टा. – ६।१।३२ सम्प्रसारण॥

1842. "सम्प्रसारणाच्च"। अष्टा. – ६।१।१०४ पूर्वरूप एकादेश॥

1843. "सनाद्यन्ता धातवः"। अष्टा. – ३।१।३२॥

1844. "एकाचो द्वे प्रथमस्य"। अष्टा. – ६।१।१, "सन्यङोः"। अष्टा. – ६।१।९ द्वित्व॥

1845. "पूर्वोऽभ्यासः"। अष्टा. – ६।१।४, "कुहोश्चुः"। अष्टा. – ७।४।६२ चवर्गादेश, "अभ्यासे चर्च"। अष्टा. ७।४।५४ चर्त्व॥।

1846. "गुणो यङ्लुको"। अष्टा. – ७।४।८२ अभ्यास को गुण।

धवध्वे[1849] - ज्ञानयज्ञभाष्य में इस पद का अर्थ "धावत" है[1850]। परन्तु सायणभाष्य में इस मन्त्रांश का अर्थ "किं च् यूयम् आपः इव सध्रियञ्च धवध्वे व्यापका इव सन्तः क्रीडन्तश्च धावध्वम्" किया है। भट्टभास्कर इस पद को धावु व धूञ् धातुओं से लट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में निष्पन्न मानते है।[1851] भ्वादिगण में पठित "धावु गतिशुद्धयोः" धातु स्वरितेत् होने के कारण यदि क्रिया का फल कर्त्ता के लिए हो तो आत्मनेपद अन्यत्र परस्मैपद में होती है[1852]। अतः यह धातु उभयपदी है (धावति, धावते)। स्वादिगण में पठित "धूञ् कम्पने" धातु परस्मैपदी है जिससे विकरण श्नु प्रत्यय होता है[1853]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	धवते	धवेते	धवन्ते
मध्यमपुरुष	धवसे	धवेथे	धवध्वे
उत्तमपुरुष	धवे	धवावहे	धवामहे

(धावु=धाव् लट्; धाव् शप् ध्वम्; धाव् अ ध्वम्=ध्वे; धाव्[1854] अ ध्वे)। (धुञ्=धु लट्[1855]; धु शप्[1856] ध्वम्; धु[1857] अ ध्वे; धवध्वे)। (धवि लट्; धव्[1858]शप्=अ ध्वम्[1859])।

इनके अतिरिक्त भी भ्वादिगण में पठित गत्यर्थक धवि धातु से भी इस पद को सिद्ध किया जा सकता है (धन्वति)[1860]।

धूर्वति[1861] - प्रस्तुत रूप भ्वादिगण में परस्मैपदी हिंसार्थक धुर्वी धातु से लट् लकार में निष्पन्न है। धातु के इत्संज्ञक भाग का लोप होकर[1862] तथा तिबादि प्रत्यय होकर धुर्व की उपधा को हल् परे रहते दीर्घ होता है।[1863] सायणाचार्य के अनुसार यहाँ लट् लकार सन् के अर्थ में है – "भो वह्ने, त्वं हिंसकः असि। ततः पापरूपं हिंसकं विनाशय। किं च यः राक्षसादिः यागविघ्नेन अस्मान् जिघांसति तम् अपि

[1847]. "सार्वधातुकार्द्धकयोः"। अष्टा. – ७।३।८४..गुणादेश "एचोऽयवायावः"। अष्टा. – ६।१।७८, अयादेश॥

[1848]. "यङो वा"। अष्टा. – ७।३।९४ ईडागम॥

[1849]. "..ऋष्टिमन्त आप इव सध्रियञ्चो धवध्वे"। तै.सं. – ३।१।११॥

[1850]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ३।१।११॥

[1851]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ३।१।११॥

[1852]. "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले"। अष्टा. -१।३।६३॥

[1853]. "स्वादिभ्यः श्नुः"। अष्टा. -३।१।७३ ॥

[1854]. यहाँ दीर्घ को छान्दस ह्रस्व विधान होता है॥

[1855]. धातु का आत्मनेपद में व्यत्यय होता है।

[1856]. "स्वादिभ्यः श्नुः"। अष्टा. – ३।१।७३ श्नु प्राप्त है, परन्तु श्नु के स्थान पर छान्दस शप् का विधान किया।

[1857]. "सार्वधातुकार्द्धकयोः"। अष्टा. – ७।३।८४, गुण, "एचोऽयवायावः"। अष्टा. - ६।१।७८, अवादेश।

[1858]. "इदितो नुम् धातोः"। अष्टा. - ७।१।५८ , सूत्र से प्राप्त नुमागम को वेद में व्यत्यय के कारण निषेध।

[1859]. आत्मनेपद का व्यत्यय होता है।

[1860]. "इदितो नुम् धातोः"। अष्टा. – ७।१।५८॥

[1861]. "..धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व..."। तै.सं. – १।१।४ पृ.६८॥

[1862]. "उपदेशेऽजनुनासिक इत्"। अष्टा. – १।३।२॥

[1863]. "उपधायां च"। अष्टा. – ८।२।७८॥

विनाशय[1864]"। भट्टभास्कर भी धूर्वति का अर्थ जिघांसति करते हैं।[1865] पाणिनि सूत्रों में कोई भी सूत्र सन् प्रत्यय के लोप का वर्णन नहीं करता है। तथापि भाष्यकारों द्वारा सन् के अर्थ में इस पद का अर्थ करना यास्क के निर्वचन सिद्धान्त के सम्मत है[1866]।

निरभाक्[1867] - यह रूप भ्वादिगण में पठित उभयपदी "भज् सेवायाम्" (भजति, भजते) धातु से लुङ् लकार में छन्दविषय में निष्पन्न है। लोक में भज् धातु से लुङ् लकार परस्मैपद में ईडागम होकर अभाक्षीत्[1868] तथा आत्मनेपद में अभक्त रूप बनता है। भट्टभास्कराचार्य ने इसका अर्थ "निभागमकार्षी" किया है[1869]। छन्द-विषय में बहुल करके ईडागम हुआ, जिसके कारण यहाँ ईडागम प्राप्त नहीं हुआ।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	निरभाक्	निरभाक्ताम्	निरभाक्षुः
मध्यमपुरुष	निरभाक्	निरभाक्तम्	निरभाक्त
उत्तमपुरुष	निरभाक्षम्	निरभाक्ष्व	निरभाक्ष्म

(अ भज् च्लि=सिच् लुङ्; अ भज् स्[1870] तिप्=ति=त्[1871]; अ भाज्[1872] स्[1873] त्[1874]; अभाज्=अभाग्[1875] अभाक्, अभाग्[1876])।

पर्यूहामि[1877] - यह पद ऊह् धातु से लट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन में सम्पन्न है। परन्तु भ्वादिगण में पठित यह "ऊह वितर्के" धातु आत्मनेपद में (ऊह् शप्=अ ते = ऊहते) है। किन्तु यदि उपसर्ग से परे ऊह् धातु हो तो, उसको विकल्प से आत्मनेपद होता है।[1878] इस प्रकार पक्ष में "पर्यूहति" रूप भी बनेंगे। भट्टभास्कर ने "पर्यूहाति" पद का अर्थ "परितः सर्वतः ऊहामि स्थापयामि"[1879] किया है, यहाँ मन्त्र "हविर्धानमण्डपनिर्माण" के सन्दर्भ में होने के कारण ऊह् धातु का वितर्के अर्थ स्थापना सम्बन्धी वितर्क में परिणत कर दिया गया है।

[1864]. तै.सं. – १।१।४, पृ.६८॥

[1865]. "..तं च धूर्व यः अस्मान् धूर्वति जिघांसति..."। तै.सं. - १।१।४, पृ.६८॥

[1866]. नि. – प्रथमाध्याय द्वितीय पाद॥

[1867]. "..सोऽब्रवीत् कथा सा निरभागिनि न त्वा..."। तै.सं. – ३।१।९॥

[1868]. "अस्तिसिचोऽपृक्ते"। अष्टा. – ७।३।९६॥

[1869]. तै.सं. – ३।१।९॥

[1870]. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – ७।३।९७, ईट् आगम बहुल करके वेद विषय में होता है॥

[1871]. "इतश्च"। अष्टा. – ३।४१००, इकार का लोप॥

[1872]. "वदव्रजहलन्तस्याचः"। अष्टा. – ७।२।३, वृद्धि॥

[1873]. "लोपः संयोगान्तस्य"। अष्टा. ८।२।२३॥

[1874]. "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६८॥

[1875]. "चोः कुः"। अष्टा. - ८।२।३० कुत्व॥

[1876]. "वाऽवसाने"। अष्टा. – ८।४।५५॥

[1877]. "ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिँ सुप्रजावनिँ रायस्पोषवनिं पर्यूहामि..."। तै.सं. -१।३।१॥

[1878]. "उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम्"। वार्त्तिक, अष्टा. - १।३।२९॥

[1879]. "..एवं गुणां त्वामौदुम्बरीं परितः सर्वतः ऊहामि स्थापयामि..."। तै.सं. – १।३।१॥

पिप्रीषति[1880] - प्रीञ् धातु से सन्नन्त पद[1881] है। सन्नन्त को द्वित्व होता है[1882]। धातु पाठ में प्रीञ् धातु दो स्थानों पर उपलब्ध है। क्र्यादिगणपठित उभयपदी "प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च" (प्रीणाति, प्रीणीते) तथा चुरादिगणपठित उभयपदी "प्रीञ् तर्पणे" (प्रीणयति, प्रयते)। ज्ञानयज्ञभाष्य व सायणभाष्य में इसका अर्थ "प्रीणयितुमिच्छति" किया है। जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह रूप चुरादिगणपठित धातु से निष्पन्न है।[1883]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	पिप्रीषति	पिप्रीषतः	पिप्रीषन्ति
मध्यमपुरुष	पिप्रीषसि	पिप्रीषथः	पिप्रीषथ
उत्तमपुरुष	पिप्रीषामि	पिप्रीषावः	पिप्रीषामः

(प्री सिच्=स्[1884] ति; प्री प्री[1885] स् ति; पि प्री स्[1886] ति)।

प्रदुह्वते[1887] - ज्ञानयज्ञभाष्य में इसका अर्थ "प्रकर्षेण दुहन्ताम्" किया है।[1888] इसको अदादिगणपठित उभयपदी "दुह प्रपूरणे" (दोग्धि, दुग्धे) धातु से लेट् लकार बहुवचन के अतिरिक्त सम्पन्न नहीं किया जा सकता। जबकि ज्ञानयज्ञभाष्य में "प्रदुह्वते" का लोट्-लकार में "प्रकर्षेण दुहन्ताम्" अर्थ माना है। क्योंकि लेट्-लकार भी लिङ् के अर्थ में[1889] होता है एवं लोट् लकार भी[1890]। रूप में रुट् आगम बहुल करके प्राप्त हुआ है, बहुल कहने से जहाँ रुडागम नहीं होगा वहाँ दुहत रूप बनेगा।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	दुह्वते	दुह्वाते	दुह्वते
मध्यमपुरुष	दुह्वसे	दुह्वाथे	दुह्वध्वे
उत्तमपुरुष	दुह्वे	दुह्वावहे	दुह्वामहे

(दुह् लेट्[1891]; दुह् अट्[1892] झ; दुह्[1893] अट् अत्[1894] अ; दुह् रुट्[1895] अ अत; दुह् र् अ अत[1896]; दुह्वते)।

1880. "..पिप्रीषति स्व आयुषी दुरोणे विश्वेदस्मै..."। तै.सं. – १।२।१४॥

1881. "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"। अष्टा. - ३।१।७॥

1882. "सन्यङोः"। अष्टा. - ६।१।९॥

1883. तै.सं. – १।२।१४॥

1884. "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"। अष्टा. – ३।१।७॥

1885. "सन्यङोः"। अष्टा. – ६।१।९, "पूर्वोऽभ्यासः"। अष्टा. - ६।१।५, "हलादिशेषः"। अष्टा. - ७।४।६०, "ह्रस्व"। अष्टा. ७।४।५९॥

1886. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९ षत्व॥

1887. "..उत्सं दुह्वते अक्षितमित्याह यदेवास्य.."। अष्टा. – ३।१।१०॥

1888. तै.सं. – ३।१।१०॥

1889. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥

1890. "लोट् च" । अष्टा. - ३।३।१६२॥

1891. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥

1892. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. – ३।४।९४॥

1893. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"। अष्टा. – २।४।७२ शप् को श्लु॥

1894. "आत्मनेपदेष्वनतः"। अष्टा. – ७।१।५॥

मनामहे[1897] - भ्वादिगणपठित "म्ना अभ्यासे" धातु परस्मैपद में होती है। भ्वादिगण में शप्-प्रत्यय होता है जो शित् है। इस धातु को शित् प्रत्यय परे रहते मन् आदेश होता है[1898]। किन्तु "मनामहे" पद को निष्पन्न करने हेतु यहाँ आत्मनेपद का व्यत्यय किया गया है (मन् शप्=अ वहे[1899]; मन् अ आ[1900]वहे)। भट्टभास्कर भी "मनामहे" को "म्ना अभ्यासे" धातु से निष्पन्न मानते है[1901]। जबकि सायणभाष्य में म्ना-धातु के अर्थ को प्रधानता न देते हुए, मन्त्र के भाव को प्रधानता दी गई है। इस मन्त्रांश का अर्थ "अभीष्टसिद्धये वयं देवताविषयं कर्मानुष्ठानबुद्धिमनया बुद्ध्या संपादयामः" करते हैं[1902]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	मनते	मनाते	मनते[1903]
मध्यमपुरुष	मनसे	मनाथे	मनध्वे
उत्तमपुरुष	मने	मनावहे	मनामहे

मा अतिधाक्[1904] - भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "दह भस्मीकरणे" धातु से लुङ् लकार में अधाक्षीत्, अदाग्धाम् इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं। जिसमें सामान्यतः सिच् से उत्तर अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् का आगम होता है।[1905] परन्तु वेदविषय में इस ईट् आगम के बहुल से विधान होने से सम्पूर्ण रूप में परिवर्तन आ जाता है[1906]। अतिपूर्वक दह्-धातु से इस रूप का निर्माण निम्न हैं -

(मा दह् च्लि=सिच् लुङ्; मा दाह्[1907] स् तिप्; मा दाह् स्[1908] त्; मा दाह् स् त्[1909]; मा धाह्[1910] स्[1911]; मा धाह्; मा धाघ्[1912]; मा धाग्[1913]; मा धाक्[1914]) ।

[1895]. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – ७।१।८ अत् को बहुल करके रुट् आगम, "आद्यन्तौ टकितौ"। अष्टा . – १।१।४५॥

[1896]. "टित आत्मनेपदानां तेरे"। अष्टा. ३।४।७९, एत्व, "लोपस्त आत्मनेपदेषु"। अष्टा. – ७।१।४१ तकार का लोप प्राप्त हुआ - दुह्ह ए, परन्तु तकारलोप बहुल करके होने से यहाँ नहीं हुआ।

[1897]. "दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां.."। तै.सं. – १।२।३॥

[1898]. "पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्त्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः"। अष्टा. – ७।३।७८॥

[1899]. "टित आत्मनेपदानां टेरे"। अष्टा. – ३।४।७९॥

[1900]. "अतो दीर्घो यञि"। अष्टा. – ७।३।१०१॥

[1901]. "तां धियं मनामहे अभ्यस्यामः"। तै.सं. - १।२।३॥

[1902]. सायणभाष्य, तै.सं. – १।२।३।

[1903]. "अतो गुणे"। अष्टा. – ६।१।९३॥

[1904]. "..देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिठे अधि नाकेऽग्निस्ते तनुवं नाऽति धागग्ने"। तै.सं. – १।१।८, पृ. ११५॥

[1905]. "अस्तिसिचोऽपृक्ते"। अष्टा. – ७।३।९६, ईडागम॥

[1906]. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – ७।३।९७ ईडागम बहुल करके॥

[1907]. "वदव्रजहलन्तस्याचः"। अष्टा. – ७।२।३, हलन्त अङ्ग को वृद्धि परस्मैपद सिच् परे रहते॥

[1908]. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – ७।३।९७, ईडागम निषेध, ईडागम प्राप्त॥

[1909] "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. - ६।१६८।

[1910]. "एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः"। अष्टा. – ८।२।३७, एकाच् वाली धातु के बश् को भष् म, व, ध्वम् परे रहते।

[1911]. "संयोगान्तस्य लोपः"। अष्टा. – ८।२।२३ , सकार का लोप॥

मा स्कान्[1915] - भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "स्कन्दिर् गतिशोषणयोः" धातु से लुङ् लकार प्रथमपुरुष एकवचन में "अस्कन्दत्"[1916] (जिस धातु का इर् इत्संज्ञक है उससे विकल्प से अङ् प्रत्यय तथा कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर हलन्त अङ् की उपधा के नकार का लोप होता है[1917]) पक्ष में – अस्कान्त्सीत् (सिच् प्रत्यय) रूप सिद्ध होते है। परन्तु वेद विषय में इट् के अभाव होने के कारण "स्कान्" रूप भी सिद्ध होता है। स्कान् में अट् आगम का निषेध होता है।[1918] भट्टभास्कर के अनुसार इसका अर्थ लुङ् लकार में "मा गात्" है।[1919] परन्तु सायणाचार्य इसका अर्थ लोट् लकार में करते हैं[1920]। इसी धातु का लुङ् लकार में एक अन्य स्थान तृतीय काण्ड में "आ मा अस्कान्[1921]" रूप प्राप्त होता है। भट्टभास्कर के अनुसार यहाँ लुङ् लकार लोट् लकार के अर्थ में हुआ है[1922] तथा "मा" पद अस्मद् शब्द का द्वितीय विभक्ति एकवचन है[1923]। ध्यातव्य है कि भाष्यकार संहिता में लेट् के प्रयोग का अर्थ लिङ् से सम्बोधित करते हैं क्योंकि लेट्-लकार लिङ् के अर्थ में होता है। परन्तु यहाँ लुङ् लकार, जो कि भूतकाल में है, का प्रयोग लोट् में करने से भाष्यकारों का मन्तव्य किसी विधि के विधान से है जैसा कि मन्त्र के प्रकरण से दृष्टिगोचर होता है।

(मा स्कन्द् सिच् लुङ्; मा स्कान्द्[1924] स् तिप्; मा स्कान्द् स्[1925] त्[1926]; मा स्कान्द्[1927])

मा ईशत[1928] - यह पद अदादिगणपठित आत्मनेपदी "ईश ऐश्वर्ये" धातु से लुङ् लकार में निष्पन्न है। लुङ्-लकार होने के कारण आट् आगम प्राप्त था जिसको माङ् का योग होने से निषेध हो गया[1929]। जबकि ईश् धातु से लुङ् लकार में "ईशीत इत्यादि" रूप सिद्ध

[1912]. "दादेर्धातोर्घः"। अष्टा. – ८।२।३२, दकारादि धातु के हकार को घकारादेश पदान्त में।

[1913]. "झलां जशोऽन्ते"। अष्टा. – ८।२।३९ से जश्त्व॥

[1914]. "वाऽवसाने"। अष्टा. – ८।४।५५, विकल्प से चर्त्व।

[1915]. "मा मौगरस्ते दिवं मा स्कान्.."। तै.सं. – १।१।९, पृ.१२५॥

[1916]. "इरितो वा"। अष्टा. – ३।१।५७॥

[1917]. "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति"। अष्टा. – ६।४।२४॥

[1918]. "न माङ्योगे"। अष्टा. – ६।४।७४॥

[1919]. "अत एवोत्करस्य योऽयम् अररुः त्वयि बद्धः स दिवं स्वर्गं मा अस्कान् मा गात्"। "वेदिमानसम्बन्धिमंत्र" ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।१।९, पृ.१२४॥

[1920]. "..हे पांसुसमुहरूपोत्कर, तव सम्बन्धी यः अररुः स स्वर्गं मा गच्छतु"। तै.सं. – १।१।९, पृ.१२४॥

[1921]. "..निर्हन्तोस्तमभि मन्त्रयेताऽऽमाऽस्कान्त्सह प्रजया सह..."। तै.सं. – ३।१।८, पृ.५७॥

[1922]. "सह प्रजया सह रायस्पोषेण माम् अस्कन्द आगच्छेति"। "उपांशुग्रहार्थोऽभिषवः सम्बन्धिमन्त्र" ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – ३।१।८, पृ.५७॥

[1923]. "त्वामौ द्वितीयायाः"। अष्टा. - ८।१।२३ त्वा और मा आदेश॥

[1924]. "वदव्रजहलन्तस्याचः"। अष्टा. – ७।२।३॥

[1925]. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – ७।३।९७, इट् का अभाव; "झलो झलि"। अष्टा. – ८।२।२६ सकार लोप॥

[1926]. "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६८॥

[1927]. "संयोगान्तस्य लोपः"। अष्टा. – ८।२।२३॥

[1928]. "..मा वः ईशत माऽघशँशो रुद्रस्य हेति परि वो वृणक्तु.."। तै.सं. – १।१।१, पृ.१७॥
"..अपहर्ता मा युष्माकं ईशत ईशिष्टं स्ववशान् युष्मान् मा कार्षीत्..."। ज्ञानयज्ञ, तै.सं. - १।१।१, पृ.१७॥

[1929]. "आडजादीनाम्"। अष्टा. – ६।४।७४॥

होते हैं। परन्तु "ईशत" में अङ् प्रत्यय का विधान किया है। जो कि (अङ् प्रत्यय) असु, वच्, ख्याञ्, लिप्, सिच्, ह्वेञ्, पुषादि, द्युतादि, लृदित्, सृ, शासु, ऋ, इरित् धातुएँ, जॄ, स्तम्भु, स्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु, श्वि, कृ, मृ, दृ और रुह् धातुएँ से होता है।[1930] इस प्रकार यहाँ अङ् विधान के लिए व्यत्यय की सहायता ली गई है। जिससे च्लि के स्थान पर अङ् आदेश होकर यह रूप सिद्ध होता है। अङ् के ङकार की इत् संज्ञा होने से गुण और वृद्धि का निषेध होता है[1931]।

मा जीह्वरतम्[1932] - भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "ह्वृ कौटिल्ये" धातु से यह रूप ण्यन्त तथा चङादि प्रत्ययों से लुङ् लकार के मध्यमपुरुष द्विवचन में सम्पन्न है।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	मा जीह्वरत्	मा जीह्वरताम्	मा जीह्वरन्
मध्यमपुरुष	मा जीह्वरः	मा जीह्वरतम्	मा जीह्वरत
उत्तमपुरुष	मा जीह्वरम्	मा जीह्वराव	मा जीह्वराम

(ह्वृ लुङ्; ह्वृ णिच्=इ[1933] लुङ्; ह्वार् इ[1934] चङ्[1935] लुङ्; ह्वार्[1936] चङ्=अ तम्; ह्वर्[1937] ह्वर् अ तम्; ज[1938] ह्वर् अ तम्; जि[1939] ह्वर् अ तम्; जी ह्वर् अ तम्; = जीह्वरतम्)।

मा निर्मृक्षम्[1940] - यह पद निरुपसर्गपूर्वक तुदादिगणपठित परस्मैपदी "मृश आमर्शने" (मृशति) धातु से लुङ् लकार उत्तमपुरुष एकवचन में है। माङ् के प्रयोग के कारण लुङ् लकार में अट् आगम नहीं होता है[1941]। मृश् धातु से लुङ् लकार में अमार्क्षीत् (सिच् प्रत्यय होने के कारण) तथा अमृक्षत् (क्स प्रत्यय होने के कारण) दो रूप बनते हैं[1942]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	मा निर्मृक्षत्	मा निर्मृक्षताम्	मा निर्मृक्षन्

[1930]. "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्"। अष्टा. – ३।१।५२, "लिपिसिचिह्वश्च"। अष्टा. – ३।१।५३, "आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्"। अष्टा. – ३।१।५४, "पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु"। अष्टा. – ३।१।५५, "सर्त्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च"। अष्टा. – ३।१।५६, "इरितो वा"। अष्टा. – ३।१।५७, "जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च"। अष्टा. – ३।१।५८ "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि"। अष्टा. – ३।१।५९॥

[1931]. "क्ङिति च"। अष्टा. – १।१।५ गुण व वृद्धि निषेध॥

[1932]. "..प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतमत्र"। तै.सं. – १।२।१३॥

[1933]. "हेतुमति च"। अष्टा. – ३।१।२६ णिच्-प्रत्यय, "अचो ञ्णिति"। अष्टा. – ७।२।११५॥

[1934]. "णेरनिटि"। अष्टा.६।४।५१ णि का लोप॥

[1935]. "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्"। अष्टा. - ३।१।४८ चङ्-प्रत्यय॥

[1936]. "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः"। अष्टा. – ७।४।१ उपधा में ह्रस्व॥

[1937]. "चङि"। अष्टा. - ६।१।११ द्वित्व, "पूर्वोऽभ्यासः"। अष्टा. - ६।१।४, "हलादिशेषः"। अष्टा. - ७।४।६०, "कुहोश्चु"। अष्टा. – ७।४।६२, "अभ्यासे चर्च"। अष्टा. – ८।४।५३॥

[1938]. "सन्वल्लघुनिचङ्परेऽनग्लोपे"। अष्टा. – ७।४।९३, सन्वत्कार्य, "सन्यतः"। अष्टा. - ७।४।९३ अभ्यास को इत्व॥

[1939]. "दीर्घो लघोः"। अष्टा. – ७।४।९४ अभ्यास को दीर्घ॥

[1940]. "..निष्टपामि गोष्ठं मा निर्मृक्षं वाजिनं त्वा..."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१३५॥

[1941]. "न माङ्योगे"। अष्टा. – ६।४।७४॥

[1942]. "स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा"। वार्तिक, अष्टा. – ३।१।४४॥

मध्यमपुरुष	मा निर्मृक्षः	मा निर्मृक्षतम्	मा निर्मृक्षत
उत्तमपुरुष	मा निर्मृक्षम्	मा निर्मृक्षाव	मा निर्मृक्षाम

(मृश् च्लि=क्स[1943] लुङ्, मृश् क्स=स मिप्=अम्; मृष्[1944] स अम्, मृक्[1945] स अम्; मृक् ष[1946] अम्)।

मा मौक्[1947] - चुरादिगणपठित परस्मैपदी "मुच प्रमोचनमोदनयोः" (मोचयति), भ्वादिगणपठित आत्मनेपदी "मुचि कल्कने"- अभिमान करना (मुचते, मुञ्चते) तुदादिगणपठित उभयपदी "मुच्लृ मोक्षणे"- छूटना (मुञ्चते, मुञ्चति) इन तीनों धातुओं के इत्संज्ञक होने के पश्चात् मुच् शेष रहता है। मंत्र में प्रयुक्त पद मुच् धातु से लुङ् लकार में निष्पन्न है। सायणाचार्य के अनुसार "मा मौक्" का अर्थ "मा मुञ्च" है। इस प्रकार यह पद तुदादिगण में पठित मुच् धातु से निष्पन्न है परन्तु इस उभयपदी मुच् धातु से लुङ् लकार के परस्मैपद में "अमुचत्" (लृदित् होने के कारण अङ् प्रत्यय[1948]) तथा आत्मनेपद में अमुक्त रूप बनते हैं। जो कि मन्त्र में प्रयुक्त रूप से भिन्न हैं। अतः "मौक्" को वेद विषय में कुछ विशेष प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया जाता है –

(मुच् च्लि[1949] लुङ्; मुच् सिच्[1950] सिप्; मुच् स् सि[1951]; मौच्[1952] स्[1953] स्; मौच् स्[1954]; मौच्[1955]; मौक्, मौग्)।

(जहाँ "बहुलं छन्दसि[1956]" से ईट् आगम होगा वहाँ = मुच् स् ईट् स्; मौक् ष्[1957] इ स्[1958] = मौक्षीः)।

मा विनैत्[1959] - भ्वादिगणपठित "णीञ् प्रापणे" धातु उभयपदी (आत्मनेपदी व परस्मैपदी) है। इसके लुङ् लकार परस्मैपद में = अनैषीत् तथा आत्मनेपद में = अनेष्ट रूप होते हैं।

[1943]. "शल इगुपधादनिटः क्सः"। अष्टा. - ३।१।४५, शलन्त जो इक् उपधा वाली धातु उससे च्लि के स्थान पर क्स होता है॥

[1944]. "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः"। अष्टा. – ८।२।३६, षकारादेश, "अलोऽन्त्यस्य"। अष्टा. – १।१।५१॥

[1945]. "षढोः कः सि"। अष्टा. – ८।२।४१, ककारादेश॥

[1946]. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९, "अतो गुणे"। अष्टा. ६।१।९५, पररूप एकादेश॥

[1947]. "..वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगररुस्ते..."। तै.सं. – १।१।९, पृ.१२५॥

[1948]. "पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु"। अष्टा. – ३।१।५५ अङ् प्रत्यय॥

[1949]. यहाँ च्लि के स्थान पर धातु के लृदित् होने के कारण पुषादि. सूत्र से अङ् प्रत्यय प्राप्त हुआ, किन्तु वेद विषय में व्यत्यय के कारण च्लि के स्थान पर सिच् प्रत्यय हुआ।

[1950]. "च्लेः सिच्"। अष्टा. – ३।१।४४॥

[1951]. "इतश्च"। अष्टा. – ३।१।१००॥

[1952]. "वदव्रजहलन्तस्याचः"। अष्टा. – ७।२।३ वृद्धि॥

[1953]. "झलो झलि"। अष्टा. – ८।२।२६, सिच् के सकार का लोप॥

[1954]. "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६८ सकार लोप॥

[1955]. "चोः कुः"। अष्टा. – ८।२।३०, "झलां जशोऽन्ते"। अष्टा. – ८।२।३९, जश्त्व, "वाऽवसाने"। अष्टा. – ८।४।५५, विकल्प से चर्त्व।

[1956]. अष्टा. – ७।३।९७॥

[1957]. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९ षत्वम्॥

[1958]. "ससजुषो रुः"। अष्टा. – ८।२।६६ रु आदेश, "खरवसानयोर्विसर्जनीयः"। अष्टा. – ८।३।१५ विसर्गादेश॥

[1959]. "..तेजो मा वि नैदग्रेजिह्वाऽसि.."। तै.सं.- १।१।१०, पृ. १४६॥

मन्त्रांश में प्रयुक्त "मा वि नैत्" पद लुङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में है, जो कि छान्दस प्रयोग है। यहाँ वि उपसर्ग पूर्वक नी धातु विनाश अर्थ में प्रयुक्त है।[1960]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	मा विनैत्	मा विनैष्टाम्	मा विनैषुः
मध्यमपुरुष	मा विनैः	मा विनैष्टम्	मा विनैष्ट
उत्तमपुरुष	मा विनैषम्	मा विनैष्व	मा विनैष्म

(णी=नी[1961] सिच् =स् लुङ्; नी स् तिप्=ति[1962]; नी[1963] स् त्; नै स्[1964] त्; नैत्)।

मा रिषम्[1965] - यह रूप दिवादिगण में पठित परस्मैपदी हिंसार्थक रिष धातु से लुङ् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में सम्पन्न है। माङ् अव्ययपद के कारण अट् आगम[1966] नहीं हुआ[1967]। रिष् धातु के लुङ् लकार में च्लि[1968] के स्थान पर अङ्[1969] आदेश तथा ङकार की इत् संज्ञा[1970] होने से गुण व वृद्धि का निषेध[1971] होता है।

(मा रिष् च्लि मिप्; मा रिष् अङ् मि; मा रिष् अ मि; मा रिष् अ अम्[1972]; मा रिष् अम्[1973])।

मा संविक्थाः[1974]- सम्-पूर्वक तुदादिगण में पठित आत्मनेपदी "ओविजी भयचलनयोः" धातु से लुङ् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में सम्पन्न इस रूप में ओविजी धातु के अवयवों को इत् होकर लोप होता है[1975]।

(विज् लुङ्[1976]; विज् सिच्=स्[1977] थास्; विज् स्[1978] थाः= विज् था; विग्[1979] था; विक्[1980] थाः)

[1960]. "..ते तव तेजः औज्ज्वल्यम् अग्निः मा वि नैत् मा विनैषीत् मा विनीनशत्...".। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।१०, पृ.१४६॥

[1961]. "णो नः"। अष्टा.६।३।६३, नत्व॥

[1962]. "इतश्च"। अष्टा. – ३।४।१००, इकारलोप।

[1963]. "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु"। अष्टा. - ७।२।१, वृद्धि॥

[1964]. "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च"। अष्टा. ८।२।२९, सकार लोप।

[1965]. "..पर्व ते राध्यासमाच्छेत्ता ते मा रिषं...."। तै.सं. – १।१।२, पृ.४१॥

[1966]. "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"। अष्टा. – ६।४।७१॥

[1967]. "न माङ्योगे"। अष्टा. – ६।४।७४॥

[1968]. "च्लि लुङि"। अष्टा. – ३।१।४३॥

[1969]. "पुषादिद्युताद्यृदितः परस्मैपदेषु"। अष्टा. – ३।१।५५॥

[1970]. "हलन्त्यम्"। अष्टा. – १।३।३॥

[1971]. "क्ङिति च"। अष्टा. – १।१।५॥

[1972]. "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१॥

[1973]. "अतो गुणे"। अष्टा. – ६।१।९५॥

[1974]. "..मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रेक्षे मा भेर्मा सं विक्थाः.."। तै.सं. – १।१।४, पृ.६९॥

[1975]. "उपदेशेऽजनुनासिक इत्"। अष्टा. – १।३।२, "तस्य लोपः"। अष्टा. – १।३।९॥

[1976]. "लुङ्"। अष्टा. – ३।२।११०॥

[1977]. "च्लि लुङि"। अष्टा. – ३।१।४३, "च्लेः सिच्"। अष्टा. – ३।१।४४, "लिङ्सिचावात्मनेपदेषु"। अष्टा. – १।२।११, सिच्

मा ह्वाः[1981] - भ्वादिगण में पठित परस्मैपदी "ह्वृ कौटिल्ये" धातु से लुङ् लकार के मध्यमपुरुष एकवचन में सिद्ध इस रूप में लुङ् लकार में माङ् अव्यय पद का योग होने पर अट् या आट् आगम नहीं होते है।[1982] ह्वृ धातु से लुङ् लकार के रूप अह्वार्षीत् इत्यादि होते हैं जिसमें मध्यमपुरुष एकवचन का रूप अह्वार्षीः होता है। परन्तु मन्त्रांश में "ह्वाः" पद कुछ विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा निर्मित है –

(ह्वृ सिच् सिप् - लुङ् लकार में ईडागम होता है लेकिन वेद में बहुल करके अतः नहीं हुआ[1983] तथा वृद्धि होकर - ह्वार्[1984] स् स्; सिप् के सकार का लोप[1985] तथा सिच् के सकार का लोप[1986] एवं रेफ को विसर्ग[1987])।

रक्षस्व[1988] - लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में सम्पन्न यह रूप भ्वादिगण में पठित परस्मैपदी "रक्ष पालने" धातु से आत्मनेपद का व्यत्यय करके सिद्ध है। ध्यातव्य है कि अनुदात्तेत् व ङित् धातुएँ आत्मनेपद में होती हैं[1989]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	रक्षताम्	रक्षेताम्	रक्षन्ताम्
मध्यमपुरुष	रक्षस्व	रक्षेथाम्	रक्षध्वम्
उत्तमपुरुष	रक्षै	रक्षावहै	रक्षामहै

वक्ष्यामि[1990] - मन्त्रांश है "मधु जनिष्ये मधु वक्ष्यामि मधु वदिष्यामि..." यहाँ "वक्ष्यामि" पद को भ्वादिगणपठित उभयपदी "वह प्रापणे" (वहति, वहते; लृट् = वक्ष्यति) अदादिगण में पठित परस्मैपदी "वच परिभाषणे" (वक्ति; लृट् = वक्ष्यति), अदादिगणपठित उभयपदी "ब्रुञ् व्यक्तायां वाचि" (ब्रवीति, ब्रुते; लृट्= वक्ष्यति[1991]) धातुओं से निष्पन्न किया जा सकता है। ज्ञानयज्ञभाष्य में "वक्ष्यामि" का अर्थ "प्रापयिष्यामि" है[1992]। सायणाचार्य इस मन्त्रांश का अर्थ "मधु वक्ष्यामि मधुवत् प्रियस्य हविषो

प्रत्यय को कित्वत् हुआ॥

1978. "झलो झलि"। अष्टा. – ८।२।२६ सिच् के सकार का लोप॥

1979. "चोः कुः"। अष्टा. – ८।२।३० झल् परे रहते कुत्व॥

1980. "खरि च"। अष्टा. – ८।४।५४ चर्त्व॥

1981. "..पौरसि पृथिव्यसि विश्वधाया असि परमेण धाम्ना दृँहस्व मा ह्वार्वसूनां....."। तै.सं. – १।१।३, पृ.५२॥

1982. "न माङ्योगे"। अष्टा. – ६।४।७४॥

1983. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – ७।३।९७॥

1984. "सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु"। अष्टा. – ७।२।१॥

1985. "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६८॥

1986. "रात्सस्य"। अष्टा. – ८।२।२४॥

1987. "खरवसानयोर्विर्जनीयः"। अष्टा. - ८।३।१५॥

1988. "..विष्णो हव्यँ रक्षस्व"। तै.सं. – १।१।३, पृ.६०॥

1989. "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्"। अष्टा. – १।३।१२॥

1990. तै.सं. – ३।३।२॥

1991. "ब्रुवो वचि"। अष्टा. – २।४।५३॥

1992. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ३।३।२॥

देवान् प्रति वहनं करिष्यामि[1993]" करते है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार इस पद को "वह प्रापणे" धातु से लृट् लकार में सम्पन्न मानते हैं।

(वह् लृट्[1994]; वह् स्य[1995] मिप्; वढ्[1996] स्य मिप्; वक्[1997] स्य[1998] मि; वक् ष्यामि)

वर्धयस्व[1999] - आत्मनेपदी वृध् धातु से ण्यर्थ में[2000] लोट् लकार के मध्यमपुरुष एकवचन में सम्पन्न है। अण्यन्त अवस्था में जो अकर्मक तथा चेतन कर्त्ता वाली धातु हो उससे जब ण्यन्त अवस्था बनाते है तो परस्मैपद हो जाता है।[2001] वृध् धातु अण्यन्त अवस्था में आत्मनेपदी है परन्तु इसको ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद में होना चाहिए। परन्तु ज्ञानयज्ञभाष्य को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ चेतन कर्त्ता का अभाव है। चेतन कर्त्ता न होने के कारण इसमें परस्मैपद नहीं हुआ[2002]। जबकि सायणाचार्य के अनुसार "तस्मात् त्वं घृतेन देवानां तनूः वर्धयस्व" भाष्य में त्वम् से तात्पर्य जातवेद है[2003]।

विरुहेम[2004] - यह पद भ्वादिगणपठित परस्मैपदी अनिट् "रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च" धातु से आशीर्लिङ् के उत्तमपुरुष बहुवचन में निष्पन्न है। इस धातु के आशीर्वाद में रुह्यात्....इत्यादि रूप होते है। परन्तु छन्द-विषय में आर्द्धधातुक की भी सार्वधातुक-संज्ञा होती है[2005] तथा आशीर्लिङ् में अङ्-प्रत्यय होता है[2006]। भट्टभास्कर इसका अर्थ आशीर्लिङ् में करते हैं।[2007]

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	विरुहेत्	विरुहेताम्	विरुहेयुः
मध्यमपुरुष	विरुहेः	विरुहेतम्	विरुहेत
उत्तमपुरुष	विरुहेयम्	विरुहेव	विरुहेम

(रुहेम = रुह् मस्; रुह् अ यासुट्[2008] मस्; रुह् अ या=इय्[2009] म[2010])।

[1993]. सायणभाष्य, तै.सं. – ३।३।२॥

[1994]. "लृट् शेषे च"। अष्टा. – ३।३।१३॥

[1995]. "स्यतासी लृलुटोः"। अष्टा. ३।१।३३॥

[1996]. "हो ढः"। अष्टा. – ८।२।३१ झल् जिससे परे हो वा पदान्त में हकार को ढकारादेश॥

[1997]. "षढोः कः सि"। अष्टा. – ८।२।४१ सकारादि प्रत्यय परे हो तो षकार और ढकार को ककारादेश॥

[1998]. "आदेशप्रत्यययोः"। अष्टा. – ८।३।५९, "अतो दीर्घो यञि"। अष्टा. – ७।३।१०१॥

[1999]. "..घृतेन त्वं तनुवो वर्धयस्व स्वाहाकृतँ.."। तै.सं. – ३।१।४॥

[2000]. "हेतुमति च"। अष्टा. – ३।१।२६॥

[2001]. "अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्"। अष्टा. - १।३।८८॥

[2002]. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – ३।१।४॥

[2003]. सायणभाष्य, तै.सं. – ३।१।४॥

[2004]. "..देवबर्हिः शतवल्शं वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम.."। तै.सं. – १।१।२, पृ.४२॥

[2005]. "छन्दस्युभयथा"। अष्टा. – ३।४।११७॥

[2006]. "लिङ्याशिष्यङ्"।अष्टा. – ३।१।८६॥

[2007]. "वयमपि सहस्रवल्शाः पुत्रपौत्राद्यनेकप्ररोहवन्तो वि रुहेम विरूढा भूयासम्"। ज्ञानयज्ञभाष्य – तै.सं. – १।१।२, पृ.४२॥

[2008]. "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च"। अष्टा. ३।४।१०३ यासुट्, "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य"। अष्टा. - ७।२।७९ सकार लोप॥

वृधातु[2011] - धातुपाठ में दो वृधु धातुएँ - भ्वादिगणपठित आत्मनेपदी "वृधु वर्धने" (वर्धते, लोट् = वर्धताम्) चुरादिगणपठित परस्मैपदी भाषार्थक "वृधु" (वर्धयति, लोट् = वर्धयतु) है। ज्ञानयज्ञभाष्य में "वृधातु" पद का अर्थ "वर्धयतु" है[2012] जिससे ज्ञात होता है कि यह रूप चुरादिगणपठित वृधु से लोट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन में निष्पन्न है। जिसमें णिच् के साथ-साथ शप् के स्थान पर श विकरण होता है। शप् में पित् होने से गुण व वृद्धि प्राप्त थी परन्तु श अपित् होने से ङित्वत्, ङित् होने से गुण व वृद्धि का निषेध हो गया।

(वृध् णिच्[2013] लोट्; वृध् णि[2014] लोट्; वृध् तिप्=ति; वृध् श[2015] ति; वृध् अ आट्=आ[2016] ति[2017])।

शकेयम्[2018] - शक् धातु से आशीर्लिङ् के उत्तमपुरुष एकवचन में निष्पन्न है। धातु पाठ में शक् धातुएँ निम्न है – भ्वादिगणपठित आत्मनेपदी "शकि शङ्कायाम्" (शङ्कते), दिवादिगणपठित परस्मैपदी "शक विभाषितो मर्षणे" (शक्यते, शकति), स्वादिगणपठित परस्मैपदी "शक्लृ शक्तौ" (शक्नोति)। सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ "शक्तो भूयासम्" किया है[2019]। जो "शक शक्तौ" धातु से आशीर्लिङ् में है। यद्यपि इस धातु के आशीर्लिङ् रूप "शक्यात्" इत्यादि हैं। किन्तु प्रक्रिया वेद-विषय में इसकी सिद्धि निम्नलिखित है –

(शक् लिङ्[2020] - वेद विषय में आशीर्वाद में लिङ् आर्धधातुक संज्ञक भी सार्वधातुक हो[2021]; सार्वधातुक होने से शप् प्रत्यय[2022], परन्तु शप् को बाधकर अङ् प्रत्यय[2023]; शक् अङ् मिप्; शक् अ यास् अम्[2024]; शक् अ या[2025] अम्; शक् अ इय् अम्)।

[2009]. "अतो येयः"। अष्टा. – ७।२।८० यादेश, "लोपो व्योर्वलि"। अष्टा. – ६।१।६४, यकारालोप॥

[2010]. "नित्यं ङितः"। अष्टा. – ३।४।९९, सकारलोप॥

[2011]. "..बृहस्पतिर्नो हविषा वृधातु स्वाहा"। तै.सं.- १।२।२॥

[2012]. तै.सं. – १।२।२॥

[2013]. "सत्यापपाशरूपवीणातुल..."। अष्टा. - ३।१।२५, "लोट् च"। अष्टा. – ३।३।१६२, लोट् लकार॥

[2014]. "बहुलमन्यत्रापि..."। उ.को. – १९० णि का लोप बहुल करके हुआ॥

[2015]. "कर्त्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८, से शप् प्राप्त था जिससे पित् होने से गुण होता अतः यहाँ वेद विषय में व्यत्यय से श प्रत्यय हुआ॥

[2016]. "आडुत्तमस्य पिच्च"। अष्टा. – ३।४।९२, आट् आगम॥

[2017]. "एरुः"। अष्टा. – ३।४।८६॥

[2018]. "कर्मणे वां देवेभ्यः शकेयं.."। तै.सं. – १।१।४, पृ.६५॥

[2019]. "हे हस्तौ, देवानां संबन्धिने कर्मणे प्रक्षालितौ युवां प्रयोक्तुं शक्तो भूयासम्"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।४, पृ.६५॥

[2020]. "आशिषि लिङ्लोटौ"। अष्टा. – ३।३।१७३, आशीर्वाद में लिङ्, "लिङाशिषि"। अष्टा. – ३।४।११६ लिङ् की आर्द्धधातुक-संज्ञक॥

[2021]. "छन्दस्युभयथा"। अष्टा. – ३।४।११६॥

[2022]. "कर्त्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८॥

[2023]. "लिङ्याशिष्यङ्"। अष्टा. – ३।१।८६॥

[2024]. "तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः"। अष्टा. – ३।४।१०१॥

शुन्धध्वम्[2026] - शुन्ध्-धातु धातु-पाठ में दो स्थानों पर पठित है - चुरादिगणपठित परस्मैपदी "शुन्ध शौचकर्मणि" धातु तथा भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "शुन्ध शुद्धौ"। यह शुन्ध् धातु से लोट् लकार में निष्पन्न है। यद्यपि दोनों धातुएँ परस्मैपदी हैं। तथापि "शुन्धध्वम्" में व्यत्यय के कारण आत्मनेपद हुआ है। सायणाचार्य ने इसका अर्थ "शुद्धानि भवत[2027]" किया है। जिसको भट्टभास्कर "स्वयमेवात्मानं शोधयतेति" कहते है[2028]। जिससे ज्ञात होता है कि यह पद कर्मकर्तृ-प्रक्रिया में विद्यमान है। क्योंकि यहाँ कर्त्ता कर्मवत् हुआ है कर्त्ता के कर्मवद्भाव से तात्पर्य है कि कर्म के कर्त्ता जो जाने पर (पहले कर्म था अब कर्त्ता हो गया) क्रिया वैसी ही दिखाई दे, जैसा की उस कर्त्ता के जब वह कर्म था, उस समय थी, तो उस कर्म के साथ तुल्यक्रिया वाले कर्त्ता को कर्मवद्भाव होता है। जैसे – काष्ठं भिनत्ति देवदत्तः, को कर्मकर्तृ में भिन्दतो देवदत्तस्य काष्ठं स्वयमेव भिद्यते[2029]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	शुन्धताम्	शुन्धेताम्	शुन्धन्ताम्
मध्यमपुरुष	शुन्धस्व	शुन्धेथाम्	शुन्धध्वम्
उत्तमपुरुष	शुन्धै	शुन्धावहै	शुन्धामहै

(शुन्ध् णिच्[2030]; शुन्धि – णिच् प्रत्यय कर्मकर्तृ में होने के कारण आत्मनेपद[2031] तथा "सार्वधातुके यक्[2032]" सूत्र से यक् प्राप्त था किन्तु इसको "यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रिग्रन्थि[2033]" से निषेध हो जाता है, तथा णि का भी लोप हो जाता है[2034]; शुन्ध् ध्वम् - शप् प्रत्यय[2035])।

शुन्धस्व[2036] - शुन्ध् धातु लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन। धातु पाठ में भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "शुन्ध् शुद्धौ" (शुन्धति) व चुरादिगणपठित उभयपदी "शुन्ध शौचकर्मणि" (शुन्धयति, शुन्धयते) नाम से दो धातुओं का उल्लेख है। सायणाचार्य "शुन्धस्व" का अर्थ "शुद्धा भव" मानते है।[2037] किन्तु भट्टभास्कर इसका अर्थ "शुद्धा

2025. "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य"। अष्टा. – ७।२।७९॥

2026. "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै..."। तै.सं. – १।१।३, पृ.५०॥

2027. "हे पात्राणि, देवयज्यात्मने दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं शुद्धानि भवत"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।३, पृ.५०॥

2028. ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।१।३, पृ.५१॥

2029. "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"। अष्टा. – ३।१।८७॥

2030. "सत्यापपाशरूपवीणातूल.."। अष्टा. – ३।१।२५॥

2031. "भावकर्मणोः"। अष्टा. – १।३।१३॥

2032. अष्टा. – ३।१।६७॥

2033. वार्तिक, अष्टा. – ३।१।८९॥

2034. "बहुलं संज्ञाच्छन्दसोः"। उ.को. – १९०॥

2035. "कर्त्तरि शप्"। अष्टा. – ३।१।६८॥

2036. "..ध्रुवाऽसि देवेभ्यः शुन्धस्व..."। तै.सं. – १।२।१२॥

2037. सायणभाष्य, तै.सं. – १।२।१२॥

भव" स्वीकार करते हुए इसका चुरादिगणपठित धातु से निष्पन्न मानते है।[2038] जबकि इस पद को दोनों धातुओं से निष्पन्न किया जा सकता है।

(भ्वादिगण – शुन्ध् लोट्[2039]; शुन्ध् शप् थास्; शुन्ध् अ से[2040] शुन्ध् अ स्व[2041]) (चुरादिगण – शुन्ध् णिच्[2042]; शुन्ध् शप्=अ थास्; शुन्ध् अ स्व)।

समग्मत[2043] - सम्-पूर्वक "गम्लृ गतौ" धातु से निष्पन्न यह पद लुङ् तथा लङ् दोनों लकारों में सिद्ध होता है।

(लङ् लकार = अ[2044] गम् लङ्[2045]; अ गम् झ; अ गम् शप्[2046] अत[2047]; अ ग्म्[2048] अत) (लुङ् लकार = अ गम् लुङ्; अ गम् च्लि[2049] झ[2050]; अ गम् अत; अ ग्म् अत)।

समरिणन्[2051] - ज्ञानयज्ञभाष्य में इस पद का अर्थ "संगच्छन्तु" करते हुए इसको सम्-पूर्वक क्र्यादिगणपठित परस्मैपदी "री गतिशोषणयोः" (रिणाति) धातु से लङ् लकार में निष्पन्न माना है। जो धातु को ह्रस्वत्व[2052] तथा श्ना प्रत्यय के आकार का लोप[2053] करके प्रथमपुरुष बहुवचन में निष्पन्न होता है। परन्तु इस धातु के अतिरिक्त भी सम्-पूर्वक तुदादिगणपठित परस्मैपदी "रि गतौ" (रियति) भी निष्पन्न किया जा सकता है। यदि वेद विषय में श्ना प्रत्यय का व्यत्यय कर लिया जाय।

समिधीमहि[2054] - सम्-पूर्वक रुधादिगणपठित आत्मनेपदी "ञिइन्धी दीप्तौ" धातु से विधिलिङ् लकार के उत्तम पुरुष बहुवचन में सम्पन्न रूप "इन्धीमहि" होता है। परन्तु वेद में प्रक्रिया विशेष में इधीमहि भी सम्पन्न होता है जिसका अर्थ भी समान है[2055]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	समिधीत	समिधीयाताम्	समिधीरन्

2038. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. - १।२।१२॥
2039. व्यत्यय से आत्मेपद होता है।
2040. "थासः से"। अष्टा. – ३।४।८०॥
2041. "सवाभ्यां वामौ"। अष्टा. – ३।४।९१॥
2042. "णेरनिटि"। अष्टा. - ६।४।५१॥
2043. "..समापो अद्भिरग्मत समोषधयो रसेन.."। तै.सं. -१।१।८, पृ.११०॥
2044. "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"। अष्टा. – ६।४।७१, अट् आगम॥
2045. "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"। अष्टा. – ३।४।६, लङ् लकार॥
2046. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. - २।४।७३ शप् का लुक्।
2047. "आत्मनेपदेष्वनतः"। अष्टा. – ७।१।५, अदादेश॥
2048. "गमहनजनघनघसां लोपः क्ङित्यनङि"। अष्टा. – ६।४।९८ उपधालोपः॥
2049. "मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः"। अष्टा. – २।४।८०, लि का लुक्॥
2050. "समो गम्यृच्छिभ्याम्"। अष्टा. – १।३।२९ आत्मनेपद॥
2051. "..श्रीणात्वापः समरिणन् वातस्य..."। तै.सं. – १।३।१०॥
2052. "प्वादीनां ह्रस्व"। अष्टा. – ७।३।८०॥
2053. "श्नाभ्यस्तयोरातः"। अष्टा. – ६।४।११२॥
2054. "..द्युमन्तँ समिधीमह्यग्ने बृहन्तमध्वरे.."। तै.सं. – १।१।११॥
2055. "..सम्यक् दीपयामः"। ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।१।११, पृ. १५९॥

मध्यमपुरुष	समिधीथाः	समिधीयाथाम्	समिधीध्वम्
उत्तमपुरुष	समिधीय	समिधीवहि	समिधीमहि

(इन्ध् लिङ्; इ श्नम्[2056] न्ध् महिङ्; इ न न्ध्[2057] महि; इ न[2058] ध् महि; इ न् ध् महि; इ न् ध् सीयुट्[2059] महि; इन्ध् ईय्[2060] महि; इन्धीमहि)। (इधीमहि = यहाँ श्नम् विकरण का लोप[2061] होता है तथा धातु के अनुनासिक का लोप[2062] होता है)।

सङ्गच्छे[2063] - भ्वादिगण में पठित "गम्लृ गतौ" धातु परस्मैपद में होती है। किन्तु मन्त्रांश में प्रयुक्त पद में गम् धातु आत्मनेपद में लट् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में है। आचार्य पाणिनि के अनुसार गम् धातु के साथ यदि सम् उपसर्ग का योग हो तो वहाँ गम् धातु आत्मनेपद में होती है[2064] तथा मन्त्र में उपसर्ग तथा क्रिया के मध्य अन्तराल हो सकता है।[2065]

(गम् शप् इट्; गम्[2066] अ इ; गछ्[2067] अ इ; ग तुक्=त् छ् अ इ[2068])

सं नह्ये[2069] - सम्-पूर्वक दिवादिगणपठित उभयपदी "णह बन्धने" धातु लट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन। णह् धातु उभयपदी है तथा स्वरितेत् होने के कारण आत्मनेपदी भी है।[2070] यद्यपि इस पद को नह् धातु से श्यन् प्रत्यय[2071] करके सिद्ध किया जा सकता है। तथापि भट्टभास्कर के अनुसार "नह्ये" पद कर्त्तृवाच्य में न होकर कर्म में है[2072]। अतः श्यन् में नहीं अपितु यक्-प्रत्यय का विधान होगा। ध्यातव्य है कि कर्मवाच्य में धातु से यक्-प्रत्यय होता है।

[2056]. "रुधादिभ्यो श्नम्"। अष्टा. – ३।१।७८, "मिदचोऽन्त्यात्परः"। अष्टा. – १।१।४६॥

[2057]. "श्नान्नलोपः"। ६।४।२३, नकार लोप॥

[2058]. "श्नसोरल्लोपः"। अष्टा. – ६।४।१११, अकार का लोप ।

[2059]. "लिङः सीयुट्"। अष्टा. – ३।४।१०२, "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य"। अष्टा. ७।२।७९, सकार लोप॥

[2060]. "लोपो व्योर्वलि"। अष्टा. – यकार लोप॥

[2061]. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७३॥

[2062]. "अनुदात्तोपदेश वनतितनोत्यादीनामनुनासिक लोपो झलि क्ङिति"। अष्टा. – ६।४।३७॥

[2063]. "..सं पत्नी पत्याऽहं गच्छे समात्मा..". तै.सं. – १।१।१०, पृ.१४३॥

[2064]. "समो गम्यृच्छिभ्याम्"। अष्टा. – १।३।२९॥

[2065]. "व्यवहिताश्च"। अष्टा. – १।४।८१॥

[2066]. "इषुगमियमां छः"। अष्टा. – ७।३।७७, छकारादेश, "अलोऽन्त्यस्य"। अष्टा. – १।१।५१॥

[2067]. "छे च"। अष्टा. – ६।१।७१, तुगागम, "स्तोः श्चुना श्चुः"। अष्टा. - ८।४।३९॥

[2068]. "टित आत्मनेपदानां टेरे"। अष्टा. – ३।४।७९॥

[2069]. "..अग्नेरनुव्रता भूत्वा सं नह्ये सुकृताय कम्"। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१३९॥

[2070]. "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले"। अष्टा. – १।३।७२, आत्मनेपद विधान॥

[2071]. "दिवादिभ्यः श्यन्"। अष्टा. – ३।१।६९॥

[2072]. "..सुकृताय शोभनाय कर्मणे सं नह्ये बध्ये।...कं सुखं यथा भवति तथा बध्ये। कर्मणि लकारः"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।१०, पृ.१४०॥

सम्पृच्यध्वम्[2073] - चुरादिगणपठित परस्मैपदी "पृच संयमने" (पर्चयति[2074]), अदादिगणपठित आत्मनेपदी "पृची सम्पर्चने"(पृक्ते[2075]) और रुधादिगणपठित परस्मैपदी "पृची संपर्के" (पृणक्ति[2076]) धातुओं से कर्म में लकार का विधान है। कर्म में लकार होने के कारण "पृच्यध्वम्" क्रिया के सम्बन्ध "अद्भिः" तृतीयान्त पद का सम्बद्ध है। सायणाचार्य के अनुसार "हे पिष्टरुपा ओषधयः, यूयं पूर्वम् अद्भ्यः उत्पन्नः स्थ। ततोऽद्यापि अद्भिः संपृष्टा भवत"[2077], इसी प्रसङ्ग के अन्य रूप भी संहिता में मिलते हैं[2078]।

सं मार्ज्मि[2079] - सम्-पूर्वक अदादिगणपठित परस्मैपदी "मृजूष् शुद्धौ" धातु लट् लकार उत्तम पुरुष एकवचन। इस धातु की विशेषता है पाणिनि ने इस एकमात्र धातु में वृद्धि हेतु पृथक् सूत्र की रचना की है[2080]। सायणाचार्य ने इस मन्त्रांश का अर्थ "हे स्रुवः, गवां स्थानं मा विनाशयामीत्यभिप्रेत्यान्नवन्तं वैरिणमभिभवितारं त्वा सम्यक् शोधयामि"[2081]। मृज् धातु का लट् लकार –

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	मार्ष्टि	मृष्टः	मार्जन्ति
मध्यमपुरुष	मार्क्षि	मृष्टः	मृष्ट
उत्तमपुरुष	मार्ज्मि	मृज्वः	मृज्मः

(मृज् शप्[2082] मिप्; मार्ज्[2083] मि)।

संसृजा[2084] - धातु-पाठ में सृज धातु दो स्थानों पर पठित हैं – दिवादिगण में आत्मनेपदी "सृज विसर्गे" (सृज्यते) व तुदादिगण में परस्मैपदी "सृज विसर्गे" (सृजते) दोनों ही स्थानों पर अर्थ समान है। किन्तु विकरण के कारण ज्ञान होता है कि यह "ससृज" रूप तुदादिगणपठित सम् धातु से लोट् लकार के मध्यमपुरुष एकवचन में सम्पन्न है। ऋचा-विषय होने के कारण इसको दीर्घ हुआ है[2085]।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	संसृजतु	संसृजताम्	संसृजन्तु

2073. "..परि प्रजाताः स्थ समद्भिः पृच्यध्वम्....."। तै.सं. – १।१।८, पृ.११२॥

2074. "सत्यापपाशरूपवीणातूल..."। अष्टा. – ३।१।२५॥

2075. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"। अष्टा. – २।४।७२॥

2076. "रुधादिभ्यः श्नम्"। अष्टा. – ३।१।७८॥

2077. तै.सं. – १।१।८, पृ.११२॥

2078. "..हव्यं रक्षस्व सं ब्रह्मणा पृच्यस्व"। तै.सं. – १।१।८, पृ.११६॥

2079. "..वाजिनं त्वा सपत्नसाहँ सं मार्ज्मि.."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१३५॥

2080. "मृजेर्वृद्धिः"। अष्टा. – ७।२।११४॥

2081. सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।१०, पृ.१३६॥

2082. "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"। अष्टा. २।४।७२, शप् का लुक्॥

2083. "मृजेर्वृद्धिः"। अष्टा. – ७।२।११४ वृद्धि, "उरण् रपरः"। अष्टा. – १।१५०॥

2084. "स्वादो स्वादीयः स्वादुना सृजा समत ..."। तै.सं. – ३।५।१०॥

2085. "द्व्यचोऽतस्तिङः"। अष्टा. – ६।३।१३४॥

मध्यमपुरुष	संसृज	संसृजतम्	संसृजत
उत्तमपुरुष	संसृजानि	संसृजाव	संसृजाम

(सृज् लोट्[2086]; सृज् श[2087] सिप्=सि; सृज् श हि[2088]; सृज् अ हि[2089]; सृज् अ हि[2090], सृज् अ हि= सृज् अ[2091])। (परन्तु विपक्ष में "सृजधि" ऐसा रूप भी बनता है।)।

संसृज्यध्वम्[2092] - यह पद सम् उपसर्गपूर्वक सृज् धातु से लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में सम्पन्न है। धातुपाठ में सृज् धातु – दिवादिगणपठित आत्मनेपदी "सृज विसर्गे" (सृज्यते) तुदादिगणपठित परस्मैपदी "सृज विसर्गे" (सृजति) धातुएँ दो स्थानों पर पठित है। भट्टभास्कर "संसृज्यध्वम्" को कर्म में विहित मानते है[2093]। कर्म में विहित होने पर यक् प्रत्यय होता है।[2094] परन्तु यह पद दिवादिगण में पठित आत्मनेपदी धातु से भी निष्पन्न हो सकती है। जिसमें धातु से श्यन् प्रत्यय होता है[2095]। किन्तु कर्म में प्रत्यय होने का कारण मंत्र में "जगतीभिः" व "मधुमतीभिः" का कर्त्तृत्व के रूप में प्रयोग है[2096]।

उपसंहार - संस्कृत में धातु को सकर्मक व अकर्मक भेद से दो भागों में बाँटा जाता है। सकर्मक धातु से लकार कर्म व कर्त्ता में, अकर्मक धातुओं से भाव व कर्त्ता में होता है[2097]। इस प्रकार लकार – कर्त्ता, कर्म और भाव में होता है। इसी को कर्त्तृवाच्य, कर्मवाच्य व भाववाच्य कहा गया है अर्थात् इनमें क्रमशः कर्त्तृ, कर्म व भाव वाच्य होता है। परन्तु संस्कृत भाषा में कर्मकर्त्तृवाच्य भी स्वीकार किया जाता है। जिसमें कार्य का अत्यन्त अच्छे प्रकार से किया जाना स्वीकार करने हेतु कर्त्ता का क्रिया न करना कहा जाता है अर्थात् क्रिया स्वयमेव होती है जैसे – काटते हुए देवदत्त की तलवार अपने आप ही काटती है (छिन्दतो यज्ञदत्तस्य असिः स्वयमेव छिनत्ति[2098])। शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त तिङन्त पदों की सिद्धि के माध्यम से व्याख्या की गई है जिसमें व्यत्यय – अभ्यानट् = स्वादिगणपठित धातु से श्नु विकरण के स्थान पर श्नम् प्रत्यय, वेद-विषय = अवधीम् में मश् प्रत्यय लुङ् लकार उत्तमपुरुष एकवचन अम् के स्थान पर, की सहायता ली गई है।

2086. "लोट् च"। अष्टा. – ३।३।१६२॥

2087. "तुदादिभ्यः शः"। अष्टा. – ३।१।७७॥

2088. "सेह्यर्पिच्च"। अष्टा. – ३।४।८७॥

2089. "वा छन्दसि"। अष्टा. – ३।४।८७, छन्दविषय में विकल्प से अपित् अपित्, अपित् होने से ङित्वत् होता है, "सार्वधातुकमपित्"। अष्टा. – १।२।४॥

2090. "अङितश्च"। अष्टा. – ६।४।१०३ = अङित् हि को धि हो वेद विषय में ऐसी स्थिति में विकल्प से अपित् माना गया है अर्थात् यहाँ हि को अपित् मानकर ङित्वत् माना जिससे हि को धि नहीं हुआ।

2091. "अतो हेः"। अष्टा. – ६।४।१०५॥

2092. "..सँ रेवतीर्जगतीभिर्मधुमतीर्मधुमतीभिः सृज्यध्वम्..."। तै.सं. – १।१।८, पृ.१११॥

2093. "ईदृश्यो यूयं जगतीभिः सं सृज्यध्वम् संसृष्टा भवत। कर्मणि लकार"। ज्ञानयज्ञ, तै.सं. – १।१।८, पृ. १११॥

2094. "सार्वधातुके यक्"। अष्टा. – ३।१।६७॥

2095. "दिवादिभ्यो श्यन्"। अष्टा. – ३।१।१९॥

2096. "हे आपः रेवत्यो मधुमत्यश्च, यूयं जगतीभिर्मधुमतीभिश्च ओषधीभिः संसृज्यध्वमिति"। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।१।८, पृ.१११॥

2097. "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः"। अष्टा. – ३।४।६९॥

2098. "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"। अष्टा. – ३।१।८७।

पञ्चम अध्याय

लकारार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

पञ्चम-अध्याय

लकारार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक अध्ययन

लकारार्थ का अध्ययन करने से पूर्व लकार का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः पञ्चम-अध्याय में प्रथम लकारों प्रथम लकारों का अध्ययन किया गया है। लकारों के विवेचन के पश्चात् लकारार्थ का विवेचन किया जायेगा -

५.१.पाणिनि-प्रोक्त लकार-मीमांसा -

तिङन्त पदों में तिङ् का विधान सदैव लकारों के स्थान पर होता है जो वर्तमानकाल, भूतकाल और भविष्यत्काल में होते हैं। लकारों की संख्या दस है – जो टित् व ङित् लकारों में विभक्त है। सामान्यतः वर्तमानकाल में लट्-लकार[2099], सामान्य भूतकाल में लुङ्-लकार[2100], अनद्यतन भूतकाल में लङ्[2101], परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में लिट्[2102], सामान्य भविष्यत्काल में लृट्[2103], अनद्यतन भविष्यत्काल में लुट्[2104], विध्याद्यर्थों में लिङ्[2105], लोट्[2106], और लेट्[2107], आशीर्वाद अर्थ में आशीर्लिङ्[2108], क्रिया की अनिष्पत्तिगम्यमान होने पर भूतकाल और भविष्यकाल में लृङ्[2109] लकार होता है[2110]। इस प्रकार काल को दो भागो में बाँटा गया है – अद्यतन और अनद्यतन। अद्यतन के तीन भेद हैं – भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान। अनद्यतन दो प्रकार का है – भूत और भविष्यत्। अद्यतन के वर्त्तमानकाल में लट् लकार, सामान्य भूत में लुङ् और सामान्य भविष्यत् में लृट्। इसी प्रकार अन्य लकारों में काल का विभाजन समझना चाहिए[2111]।

५.१.१.टित् लकार –

जिसके टकार की इत्-संज्ञा होती है वह टित् कहलाता है[2112]। टित् लकारों में लट्. लिट्, लुट्, लृट्, लेट् व लोट् लकार का ग्रहण होता है।

2099. "वर्तमाने लट्। अष्टा.-३।२।१२३॥

2100. "लुङ्"। अष्टा. - ३।२।११०॥

2101. "अनद्यतने लङ्"। अष्टा. - ३।२।१११॥

2102. "परोक्षे लिट्"। अष्टा. - ३।२।११५॥

2103. "लृट् शेषे च"। अष्टा. - ३।३।१३॥

2104. "अनद्यतने लुट्"। अष्टा. - ३।३।१५॥

2105. "विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्"। अष्टा. – ३।३।१६१॥

2106. "लोट् च"। अष्टा. - ३।३।१६२॥

2107. "लिङर्थे लेट्। अष्टा. - ३।४।७ ॥

2108. "आशिषि लिङ्लोटौ"। अष्टा. - ३।३।१७ ॥

2109. "लिङ्-निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ"। अष्टा. - ३।३।१३९॥

2110. "वर्त्तमाने परोऽक्षे श्वो भाविन्यर्थे भविष्यति।
विध्यादौ प्रार्थनादौ च क्रमाज्ज्ञेया लडादयः"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ.१२१॥

2111. "अयमत्र सङ्ग्रहः – कालो द्विविधः.....इति दृष्टव्यः। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ.१४४॥

2112. "हलन्त्यम्"। अष्टा. – १।३।३॥

५.१.१.१.लट् लकार –

लट् लकार का विधान वर्त्तमान काल में किया गया है। भूतकाल और भविष्यत्काल से भिन्न काल को वर्त्तमान काल कहते हैं।[2113] उदाहरणस्वरूप "पचति" में वर्त्तमानत्व चूल्हे पर बटुआ रखने से लेकर नीचे उतार कर रखने तक की क्रिया के बीच में आरम्भ होकर शुरु न होने तक बना रहता है।[2114] इस प्रकार वर्त्तमान काल से अभिप्राय है "फल प्राप्ति के लिए प्रारम्भ हुआ व्यापार जब तक समाप्त नहीं होता तब तक के काल को वर्त्तमान"। यहाँ प्रश्न होता है कि जिन क्रियाओं की सीमा व अवधि नहीं है, वहाँ वर्त्तमानकाल कैसे संगत होगा, जैसे – *"आत्माऽस्ति, पर्वताः सन्ति"*। इसके उत्तर में कहा जाता है कि प्रयोग करने के समय जो शासक राजा है, उनकि सत्ता क्रिया तो सीमित है ही, उसी सीमित क्रिया वाले राजा की उत्पत्ति और मरण तथा शासन-काल को आत्मा और पर्वत में आरोपित कर आत्माऽस्ति आदि में वर्त्तमानकाल सिद्ध कर लेते है यह कल्पना महाभाष्यकार द्वारा की गई है।[2115]इसी प्रकार "तम आसीत्" आदि श्रुतियों में भी काल की योजना समझनी चाहिए।[2116] लट्-लकार की संरचना निम्न प्रकार है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भवति	भवतः	भवन्ति
मध्यमपुरुष	भवसि	भवथः	भवथ
उत्तमपुरुष	भवामि	भवावः	भवामः

५.१.१.२.लिट् लकार –

यह लकार अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में होता है। आँखों से न देखा गया हो वह परोक्ष है तथा बीती रात के मध्यकाल से (१२ बजे से) पूर्व का समय अनद्यतन (भूत) तथा आने वाली (आगामी) रात के मध्यकाल (१२ बजे) से पश्चात् का काल अनद्यतन (भविष्यत् काल) है। इस प्रकार काल के अनद्यतन और अद्यतन दो भेद है, जो कि भविष्यत् एवं वर्त्तमान रूप में दो प्रकार का है।[2117]

कौण्डभट्ट भाष्यकार के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि क्रमिक अनेक व्यापार के कारण क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि अवयव उत्पत्ति के दूसरे क्षण में शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, अतः वे पिण्डीभूत नहीं हो सकते। इस प्रकार क्रिया इन्द्रियों से परे (अतीन्द्रिय) है, इसलिए 'परोक्षे' विशेषण किसी क्रिया का व्यावर्तक नहीं हो सकता, फिर क्रिया का दर्शन कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि क्रिया पिण्ड के रूप में भले ही न दिखाई जा सके, परन्तु "एक – एक अवयव के द्वारा साक्षात् कर रहा हूँ" इस प्रतीति का विषय तो है ही। नहीं तो "पश्य, मृगो धावति (देखो, मृग दौड रहा है)" इस वाक्य में धावन-क्रिया दर्शन की कर्म मानी गई है, अब कैसे होगी?[2118] व्यापार में लगे हुए क्रिया के अनुकूल साधन कर्त्ता

[2113]. "प्रारब्धापरिसमाप्तत्वं, भूतभविष्यद्भिन्नत्वं वा वर्त्तमानत्वम्"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ.१२२॥

[2114]. "पचति, इत्यादावधिश्रयणाद्यधःश्रयणान्ते मध्ये तदस्तीति भवति लट्प्रयोगः"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः॥

[2115]. "आत्माऽस्ति, पर्वताः सन्ति इत्यादौ तत्तत्कालिकानां राज्ञां क्रियाया अनित्यत्वात् तद्विशिष्टस्योत्पत्त्या-दिकमादाय वर्त्तमानत्वमूह्यम्। उक्तं हि भाष्ये – "इह भूतभविष्यद्वर्त्तमानानां राज्ञां क्रियास्तिष्ठते-रधिकरणम् इति"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः॥

[2116]. "इति वाक्यपदिये च। एवं 'तम आसीत्' 'तुच्छेनाभ्यपिहितं यदासीत्' 'अहमेकः प्रथममासम्, वर्त्तामि च, भविष्यामि च' इत्यादौ श्रुतयोऽपि योज्याः"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः॥

[2117]. "लिडर्थमाह – परोक्षे इति। परोक्षे लिट् (पा.सू. – ३।२।११५) इति सूत्रात्....."।
वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ. – १२६॥

[2118]. "न च क्रिया नामेयमत्यन्तापर.....न स्यादिति प्रतिभाति"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ.१२७॥

आदि कारक, जो काम करते हुए नहीं देखे गये हों तो उन्हीं का परोक्ष होना 'परोक्षे लिट्' सूत्र में परोक्ष माना गया है।[2119] लिट्-लकार की संरचना निम्न प्रकार है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	बभूव	बभूवतुः	बभूवुः
मध्यमपुरुष	बभूविथ	बभूवथुः	बभूव
उत्तमपुरुष	बभूव	बभूविव	बभूविम

५.१.१.३.लुट् लकार –

अनद्यतन भविष्यत्काल (आगामी रात्रि के मध्यकाल के पश्चात् का समय) में लुट् लकार होता है, यह परिभाषा आचार्य पाणिनि ने *अनद्यतने लुट्*[2120] के माध्यम से दी है। जैसे – श्वो भविता (कल होगा)।[2121] लुट्-लकार की संरचना निम्न प्रकार है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भविता	भवितारौ	भवितारः
मध्यमपुरुष	भवितासि	भवितास्थः	भवितास्थ
उत्तमपुरुष	भवितास्मि	भवितास्वः	भवितास्मः

५.१.१.४.लृट् लकार –

लृट् लकार सामान्य भविष्यत्काल में होता है जिसको आचार्य पाणिनि द्वारा *लृट् शेषे च*[2122] सूत्र के माध्यम से कहा गया है। जैसे – घटो भविष्यति। भविष्यत् किसे कहते है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कौण्डभट्ट कहते है – "वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगिसमयोत्पत्तिमत्त्वम्" अर्थात् वर्त्तमान जो प्रागभाव, उसका प्रतियोगी जो समय, वह है उत्पत्ति का अधिकरण जिसका, वह क्रिया भविष्यत् है।[2123] लृट्-लकार की संरचना निम्न प्रकार है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति
मध्यमपुरुष	भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ
उत्तमपुरुष	भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः

५.१.१.५.लेट् लकार –

लेट् लकार वेद में होता है जिसको आचार्य पाणिनि द्वारा *"लिङर्थे लेट्" (अष्टा. – ३।३।१३)* सूत्र के माध्यम से लिङ् के अर्थ में कहा है। लिङ् लकार का अर्थ – विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और

[2119]. "व्यापाराविष्टानां क्रियानुकूलसाधनानामेवात्र पारोक्ष्यं विवक्षितमतो नोक्तदोषः। "अयं पपाच"..... वदन्ति"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, सुबोधिनी हिन्दीव्याख्या , पृ.१२७॥

[2120]. अष्टा. – ३।२।१५॥

[2121]. "लुडर्थमाह – श्वो भाविनीति। अनद्यतने भाविनीत्यर्थः.....इत्यादौ"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः॥

[2122]. अष्टा. – ३।३।१३॥

[2123]. "लृडर्थमाह – भविष्यतीति....."। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ.१२९॥

प्रार्थना है। इन्हीं अर्थों में लेट् लकार भी विहित है।[2124] लेट् लकार में बहुल करके सिप् प्रत्यय[2125] होता है तथा वह बहुल करके (विकल्प) णित् होता है। णित् होने से वृद्धि होती[2126]है (भू तिप्, भू सिप् तिप्, भू स् ति, भौ इ स् ति)।

लेट् लकार को ही अट् तथा आट् का आगम[2127] (भौ इ स् ति, भावि स अ ति) तथा परस्मैपदविषयक इकार का लोप विकल्प से[2128] (भाविषत्, भाविषात्, भाविषाद्, भविषद्) एवं उत्तम पुरुष के सकार का लोप होता है[2129]। लेट्-लकार की संरचना निम्न प्रकार है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भाविषति, भाविषाति, भाविषत्, भाविषात्, भाविषद्, भाविषाद्, भविषति, भविषाति, भविषत्, भविषात्, भविषद्, भविषाद्, भवति, भवाति, भवत्, भवात्, भवद्, भवाद्	भाविषतः, भाविषातः, भविषतः, भविषातः, भवतः, भवातः	भाविषन्ति, भाविषान्ति, भाविषन्, भाविषान्, भविषन्ति, भविषान्ति, भविषन्, भविषान्, भवन्ति, भवान्ति, भवन्, भवान्
मध्यमपुरुष	भाविषसि, भाविषासि, भाविषः, भाविषाः, भविषसि, भविषासि, भविषः, भविषाः, भवसि, भवासि, भवः भवाः	भाविषथः, भाविषाथः, भविषथः, भविषाथः, भवथः, भवाथः	भाविषथ, भाविषाथ, भविषथ, भविषाथ, भवथ, भवाथ
उत्तमपुरुष	भाविषामि, भाविषाम्, भविषामि, भविषाम्, भवामि, भवाम्	भाविषाव, भाविषावः, भविषाव, भविषावः, भवाव, भवावः	भाविषाम, भाविषामः, भविषाम, भविषामः, भवाम, भवामः

५.१.१.६.लोट् लकार –

लोट् लकार विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न, प्रार्थना और आशीर्वाद देने के अर्थों में होता है जिसको आचार्य पाणिनि ने *"लोट् च" (अष्टा. – ३।३।१६२)* तथा *"आशिषि लिङ्लोटौ" (अष्टा. ३।३।१७३)* सूत्र के माध्यम से इसके अर्थ को कहा है। जैसे – "भवतु ते शिवप्रसादः"(तुम्हें शिव का प्रसाद प्राप्त हो)। इस प्रकार लेट् और लोट् का वही अर्थ है जो लिङ् लकार का है। लिङ् लकार के व्याख्यान में इनके अर्थ पर पुनः प्रकाश डाला जायेगा।[2130] लोट्-लकार की संरचना निम्न प्रकार है -

---

[2124]. "लेडर्थमाह – विध्यादाविति.....". वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ. – १३०॥

[2125]. "सिब् बहुलं लेटि"। अष्टा. – ३।१।३४, "सिब् बहुलं णिद्वक्तव्यः"।

[2126]. "अचो ञ्णिति"। अष्टा. – ७।२।११५॥

[2127]. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. – ३।४।९४॥

[2128]. "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु"। ३।४।९७॥

[2129]. "स उत्तमस्य"। अष्टा. – ३।४।९७॥

[2130]. "लोडर्थमाह – प्रार्थनेति....."। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ. – १३०॥

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भवतु, भवतात्	भवताम्	भवन्तु
मध्यमपुरुष	भव, भवतात्	भवतम्	भवत
उत्तमपुरुष	भवानि	भवाव	भवाम

५.१.२.ङित् लकार –

ङकार की इत् संज्ञा वाले प्रत्यय ङित् कहलाते है।[2131] ङित् लकारों की संख्या चार है – लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्। इनमें लङ् अनद्यतन भूत में, लिङ् प्रेरणाद्यर्थों में, लुङ् सामान्यभूत में तथा क्रिया की अनिष्पत्तिगम्यमान होने पर भूतकाल और भविष्यकाल में लृङ् लकार होता है - *ह्यो भूते प्रेरणादौ च भूतमात्रे लङादयः। सत्यां क्रियातिपत्तौ च भूते भाविनि लृङ् स्मृतः॥*[2132]

५.१.२.१.लङ् लकार – लङ् लकार अनद्यतन भूतकाल में होता है जिसको आचार्य पाणिनि द्वारा "अनद्यतने लङ्" (अष्टा. – ३।१।१११) सूत्र के माध्यम से कहा गया है। जैसे – "अस्य पुत्रोऽभवद्" (इसके पुत्र हुआ था)।[2133] लङ् लकार की संरचना निम्न प्रकार है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
मध्यमपुरुष	अभवः	अभवतम्	अभवत
उत्तमपुरुष	अभवम्	अभवाव	अभवाम

५.१.२.२.लिङ् लकार –

लिङ् लकार प्रेरणाद्यर्थों में होता है जिसको आचार्य पाणिनि द्वारा *विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (अष्टा. – ३।३।१६१)* सूत्र के माध्यम से कहा गया है। विधि = प्रेरणा, यह नौकर अथवा अपने से छोटे को दी गई आज्ञा है, – वैदिक - स्वर्गकामो यजेत, लौकिक - जलमाहर। निमन्त्रण = अपने समान या अपने से उत्तम व्यक्ति के लिए भोजन-हेतु प्रवृत्तिप्रयोजक (काम में लगा देने वाला) जो व्यापार किया जाता है, उसे निमन्त्रण कहते है। जैसे – आवश्यक कार्य श्राद्ध या दूसरे इसी प्रकार के सांस्कृतिक कार्य आदि के अवसर पर दौहित्र को भोजन हेतु बुलाना – इह भुञ्जीत भवान् (आज आप हमारे यहाँ भोजन करें)। आमन्त्रण = काम करने वाले (आने वाले) से उसकी इच्छा को स्वतन्त्रता देते हुए काम करने की अनुमति देते हुए निवेदन करना ही आमन्त्रण है – इहासीत् भवान् (आप यहाँ बैठें)। अधीष्ट = सत्कारपूर्वक व्यापार ही अधीष्ट है – पुत्रमध्यापयेद् भवान् (आप हमारे पुत्र को पढाएँ) यहाँ सम्मानपूर्वक अध्यापन आदि व्यापार के लिए प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार ही अधीष्ट का पदार्थ है। सम्प्रश्न = किं भोः, वेदमधीयीय उत तर्कम्? (क्यों जी, हम वेद पढें या तर्कशास्त्र?) इस प्रकार यह कार्य करें या नहीं? यह निश्चय दूसरे के द्वारा करना ही सम्प्रश्न है। प्रार्थना = "स्वाभिलषित वस्तु दानादौ स्वीयेच्छाबोधनम्"

[2131]. "हलन्त्यम्"। अष्टा. – १।३।३॥

[2132]. वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ. – १३१॥

[2133]. "लङर्थमाह – ह्यो भूत इति। .....इत्यादि"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ. – १३१॥

अपनी मनचाही वस्तु दूसरे से प्राप्त करने के लिए अपनी इच्छा उसे बताना प्रार्थना है – "भो! भोजनं लभेय" (भैया! हमें भोजन मिले)।[2134]

ह्यो भूते प्रेरणादौ.....(कारिका - २३) में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से *"हेतुहेतुमतोर्लिङ्" (अष्टा. – ३।३।१५६)* व *"आशिषि लिङ्लोटौ" (अष्टा. – ३।३।१७३)* सूत्रों में उक्त हेतु – हेतुमद्भाव को ग्रहण किया गया है। जैसे – यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयेद् (जो ब्राह्मण को मारने की धमकी दे, लाठी – डण्डा उठाए या आँख दिखाए, उसको सौ रुपये दण्ड की यातना दिलाई जाय)।[2135] लिङ्-लकार की संरचना निम्नलिखित है -

विधिलिङ् -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः
मध्यमपुरुष	भवेः	भवेतम्	भवेत
उत्तमपुरुष	भवेयम्	भवेव	भवेम

आशीर्लिङ् -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	भूयात्	भूयास्ताम्	भुयासुः
मध्यमपुरुष	भूयाः	भूयास्तम्	भूयास्त
उत्तमपुरुष	भूयासम्	भूयास्व	भूयास्म

५.१.२.३.लुङ् लकार –

लुङ् लकार सामान्य भूतकाल में होता है जिसको आचार्य पाणिनि द्वारा *लुङ् (अष्टा. – ३।२।११०)* सूत्र के माध्यम से कहा गया है, जो कि *भूते (अष्टा. – ३।२।८४)* सूत्र के अधिकार क्षेत्र में है। भूत की परिभाषा में कौण्डभट्ट कहते हैं कि *"विद्यमानध्वंसप्रतियोगित्वं भूतत्वम्"* - विद्यमान जो ध्वंस अभाव, उस अभाव का प्रतियोगी घट हुआ (घटोऽभूत्), उस घट में जो आश्रित उत्पत्ति आदि ,उसके अनुकूल व्यापार।[2136] लुङ्-लकार की संरचना निम्नलिखित है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	अभूत्	अभूताम्	अभूवन्
मध्यमपुरुष	अभूः	अभूतम्	अभूत

[2134]. "लिङर्थमाह – प्रेरणादाविति, "विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्" (पा.सू. – ३।३।१६१) इति सूत्रात्। तत्र विधिः = प्रेरणम्, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम्। निमन्त्रणम्= नियोगकरणम्, आवश्यके (श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्) प्रेरणेत्यर्थः। आमन्त्रणम् = कामाचारानुज्ञा। अधीष्टः = सत्कार-पूर्वको व्यापारः। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, दर्पण (संस्कृत) सुबोधिनी (हिन्दी) सव्याख्या पृ.१३१॥

[2135]. "आदिना 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' (पा.सू. – ३।३।१५६), आशिषि लिङ्लोटौ (पा. सू. – ३।३।१७१) इति सूत्रोक्ता.....इति यथा"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ.१४४॥

[2136]. "लुङर्थमाह – भूतमात्र इति – भूतसामान्ये इत्यर्थः।..... विद्यमानध्वंसप्रतियोगी घटाभिन्नाश्रयक उत्पत्त्याद्यनुकूलो व्यापार इति बोधः .....इत्यादि। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ. – १४४॥

उत्तमपुरुष	अभूवम्	अभूव	अभूम

५.१.२.४.लृङ् लकार –

क्रिया की असिद्धि प्रतीत होने पर भूत और भविष्यत् दोनों ही क्रियाओं के कारण-कार्य-सम्बन्ध कहने में लृङ् लकार होता है। "लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ" (अष्टा. – ३।३।१३९) यह सूत्र इसी अर्थ को बतलाता है। लिङ् लकार के होने में (निमित्तकारण) कार्य-कारण रूप क्रियाओं में आपसी सम्बन्ध ही कारण है। जैसे – *"सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् सुभिक्षमभविष्यत्", "वह्निश्चेत् प्राज्वलिष्यद् ओदनमपक्ष्यद्"* (यदि अच्छी वृष्टि होगी तो अन्न होगा (सुकाल होगा), यदि आग जली होती तो भात पकाया गया होता)। इनका शाब्दबोध होगा *"वह्न्यभिन्नाऽऽश्रयकप्रज्वलनानुकूलव्यापाराभावप्रयोजन ओदनाभिन्नाश्रयकविक्लित्त्यनुकूलव्यापारा-भावः"* (अग्नि के आश्रित ज्वलन क्रिया के अभाव के कारण से ओदनाश्रित विक्लित्ति के जनक व्यापार का अभाव)।[2137] लृङ्-लकार की संरचना निम्नलिखित है -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	अभविष्यत्	अभविष्यताम्	अभविष्यन्
मध्यम पुरुष	अभविष्यः	अभविष्यतम्	अभविष्यत
उत्तम पुरुष	अभविष्यम्	अभविष्याव	अभविष्याम

५.१.३.पाणिनि-प्रोक्त लकारार्थ-मीमांसा -

जब अपवादस्वरूप में लट्-लकार वर्तमानकाल के स्थान में भूतकाल का अर्थ दे तब इन्हीं अपवादों का अध्ययन "लकारार्थ-प्रक्रिया" नामक शीर्षक के अन्तर्गत करते हैं। उदाहरणार्थ लट्-लकार वर्तमानकाल में होता है, परन्तु *"यावत्पुरानिपातयोर्लट्"*[2138] सूत्र से यावत् और पुरा के योग में भविष्यत्काल में होता है। यथा – पुरा भुङ्क्ते इति। पाणिनि ने इसका वर्णन तृतीयाध्याय में किया है जिसको यहाँ काल के आधार पर विभाजित किया जा जा रहा है -

५.१.३.१.भूतकाल में उक्त प्रत्यय –

- अनद्यतन भूतकाल में अभिज्ञानवचन (स्मृति को कहने वाला कोई शब्द) उपपद हो तो धातु से प्रत्यय होता है – (क) उपर्युक्त विषय में लृट् प्रत्यय (यह लङ् का अपवाद है), – अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः। स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः।[2139] परन्तु यत् शब्द सहित होने पर लृट् प्रत्यय नहीं होता, – अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु अवसाम।[2140] तथा यदि प्रयोक्ता साकाङ्क्ष हो तो, यत् का प्रयोग हो या न हो तो भी लृट् प्रत्यय विकल्प से होता है, जैसे – अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः तत्रौदनं भोक्ष्यामहे। स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः तत्र सक्तून् पास्यामः। यत् के प्रयोग में भी - अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः तत्रौदनं भोक्ष्यामहे।[2141]

[2137]. "लृङर्थमाह – सत्यामिति। क्रियायाः अतिपत्तिः = अनिष्पत्तिस्तस्यां.....इति शाब्दबोधः"। वै.भू.सा. – लकारार्थनिर्णयः, पृ. – १४५॥

[2138]. अष्टा. – ३।३।४॥

[2139]. "अभिज्ञावचने लृट्"। अष्टा. – ३।२।११२॥

[2140]. "न यदि"। अष्टा. – ३।२।११३॥

[2141]. "विभाषा साकाङ्क्षे"। अष्टा. – ३।२।११४॥

- अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में निम्न अर्थ में धातु से प्रत्यय होता है - ह व शश्वत् शब्द उपपद हों तो लङ् और लिट्, – इति हाकरोत्। इति ह चकार। शश्वदकरोत्। शश्वत् चकार।[2142] समीपकालिक प्रष्टव्य में लङ् तथा लिट्, – देवदत्तोऽगच्छत् किम्? देवदत्तो जगाम किम्?[2143] स्म शब्द उपपद रहते लट् प्रत्यय (लिट् प्राप्त था लट् विधान कर दिया) – देवदत्त यजते स्म।[2144]
- अपरोक्ष अनद्यतन भूतकाल में धातु से स्म उपपद रहते लट् होता है, पूर्व नियम के अनुसार परोक्ष भूतकाल में लट् प्राप्त था यहाँ अपरोक्ष में भी विधान कर दिया है, – पिता मे ब्रवीति स्म।[2145]
- पृष्टप्रतिवचन (पूछे जाने पर जो उत्तर दिया जाये) अर्थ में धातु से ननु शब्द उपपद रहते सामान्य भूतकाल में लट् प्रत्यय होता है (सामान्य भूतकाल में लुङ् प्राप्त था, लट् विधान कर दिया है), जैसे – अकार्षीः कटं देवदत्त? ननु करोमि भोः।[2146] तथा इसी अर्थ में धातु से न तथा नु शब्द उपपद रहते भी सामान्य भूतकाल में विकल्प से लट् प्रत्यय होता है (सामान्य भूतकाल में लुङ् प्राप्त था, लट् विधान कर दिया है) पक्ष में लुङ् भी, – अकार्षीः कटं देवदत्त? न अथवा नु करोमि भोः। नाकार्षम्, न्वकार्षम्।[2147]
- स्म शब्द रहित धातु से पुरा शब्द उपपद रहते अनद्यतन भूतकाल में लुङ् प्रत्यय विकल्प से होता है और पक्ष में लट् भी। जैसे – रथेनायं पुराऽयासीत् (लुङ्)। रथेनायं पुरा याति। पक्ष में – रथेनायं पुराऽयात् (लङ्) रथेनायं पुरा ययौ (लिट्)।[2148]

लिङ् का निमित्त हेतुहेतुमत् आदि हो, तो क्रियातिपत्ति होने पर भूतकाल में धातु से लृङ् प्रत्यय होता है, नियम लिङ्-निमित्ते लृङ्....(अष्टा. – ३।३।१३९) से भविष्यत्काल में ही लृङ् प्राप्त था, यहाँ भूतकाल में भी विधान कर दिया है। जैसे – दृष्टो मया भवत्पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः, अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत्, तदा अभोक्ष्यत, न तु भुक्तवान् अन्येन पथा स गतः।[2149] इसके अतिरिक्त *उताप्योः ...(अष्टा.३।३।१५२)* से पूर्व सभी सूत्रों में लिङ् का निमित्त होने पर क्रिया की अतिपत्ति में भूतकाल में विकल्प से लृङ् प्रत्यय होता है।[2150] *विभाषा कथमि लिङ् च (अष्टा. – ३।३।१४३)* सूत्र में लिङ् का विधान है। अतः यहाँ प्रकृत सूत्र का अधिकार होने से पक्ष में भूतकाल क्रियातिपत्ति विवक्षा होने पर लृङ् भी हो गया। जहाँ लिङ् का सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ इस सूत्र का अधिकार नहीं बैठेगा।

उपर्युक्त विवरण को निम्न तालिका के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है -

क्रम	**निमित्त/ उपपद**	**लकार**	**काल**
१.	अभिज्ञानवचन	लृट्	अनद्यतन भूतकाल
२.	यत्+अभिज्ञानवचन	लङ्	अनद्यतन भूतकाल

[2142]. "ह्यश्वतोर्लङ् च"। अष्टा. – ३।२।११६॥

[2143]. "प्रश्ने चासन्नकाले"। अष्टा. – ३।२।११७॥

[2144]. "लट् स्मे"। अष्टा. – ३।२।११८॥

[2145]. "अपरोक्षे च"। अष्टा. – ३।२।११९॥

[2146]. "ननौ पृष्टप्रतिवचने"। अष्टा. – ३।२।१२०॥

[2147]. "नन्वोर्विभाषा"। अष्टा. – ३।२।१२१॥

[2148]. "पुरि लुङ् चास्मे"। अष्टा. – ३।२।१२२॥

[2149]. "भूते"। अष्टा. – ३।३।१४०॥

[2150]. "वोताप्योः"। अष्टा. – ३।३।१४१॥

३.	साकाङ्क्ष= अभिज्ञान, यत्+अभिज्ञान	लृट्, लङ्	अनद्यतन भूतकाल
४.	ह, शश्वत्	लङ्, लिट्	अनद्यतन परोक्ष भूतकाल
५.	आसन्नकाल प्रश्न	लङ्, लिट्	अनद्यतन परोक्ष भूतकाल
६.	स्म	लट्	अनद्यतन परोक्ष भूतकाल
७.	स्म	लट्	अनद्यतन अपरोक्ष भूत.
८.	पृष्टप्रतिवचन = ननु	लट्	सामान्य भूतकाल
९.	पृष्टप्रतिवचन = न,नु	लट् अथवा लुङ्	सामान्य भूतकाल
१०.	पुरा	लुङ् अथवा लट्	अनद्यतन भूतकाल
११.	हेतुहेतुमत्	लृङ्	भूतकाल

५.१.३.२.भविष्यत्काल में उक्त प्रत्यय –

- भविष्यत्काल में धातु से लट् प्रत्यय होता है - यावत् एवं पुरा निपात उपपद हों – यावद् भुङ्क्ते। पुरा भुङ्क्ते।[2151] कदा तथा कर्हि उपपद हों तो लट् विकल्प से – कदा भुङ्क्ते, कदा भोक्ष्यते, कदा भोक्ता।[2152] लिप्सा गम्यमान होने पर किंवृत्त उपपद हों तो लट् प्रत्यय विकल्प से – कं कतरं कतमं वा भवान् भोजयति, भोजयिष्यति, भोजयिता वा।[2153] लिप्स्यमान (चाहे जाते हुए अभीष्ट पदार्थ से सिद्धि गम्यमान हो तो) में विकल्प से लट् प्रत्यय – यो भक्तं ददाति स स्वर्गं गच्छति।[2154] लोडर्थलक्षण में विकल्प से लट् होता है – उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व।[2155] मुहूर्त्त (दो घडी से ऊपर के भविष्यत्काल) को कहना हो तो लोडर्थलक्षण में लिङ् प्रत्यय विकल्प से, तथा लट् भी – मुहूर्त्तस्य पश्चात् उपाध्यायश्चेद् आगच्छेत् आगच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं छन्दोऽधीष्व।[2156]
- आशंसा (अप्राप्त प्रिय पदार्थ के प्राप्त करने की इच्छा को आशंसा कहते है। आशंसा सदैव भविष्यत्काल वाली होती है) गम्यमान होने पर धातु से प्रत्यय होते हैं - भूतकाल के समान, तथा वर्त्तमानकाल के समान भी विकल्प से – उपाध्याश्चेद् आगमत् आगतः आगच्छति वा, वयं व्याकरणमध्यगीष्महि अधीतवन्तोऽधीमहे वा। पक्ष में - उपाध्याश्चेदागमिष्यति, वयं व्याकरणमध्येष्यामहे।[2157] क्षिप्रवचन (शीघ्रवाची शब्द) उपपद हो तो लृट् प्रत्यय होता है – उपाध्यायश्चेत् क्षिप्रं त्वरितम् आशु शीघ्रं वागमिष्यति, क्षिप्रं त्वरितं शीघ्रं वा व्याकरणमध्येष्यामहे।[2158] आशंसावाची शब्द ही उपपद हो तो लिङ् प्रत्यय होता है। (यह नियम *आशंसायां..अष्टा.- ३।३।१३२)* का अपवाद है) – उपाध्यायश्चेदागच्छेत्, आशंसे अवकल्पये वा युक्तोऽधीयीय।[2159]

[2151]. "यावत्पुरानिपातयोर्लट्"। अष्टा. – ३।३।४ ॥

[2152]. "विभाषा कदाकर्ह्योः"। अष्टा. – ३।३।५ ॥

[2153]. "किंवृत्ते लिप्सायाम्"। अष्टा. – ३।३।६॥

[2154]. "लिप्स्यमानसिद्धौ च"। अष्टा. – ३।३।७॥

[2155]. "लोडर्थलक्षणे च"। अष्टा. – ३।३।८॥

[2156]. "लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके"। अष्टा. – ३।३।९॥

[2157]. "आशंसायां भूतवच्च"। अष्टा. – ३।३।१३२॥

[2158]. "क्षिप्रवचने लृट्"। अष्टा. – ३।३।१३३॥

[2159]. "आशंसावचने लिङ्"। अष्टा. – ३।३।१३४॥

- भूत अनद्यतनकाल में लङ् तथा भविष्यत् अनद्यतन में लुट् का विधान किया है, उनका यह निषेध सूत्र है। क्रियाप्रबन्ध (निरन्तर किसी क्रिया का अनुष्ठान) तथा सामीप्य (तुल्यजातीय काल का व्यवधान न होना) गम्यमान हो, तो धातु से अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि नहीं होती है। अनद्यतनवत् निषेध होने से सामान्य भूतकाल में कहा हुआ लुङ्, तथा सामान्य भविष्यत्काल में कहा हुआ लृट् प्रत्यय हो गया है – क्रियाप्रबन्ध – यावज्जीवं भृशमन्नम् अदात्। भृशमन्नं दास्यति। सामीप्य – येयं प्रतिपद् अतिक्रान्ता तस्यां विद्युत् अपप्तत्। वृक्षमभैत्सीत्।[2160]
- अवर प्रविभाग (इधर के भाग को लेकर मर्यादा कहनी हो तो) में भविष्यत्काल में धातु से अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि नहीं होती है। अनद्यतन भविष्यत्काल में लुट् प्रत्यय प्राप्त था, उसका ही यहाँ निषेध है, अतः सामान्य भविष्यत्काल विहित लृट् हो गया है – योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्याः तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे। तत्र सक्तून् पास्यामः।[2161]
- कालकृत मर्यादा में अवर भाग को कहना हो, तथा यदि वह काल का मर्यादाविभाग अहोरात्र (दिन-रात सम्बन्धी) न हो तो भविष्यत्काल में धातु से अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि नहीं होती, (पूर्व नियम *भविष्यति मर्यादा....(अष्टा. – ३।३।१३६)* से ही निषेध सिद्ध था, यहाँ "अनहोरात्राणाम्" में निषेध करने के लिए यह वचन है) – योऽयं संवत्सर आगामी, तत्र यदवरमाग्रहाण्याः तत्र युक्ता अध्येष्यामहे। तत्रौदनं भोक्ष्यामहे।[2162]
- भविष्यत्काल में काल के परले भाग की मर्यादा को कहना हो तथा यदि वह कालविभाग अहोरात्र-सम्बन्धी न हो तो अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि विकल्प से नहीं होती, (पूर्व नियम में कालकृत अवरप्रविभाग की मर्यादा में अनद्यतनवत् प्रत्ययविधि का निषेध था, यहाँ परप्रविभाग को कहने में विकल्प से निषेध कर दिया है) – योऽयं संवत्सर आगामी, तत्र यत् परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे। पक्ष में – अध्येतास्महे। तत्र सक्तून् पास्यामः, पातास्मो वा।[2163]
- भविष्यत्काल में लिङ् का निमित्त होने पर क्रिया की अतिपत्ति (क्रिया की सिद्धि न होने पर) हो तो धातु से लृङ् प्रत्यय होता है – दक्षिणेन चेदागमिष्यत् न शकटं पर्याभविष्यत्।[2164]

उपर्युक्त विवरण को निम्न तालिका के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है -

क्रम	निमित्त/ उपपद	लकार	काल
१.	यावत्, पुरा	लट्	भविष्यत्काल
२.	कदा, कर्हि	लट्, लृट्, लुट्	भविष्यत्काल
३.	किंवृत्त	लट्, लृट्, लुट्	भविष्यत्काल
४.	लिप्स्यमान-सिद्धि	लट्, लृट्, लुट्	भविष्यत्काल
५.	लोडर्थलक्षण	लट्, लृट्, लुट्	भविष्यत्काल
६.	लोडर्थलक्षण = मुहूर्त्त	लिङ्, लट्, लृट्, लुट्	भविष्यत्काल
७.	आशंसा	भूतवत्-लुङ्,निष्ठा-प्रत्यय। वर्त्तमानवत् – लट्।	तीनों कालों में

[2160]. "नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः"। अष्टा. – ३।३।१३५॥

[2161]. "भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन्"। अष्टा. – ३।३।१३६॥

[2162]. "कालविभागे चानहोरात्राणाम्"। अष्टा. – ३।३।१३७॥

[2163]. "परस्मिन् विभाषा"। अष्टा. – ३।३।१३८॥

[2164]. "लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ"। अष्टा. – ३।३।१३९॥

		भविष्यत्काल – लृट्।	
८.	क्षिप्रवचन	लृट्	भविष्यत्काल
९.	आशंसावचन	लिङ्	भविष्यत्काल
१०.	क्रियाप्रबन्ध, सामीप्य	क्रमशः – लृट्, लुङ्	क्रमशः- सामान्य-भविष्यत्, सामान्य-भूतकाल (अनद्यतन निषेध)
११.	मर्यादावचन	लृट्	सामान्य-भविष्यत्काल (अनद्यतन निषेध)
१२.	काल मर्यादा में अवर भाग	लृट्	सामान्य-भविष्यत्काल (अनद्यतन निषेध)
१३.	काल के पर-भाग की मर्यादा	लृट्	सामान्य-भविष्यत्काल (अनद्यतन निषेध)

५.१.३.३.कालत्रय में प्रयुक्त प्रत्यय –

ध्यातव्य है कि निम्नलिखित लकार अष्टाध्यायी में किसी कालविशेष में नहीं कहे गये हैं अतः इस सम्पूर्ण प्रकरण में कहे गये प्रत्यय भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों ही कालों में होते हैं। इस कारण विवक्षाधीन उदाहरणों के अर्थ लगा लेने चाहिए।

वर्त्तमान के समीप का जो भूत वा भविष्यत् काल, उसमें वर्त्तमान धातु से वर्त्तमानवत् प्रत्यय विकल्प करके होते हैं। अर्थात् *वर्त्तमाने लट् (अष्टा. – ३।२।१२३)* सूत्र से लेकर *उणादयो बहुलम् (अष्टा. – ३।३।१)* इस सूत्र पर्यन्त वर्त्तमानाधिकार में जिस जिस निमित्त से जो जो प्रत्यय कहे हैं, वे उन्हीं निमित्तों से वर्त्तमानसमीप भूत वा भविष्यत् काल में विकल्प करके हों। जैसे – कदा देवदत्तागतोसि? अयमागच्छामि। आगच्छन्तमेव मां विद्धि। अयमागमम्। एषोऽस्म्यागतः। कदा देवदत्त गमिष्यसि? एष गच्छामि। गच्छन्तमेव मां विद्धि। एष गमिष्यामि। गन्तास्मि।[2165]

- गर्हा (निन्दा) गम्यमान हो तो निम्न उपपद रहते धातु से तीनों कालों में प्रत्यय होता है - अपि तथा जातु उपपद रहते लट् – अपि तत्र भवान् मांसं खादति। जातु तत्र भवान् मांसं खादति, गर्हितमेतत्।[2166] कथम् शब्द उपपद रहते विकल्प करके लिङ् प्रत्यय होता है, तथा लट् भी – कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशेत्। लट् – कथं नाम भवान् ब्राह्मणं क्रोशति। पक्ष में अपने अपने काल में सभी लकार।[2167] किंवृत्त उपपद हो, तो लिङ् तथा लृट् होते हैं – को नाम यो विद्यां निन्देत्। को नाम यो विद्यां निन्दिष्यति। कतरो विद्यां निन्देत्।[2168]
- अनवक्लृप्ति (असम्भावना) अमर्ष (सहन न करना) गम्यमान हो तो धातु से तीनों कालों में प्रत्यय होते हैं - किंवृत्त उपपद न हो या किंवृत्त उपपद हो तो लिङ् तथा लृट् – नावकल्पयामि न सम्भावयामि न श्रद्दधे तत्र भवान् मांसं भुञ्जीत, मांसं भोक्ष्यते; किंवृत्त में – को नाम तत्र भवान् मांसं भुञ्जीत नावकल्पयामि।[2169] किंकिल तथा अस्ति अर्थ वाले पदों के उपपद रहते भी लृट् (अस्ति,

---

[2165]. "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा"। अष्टा. – ३।३।१३१॥

[2166]. "गर्हायां लडपिजात्वोः"। अष्टा. – ३।३।१४२॥

[2167]. "विभाषा कथमि लिङ् च"। अष्टा. – ३।३।१४३॥

[2168]. "किंवृत्ते लिङ्लृटौ"। अष्टा. – ३।३।१४४॥

[2169]. "अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि"। अष्टा. – ३।३।१४५॥

भवति विद्यते सभी शब्द अस्त्यर्थक पद हैं। किंकिल यह क्रोध का द्योतन करने अर्थ में वर्त्तमान समुदायरूप शब्द है) - न संभावयामि किंकिल भवान् धान्यं न दास्यति। अस्त्यर्थ में – न सम्भावयामि न मर्षयामि अस्ति नाम भवान् मां त्यक्ष्यति।[2170] जातु तथा यद् उपपद रहते केवल लिङ् प्रत्यय होता है, लृट् नहीं - न संभावयामि जातु भवान् धर्मं त्यजेत्, यद् भवान् धर्मं त्यजेत्। अमर्ष में – न मर्षयामि न सहे, जातु भवान् ब्राह्मणं सदाचारिणं हन्यात्, यद् भवान् ब्राह्मणं सदाचारिणं हन्यात्।[2171] यच्च, यत्र अव्यय उपपद रहते लिङ् प्रत्यय होता है। भूत क्रियातिपत्ति में पक्ष में लृङ् भी होगा - न संभावयामि यच्च भवद्विधोऽनृतं वदेत् यत्र भवद्विधोऽनृतं वदेत्।[2172]

- गर्हा गम्यमान हो, तो यच्च, यत्र अव्यय उपपद रहते धातु से तीनों कालों में लिङ् प्रत्यय होता है। भूत क्रियातिपत्ति में पक्ष में लृङ् भी होगा। जैसे – यच्च भवान् मांसं खादेत्, यत्र भवान् मांसं खादेत्, अहो गर्हितमेतत्।[2173]
- चित्रीकरण (आश्चर्य) गम्यमान हो तो धातु से तीनों कालों में प्रत्यय होते हैं – यच्च, यत्र अव्यय उपपद रहते लिङ् प्रत्यय होता है। भूत क्रियातिपत्ति में पक्ष में लृङ् भी होगा – यच्च भवान् वेदविद्यां निन्देत्, यत्र भवान् वेदविद्यां निन्देत्, आश्चर्यमेतत्, बुद्धिमान् सज्जनोऽपि सन्।[2174] यच्च, यत्र से भिन्न उपपद हो और यदि का प्रयोग न हो, लृट् – आश्चर्यं अन्धो नाम मार्गे क्षिप्रं यास्यति।[2175]
- निम्नलिखित अर्थों व उपपदों के कारण भी धातु से तीनों कालों में प्रत्यय होते हैं - उत, अपि समानार्थक उपपद हों तो लिङ् – उत कुर्यात्, अपि कुर्यात्।[2176] अपना अभिप्राय प्रकट करना गम्यमान हो तो कच्चित् का प्रयोग नहीं रहने पर – कामो मे भुञ्जीत भवान्।[2177] सम्भावना अर्थ में लिङ्, यदि अलम् शब्द का प्रयोग किये बिना उस अर्थ की प्रतीति हो रही हो – अपि गिरिं शिरसा भिन्द्यात्। पूर्ववत् अपि गिरिं शिरसा अभेत्स्यत्।[2178] यदि सम्भावनार्थक धातु उपपद रहते और यत् शब्द का योग न हो तो पूर्व कार्य विकल्प से होता है – सम्भावयामि भुञ्जीत, भोक्ष्यते वा भवान्।[2179]
- हेतु और हेतुमत् अर्थ में भविष्यत् में लिङ् होता है विकल्प से – कृष्णं नमेत् नंस्यति वा चेत् सुखं यायात् यास्यति वा।[2180]
- इच्छार्थक धातु के प्रयोग में सब लकारों की जगह लिङ् तथा लोट् होते हैं – इच्छामि, कामये, प्रार्थये भुञ्जीत भुङ्क्तां वा भवान्।[2181]

2170. "किंकिलास्त्यर्थेषु लृट्"। अष्टा. – ३।३।१४६॥

2171. "जातुयदोर्लिङ्"। अष्टा. – ३।३।१४७॥

2172. "यच्चयत्रयोः"। अष्टा. – ३।३।१४८॥

2173. "गर्हायाञ्च"। अष्टा. – ३।३।१४९॥

2174. "चित्रीकरणे च"। अष्टा. – ३।३।१५०॥

2175. "शेषे लृडयदौ"। अष्टा. – ३।३।१५१॥

2176. "उताप्योः समर्थयोर्लिङ्"। अष्टा. – ३।३।१५२॥

2177. "कामप्रवेदनेऽकच्चिति"। अष्टा. – ३।३।१५३॥

2178. "सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे"। अष्टा. – ३।३।१५४॥

2179. "विभाषा धातौ सम्भावनवचनेऽयदि"। अष्टा. – ३।३।१५५॥

2180. "हेतुहेतुमतोर्लिङ्"। अष्टा. – ३।३।१५६॥

2181. "इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ"। अष्टा. – ३।३।१५७॥

- समानकर्तृक इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहते धातु से लिङ् प्रत्यय भी होता है। जैसे – भुञ्जीय इति इच्छति।[2182]
- इच्छार्थक धातुओं से वर्त्तमान काल में विकल्प से लिङ् प्रत्यय होता है, पक्ष में लट् – इच्छेत्। इच्छति।[2183]
- प्रैष अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल अर्थ गम्यमान हों, तो मुहूर्त्त भर से ऊपर के काल को कहने में धातु से लिङ् प्रत्यय होता है तथा यथाप्राप्त कृत्यसंज्ञक एवं लोट् प्रत्यय होते हैं। जैसे – मुहूर्त्तस्य पश्चाद् भवान् ग्रामं गच्छेत्। मुहूर्त्तस्य पश्चाद् भवता खलु कटः करणीयः, कर्त्तव्यः, कार्यः, कृत्यो वा।[2184] उपर्युक्त प्रैषादि व उर्ध्वमौहूर्त्तिक में स्म शब्द उपपद रहते लोट् होता है – ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् भवान् कटं करोतु स्म, ग्रामं गच्छतु स्म।[2185] अधीष्ट (सत्कार) गम्यमान हो, तो भी स्म शब्द उपपद रहते धातु से लोट् होता है – अधीच्छामि भवान् माणवकम् अध्यापयतु। अङ्ग स्म राजन् अग्निहोत्रं जुहुधि।[2186]
- काल, समय, वेला शब्द और यत् शब्द भी उपपद हो, तो धातु से लिङ् प्रत्यय होता है। जैसे – कालो यद् भुञ्जीत भवान्। समयो यद् भुञ्जीत भवान्।[2187] शक्यार्थ गम्यमान हो, तो भी लिङ् - भवान् शत्रुं जयेत्। भवाता शत्रुर्जेतव्यः।[2188] आशीर्वादविशिष्ट अर्थ में भी लिङ् तथा लोट् होते हैं – चिरं जीव्याद् भवान्। चीरं जीवतु भवान्।[2189] माङ् शब्द उपपद हो, तो धातु से लुङ् लिङ् लोट् प्रत्यय भी होते हैं – मा कार्षीत्। लिङ् – मा वदेः। लोट् – मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (गीता – २।४७)।[2190]
- स्म शब्द उत्तर = अधिक है जिससे, उस माङ् शब्द के उपपद रहते धातु से लङ् तथा लुङ् प्रत्यय होते हैं। जैसे – मा स्म करोत्।[2191]

उपर्युक्त विवरण को निम्न तालिका के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है -

क्रम	**निमित्त/ अर्थ**	**उपपद**	**लकार**
१.	वर्तमानसामीप्य	-	वर्त्तमानवत्
२.	गर्हा	अपि, जातु	लट्
३.	गर्हा	कथम्	लिङ्, लट्
४.	गर्हा	किंवृत्त	लिङ्, लृट्
५.	अनवक्लृप्ति, अमर्ष	किंवृत्त, अकिंवृत्त वा	लिङ्, लृट्
६.	अनवक्लृप्ति, अमर्ष	किंकिल तथा अस्त्यर्थक पद	लृट्
७.	अनवक्लृप्ति, अमर्ष	जातु, यद्	लिङ्

[2182]. "लिङ् च"। अष्टा. – ३।३।१५९॥

[2183]. "इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्त्तमाने"। अष्टा. – ३।३।१६०॥

[2184]. "लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके"। अष्टा. – ३।३।१६४॥

[2185]. "स्मे लोट्"। अष्टा. – ३।३।१६५॥

[2186]. "अधीष्टे च"। अष्टा. – ३।३।१६६॥

[2187]. "लिङ् यदि"। अष्टा. – ३।३।१६८॥

[2188]. "शकि लिङ् च"। अष्टा. – ३।३।१७२॥

[2189]. "आशिषि लिङ्लोटौ"। अष्टा. – ३।३।१७३॥

[2190]. "माङि लुङ्"। अष्टा. – ३।३।१७५॥

[2191]. "स्मोत्तरे लङ् च"। अष्टा. – ३।३।१७६॥

८.	अनवक्लृप्ति, अमर्ष	यच्च, यत्र	लिङ्
९.	गर्हा	यच्च, यत्र	लिङ्
१०.	चित्रीकरण	यच्च, यत्र	लिङ्
११.	चित्रीकरण	यदि का प्रयोग न हो	लृट्
१२.	-	समानार्थक - उत, अपि	लिङ्
१३.	कामप्रवेदन	कच्चित् का प्रयोग न हो	लिङ्
१४.	सम्भावन	अलं यदि सिद्धाप्रयोग हो	लिङ्
१५.	सम्भावन	यत् पद उपपद न हो	लिङ्, लृट् वा
१६.	हेतुहेतुमत्	-	लिङ्
१७.	-	इच्छार्थक धातु	लिङ्, लोट्
१८.	-	समानकर्तृक इच्छार्थक धातु	लिङ्
१९.	वर्त्तमान काल में	इच्छार्थक धातु	लिङ्, लट् वा
२०.	प्रैष, अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल	ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक काल	लिङ्, लोट्, कृत्यप्रत्यय
२१.	प्रैष, अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल	स्म	लोट्
२२.	अधीष्ट	स्म	लोट्
२३.	काल, समय, वेला	यत्	लिङ्
२४.	शक्यार्थ	-	लिङ्, कृत्य-प्रत्यय
२५.	आशीर्वाद	-	लिङ्, लोट्
२६.	-	माङ्	लुङ्, लिङ्, लोट्
२७.	मा स्म का योग	माङ्	लङ्, लुङ्

५.१.३.४.कुछ अन्य विधान –

१. दो धातुओं के अर्थ का सम्बन्ध होने पर भिन्न काल में विहित प्रत्यय भी कालान्तर में साधु होते हैं। धातु शब्द से यहाँ धात्वर्थ का ग्रहण किया गया है। वाक्य में साध्य होने के कारण क्रिया की प्रधानता होती है, और कारकों की गौणता होती है। अतः क्रिया को कहने वाले तिङन्त की प्रधानता और सुबन्तों की गौणता होती है। सारांशरूप में कहा जा सकता है कि धात्वर्थों के सम्बन्ध में जिस काल में जो प्रत्यय उक्त हैं, उनसे भिन्न कालों में भी होते हैं। जैसे – वसन् ददर्श = यहाँ ददर्श इस मुख्य क्रिया में भूतकाल होने पर भी उसमें वस् धातु से वर्त्तमानकाल विहित (लट्) शतृ हुआ। अग्निष्टोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता। यहाँ अग्निष्टोमयाजी में यज् धातु से भूतकाल में "करणे यजः"(अष्टा. – ३।२।८५) से णिनि प्रत्यय हुआ है ("भूते" अष्टा. – ३।२।८४ की अनुवृत्ति है)। जनिता में जन् धातु से अनद्यतन भविष्यत्काल में लुट् (अष्टा. – ३।३।१५) प्रत्यय हुआ है। णिनि तथा लुट् भिन्नकालोक्त प्रत्यय है, जो कि इस सूत्र से साधु माने गये हैं।[2192]

२. क्रियासमभिहार = क्रिया का पौनःपुन्य गम्यमान हो, तो धातु से धात्वर्थ सम्बन्ध होने पर सब कालों में प्रत्यय हो जाता है, और उस लोट् के स्थान में (सब पुरुषों तथा वचनों में) हि और स्व आदेश नित्य होते हैं, तथा त ध्वम् भावी लोट् के स्थान में विकल्प से हि स्व आदेश होते हैं, पक्ष में त ध्वम् ही रहते हैं। यहाँ परस्मैपदी धातुओं के लोट् को हि आदेश तथा आत्मनेपदी धातुओं के लोट् को स्व आदेश होता है। जैसे – स भवान् लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति, तौ भवन्तौ लुनीहि लुनीहि इतीमौ लुनीतः, भूतविषय में – स भवान् लुनीहि लुनीहि इत्यलावीत्, भविष्यत् विषय में – स

[2192] . "धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः"। अष्टा. – ३।४।१ प्र.वृ. से उद्धृत॥

भवान् लुनीहि लुनीहि इति लविष्यति। स्व आदेश के विषय में – स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्येवायमधीते, भूत विषय में – स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्यध्यगीष्ट, भविष्यत् विषय – स भवान् अधीष्व अधीष्व इत्यध्येष्यते।[2193]

३. समुच्चीयमान क्रियाओं को कहने वाली धातु से लोट् प्रत्यय विकल्प से होता है, और उस लोट् के स्थान में हि और स्व आदेश होते हैं, परन्तु त ध्वम् भावी लोट् को विकल्प से हि स्व आदेश होते हैं। पक्ष में त ध्वम् की ही श्रुति होती हैं। जहाँ अनेक क्रियाओं को कहा जाये कि यह भी कर, वह भी कर, वह क्रियाओं का समुच्चय होता है। जैसे – भ्राष्ट्रमठ, मठमट, खदूरमट, स्थाल्यपिधानमट इत्येवायमटति। स्व आदेश विषय में – छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्वैत्येवायमधिते।[2194]

४. पूर्व के लोट् विधायक *क्रियासम...(अष्टा. – ३।४।२)* सूत्र में यथाविधि अर्थात् जिस धातु से लोट् विधान किया हो, पश्चात् उसी धातु का अनुप्रयोग होता है। यथा लुनीहि में लू धातु से लोट् विहित है, तो पश्चात् लुनाति का ही अनुप्रयोग होगा, पर्यायवाची 'छिनत्ति' का नहीं। जैसे – स भवान् लुनीहि लुनीहि इति लुनाति, इत्यत्र 'लुनातीति' अनुप्रयुज्यते। पर्यायवाची छिनत्तीति नानुप्रयुज्यते।[2195]

५. वेदविषय में धात्वर्थ सम्बन्ध होने पर विकल्प से लिङ्, लङ् तथा लिट् प्रत्यय होते हैं। लुङ् सामान्य भूत, लङ् अनद्यतनभूत, तथा लिट् परोक्षभूतकाल में होते हैं, परन्तु वेद में ये लकार सामान्य काल में विकल्प से हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि वेद का अर्थ समझने के लिए यह नियम महत्त्वपूर्ण है क्योंकि लुङ् लङ् लिट् लकार देखकर भूतकाल का ही अर्थ वेद में नहीं लिया जा सकता। परन्तु वर्त्तमान भविष्यत् भूत सभी अर्थ निकलते हैं। जैसे – देवो देवेभिरागमत् (ऋ. १।१।५), यहाँ वर्त्तमान में लुङ्। लङ् – शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्।[2196]

६. वेद विषय में लिङ् के अर्थ में धातु से विकल्प लेट् प्रत्यय होता है, और वह परे होता है। जैसे – धियो यो नः प्रचोदयात् (ऋ. – ३।६२।१०)। सविता धर्मं साविषत् (यजु. -९।५, १८।३०)।[2197]

[2193]. "क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः"। अष्टा. – ३।४।२॥

[2194]. "समुच्चयेऽन्यतरस्याम्"। अष्टा. – ३।४।३॥

[2195]. "यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन्"। अष्टा. – ३।४।४॥

[2196]. "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

[2197]. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥

५.२.तैत्तिरीय संहिता में लकारार्थ –

अदृशन्[2198] - भ्वादिगणपठित दृशिर् प्रेक्षणे धातु से विकल्प से अङ्[2199] होकर लुङ् लकार में सिद्ध। लुङ् लकार सदैव भूतकाल में होता है[2200]। परन्तु मन्त्रांश की व्याख्या में भाष्यकारों ने इसको वर्तमानकालिक मानकर "पश्यन्ति" अर्थ किया है[2201]। आचार्य पाणिनि के अनुसार यद्यपि लुङ् लकार सामान्य भूतकाल में होता है तथापि वेद विषय में यह लकार धात्वर्थ सम्बन्ध होने पर सामान्य काल (वर्त्तमान, भूतकाल, भविष्यकाल) में विकल्प से होता है।[2202] इसके अतिरिक्त भी भाष्यकार एक अन्य मन्त्र में इसको आशीर्वाद अर्थ में मानते है[2203] – अनेशन् जिसका अर्थ है - "नश्याः स्युः"।[2204] यह "णश अदर्शने" धातु से लुङ् लकार में अङ् आदेश[2205] व एत्व[2206] प्रक्रिया से सिद्ध है।

अध्यवोचत्[2207] - अधि-पूर्वक अदादिगणपठित वच परिभाषणे धातु से लुङ् लकार में अङ्[2208] व उम्-आगम[2209] करके निष्पन्न। इस पद की व्याख्या करते हुए भट्टभास्कर एवं सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ लोट् लकार में क्रमशः अधिब्रवीतु व वदतु माना है।[2210] लुङ् लकार सामान्यतया भूतकाल में होता है।[2211] आचार्य पाणिनि लुङ्, लङ् और लिट् लकार को वेद में अन्य कालों में भी मानते हैं। अतः यहाँ पाणिनि के अनुसार लुङ् को लोडर्थ में मानकर अर्थ करना चाहिए।[2212]

अभिसासहत्[2213] - "षह मर्षणे" धातु से सम्पन्न है जो कि भ्वादिगण व चुरादिगण दोनों गणों में पठित हैं। परन्तु इस रूप में दृष्ट अभ्यास में दीर्घ मात्र तुजादिगण[2214] में पठित को ही प्राप्त है। ऐसी स्थिति में उभयपदी चुरादिगणपठित षह मर्षणे धातु से लेट् लकार में शप् को श्लु[2215], द्वित्व[2216] व अभ्यासादि कार्य के पश्चात् यह रूप निष्पन्न है।

2198. "उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः"। तै.सं. – ४।५।१, पृ.३९४॥

2199. "इरितो वा"। अष्टा. – ३।१।५७॥

2200. "लुङ्"। अष्टा. – ३।२।११०॥

2201. तै.सं. – ४।५।१, पृ.३९४॥

2202. "छन्दसि लुङ्लङ्-लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

2203. "विज्यं धनुः कपर्दिनो.....अनेशन्नस्येषव आभुरस्य निषङ्गथिः"। तै.सं. – ४।५।१, पृ.४००॥

2204. भट्टभास्कर, तै.सं. – ४।५।१॥

2205. "पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु"। अष्टा. - ३।१।५५॥

2206. "नशिमन्योरलिट्येत्वम्"। अष्टा. – ६।४।१२० वा.१॥

2207. "अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।....॥" तै.सं. ४।५।१। पृ.३८९॥

2208. "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्"। अष्टा. – ३।१।५२॥

2209. "वच उम्"। अष्टा. – ७।३।९३॥

2210. ज्ञानयज्ञ व सायणभाष्य, तै.सं. – ४।५।१, पृ.३८९॥

2211. "लुङ्"। अष्टा. – ३।२।११०॥

2212. "छन्दसि लुङ्लङ्-लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

2213. "..विश्वा यश् चर्षणीरभ्यासा वाजेषु सासहत्..."। तै.सं. – १।३।१४, पृ.५०६॥

2214. "तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य"। अष्टा. – ६।१।७, अभ्यासदीर्घ॥

2215. "बहुलं छन्दसि"। अष्टा. – २।४।७६॥

2216. "श्लौ"। अष्टा. – ६।१।१०॥

सायणाचार्य ने इस लेट् लकार का अर्थ "अभिभवेत्" किया है[2217]। वस्तुतः लेट्-लकार लिङ् के अर्थ में होता है[2218]। यहाँ "अभिभव" अर्थ अभि उपसर्ग के कारण नहीं है क्योंकि मन्त्र के अन्य भाग में "सहन्तम्" पद मात्र का भी अर्थ "अभिभवन्तं" किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि सायणाचार्य षह् धातु से वेद में अभिभव अर्थ मानते हैं।[2219]

अभूम[2220] - क्रिया पद में लुङ् लकार है जो सामान्यतया भूतकाल में होता है[2221]। मन्त्रांश में कहा गया है कि "वयं सर्वे सोमं अपाम, तेन पानेन अमृताः देवाः अभूम[2222]"। यहाँ सोमपान के पश्चात् देवता (अमरणशील) बनना – यह एक आशंसा है। अप्राप्त प्रिय पदार्थ के प्राप्त करने की इच्छा आशंसा कहलाती है। यहाँ देवता बनने की इच्छा होना आशंसा है आशंसा सदैव भविष्यकालिक होती है। परन्तु भविष्यत्कालिक होने के पश्चात् इसमें भूतकालिक प्रत्यय हो सकता हो सकता है[2223]। अतः इस लुङ् लकार का अर्थ भाष्यकार भविष्यकाल में करते है।

असि[2224] - अदादिगणपठित "अस् भुवि" धातु से लट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन[2225]। मन्त्रांश में इस क्रियापद का अर्थ भाष्यकारों ने "भवितासि" माना है जो कि भविष्यकालिक लुट् लकार का प्रयोग है। आचार्य पाणिनि के अनुसार वर्तमानकालिक प्रत्ययों का प्रयोग वेद का अर्थ करते समय निकट के भविष्यत्काल में भी किया जा सकता है[2226]। इसी कारण वर्तमानकालिक "असि" पद का निकट भविष्यत् लुट् होगा न कि लृट्। ध्यातव्य है कि लुट् व लृट् दोनों भविष्यत्काल में होते हैं। लुट्-लकार अनद्यतन भविष्यत् में किन्तु लृट्-लकार मात्र भविष्यत् (आने वाला समय, जिसमें आने वाले वर्षों संवत्सरों का भी समावेश होता है) तथा क्रियार्थ क्रिया उपपद रहते भी होता है। आचार्य पाणिनि द्वारा उक्त यह नियम वेद विषय में न होकर सामान्य स्थिति में कहा गया है।

आनट्[2227] - स्वादिगणपठित "अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च" धातु से लङ्-लकार प्रथमपुरुष एकवचन। धातु के ङित् होने के कारण आत्मनेपद प्राप्त हुआ है[2228]। जिसको व्यत्यय के कारण परस्मैपद[2229] हो गया। धातु के स्वादिगण में पठित होने से श्नु

2217. "यः भवान् चर्षणीः मनुष्यसेना विश्वाः अस्मत्प्रतिपक्षभूताः सर्वा अभि सासहत् अभिभवेत्"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।३।१४ पृ.५०६॥

2218. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥

2219. "हे अग्ने, द्युम्नस्य अस्मदीयस्य यशसः सहन्तम् अभिभवितारं वैरिणं प्रासहा प्रसभा आ भर अस्मद्वशे समानय"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।३।१४, पृ. ५०६॥

2220. "अपाम सोममृता अभूमादर्श्म ज्योतिरविदाम....."। तै.सं. – ३।२।५। पृ. १४२॥

2221. "लुङ्"। अष्टा. – ३।२।११०॥

2222. तै.सं. -३।२।५। पृ.१४३॥

2223. "आशंसायां भूतवच्च"। अष्टा. – ३।३।१३२॥

2224. "..देवंगममसि"। तै.सं.- १।१।२। पृ.४६॥

2225. "तासस्त्योर्लोपः"। अष्टा. – ७।४।५०॥ सूत्र से सकार का लोप होता है।

2226. "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"। अष्टा. – ३।३।१३१॥

2227. "..आ यदिषे नृपतिम् तेज आनट्छुचि रेतो...."। तै.सं. – १।३।१४, पृ.५०४॥

2228. "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्"। अष्टा. – १।३।१२॥

2229. "व्यत्ययो बहुलम्"। अष्टा. – ३।१।८५॥

विकरण[2230] प्राप्त हुआ परन्तु उसको व्यत्यय के कारण श्नम् प्रत्यय हो गया[2231]। जबकि श्नम् प्रत्यय रुधादिगण[2232] पठित धातुओं से होता है। भट्टभास्कराचार्य ने आनट् का अर्थ "अश्नुते" किया है[2233] जो वर्त्तमानकाल में है। परन्तु सायणाचार्य के अनुसार इसका अर्थ भूतकालिक "व्याप्नोत्" है।[2234] जिससे ज्ञात होता है कि लङ् लकार वेद में सभी काल में सामान्यतः हो सकता है।[2235]

आपृणाति[2236] - क्र्यादिगणपठित "पृ पालनपूरणयोः" धातु से लेट् लकार में सम्पन्न। ज्ञात है कि क्रिया का यह रूप लट् लकार में भी होता है। यह क्रिया तैत्तिरीय संहिता में "काम्येष्टियाज्यापुरोनुवाक्याः" मन्त्रों में पठित हैं जो कि प्रपाठकों के अन्त्यानुवाकों में आते हैं। ये प्रायशः विधि-विधान सम्बन्धित मंत्र हैं तथा विध्यर्थ में लिङ्-लकार होता है। भट्टभास्कर ने इसका अर्थ "आभिमुख्येन पूरयतु, अखण्डितमापादयतु[2237]" तथा सायणाचार्य ने "हे देवा.....आपूरयतु[2238]" किया है अर्थात् दोनों भाष्यकारों ने लिङर्थ में इस पद को माना है। इससे ज्ञात होता है कि यह पद वर्त्तमानकाल में न होकर लेट् लकार में है क्योंकि लेट्-लकार भी लिङर्थ में होता है[2239]।

उपचिन्वन्ति[2240] - उप उपसर्गपूर्वक स्वादिगणपठित "चिञ् चयने" धातु से लट् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में यणादेश होकर[2241] सिद्ध। स्वादिगण में श्नु विकरण होता है[2242] इस मन्त्रांश की व्याख्या करते हुए भट्टभास्कर ने कहा है – "यानि कपालानि घर्मे अङ्गारे वेधसः उपचिन्वन्ति उपहितवन्तः" यहाँ उपचिन्वन्ति का अर्थ भट्टभास्कर ने उप+धा धातु से भूतकालिक क्तवतु प्रत्यय[2243] में किया है[2244] भूतकाल में अर्थ से तात्पर्य है कि वर्त्तमानकालिक क्रिया भी भूतकाल में अर्थ को सम्पादित करती है। इसके अतिरिक्त भूतकालिक अर्थ से अन्य तात्पर्य कृत (किये हुए का) का विध्यर्थ (लोट्) से समर्थन करना है शेष मन्त्रांश में लोट् लकार में "तानि कपालानि

2230. "स्वादिभ्यो श्नुः"। अष्टा. – ३।१।७३॥

2231. "व्यत्ययो बहुलम्"। अष्टा. – ३।१।८५॥

2232. "रुधादिभ्यो श्नम्"। अष्टा. – ३।१।७८॥

2233. "..निषिक्तं वृष्टं रेतः उदकम् आनट् अश्नुते व्याप्नोति, इषे अन्नाय...."। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – १।३।१४, पृ.५०४॥

2234. "यत् तेजः इषे अभीष्टसिद्धये नृपतिं यजमानपालकमग्निम् आ समन्तात् आनट् व्याप्नोत्"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।३।१४, पृ.५०४॥

2235. "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"। अष्टा. - ३।४।६॥

2236. "..अग्निष्टद् विश्वमा पृणाति विद्वान् येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति"। तै.सं.१।१।१४, पृ.२१५॥

2237. ज्ञानयज्ञभाष्य तै.सं. – १।१।१४, पृ.२१५॥

2238. सायणभाष्य तै.सं. – १।१।१४, पृ.२१५॥

2239. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥

2240. "..यानि घर्मे कपालान्युपचिन्वन्ति वेधसः....."। तै.सं. १।१।७। पृ.१०८॥

2241. "हुश्नुवोः सार्वधातुके"। अष्टा. – ६।४।८७॥

2242. "स्वादिभ्यो श्नुः"। अष्टा. – ३।१।७३॥

2243. "निष्ठा"। अष्टा. – ३।२।१०२॥

2244. "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"। अष्टा. – ३।३।१३१॥

इन्द्रवायू वि मुञ्चताम्[2245]" कहा गया है। क्योंकि इस सम्पूर्ण मन्त्रांश को सायणाचार्य याग समाप्ति में पठनीय मानते हैं[2246]।

उपसेदिम[2247] - भ्वादिगणपठित "षद्लृ विशरणगत्यवसादानेषु" परस्मैपदी धातु से लिट् लकार को उत्तमपुरुष बहुवचन में द्वित्व, एत्व तथा अभ्यासलोप होकर[2248] सम्पन्न। सायणाचार्य इस परोक्ष भूतकालिक लिट् लकार के "उपसेदिम" का अर्थ "उपसीदामः" करते हैं[2249], जो कि लट्-लकार में है। ध्यातव्य है कि लट्-लकार वर्त्तमानकाल में होता है। जिससे ज्ञात होता है कि भूतकालिक लिट् का प्रयोग छन्दविषय में वर्तमान काल में भी होता है।[2250]

कल्पयाति[2251]- "कृपु सामर्थ्ये" धातु से लेट्-लकार में सम्पन्न। यह धातु दो गणों (भ्वादिगण व चुरादिगण) में पठित है। कृपु की ही विकृति कल्प् है। जिसमें कृपु धातु के ऋकारविशिष्ट रेफ को लकारादेश होता है।[2252] इसके पश्चात् ऋकार में जितना रेफ है उसको लकार होकर "क्लृप्" धातु का निर्माण होता है। पुनः क्लृप् धातु के लघु उपधा को गुण होकर[2253] "कल्प्" धातु का निर्माण होता है। चुरादिगण में पठित होने के कारण इस धातु से णिच् प्रत्यय एवं आडागम[2254] होता है[2255]। भट्टभास्कर का मानना है कि "ऋतुभिः कालावयवैः पौर्णमास्यादिभिः युष्मान् देवान् अग्न्यादीन् कल्पयाति। देवशब्दवाच्यहविर्लाजाद्यैः (दीन् यैः) कल्पयति कल्पयितुमर्हति[2256]"। ध्यातव्य है कि लेट्-लकार लिङ् के अर्थ में होता है[2257]। परन्तु लिङ्-लकार कदाचित् योग्यता अर्थ में होता है[2258]। अतः भट्टभास्कर ने "कल्पयाति" पद का अर्थ "कल्पयितुमर्हति" किया है।

जुना:[2259] - यह पद "जु" धातु से लुङ्-लकार[2260] मध्यमपुरुष एकवचन में श्ना-प्रत्यय का व्यत्यय करके सम्पन्न है। इसमें अट् का अभाव रहता है[2261]। पाणिनीय धातु पाठ में परिगणित नहीं है अपितु अष्टाध्यायी के एक सूत्र में गत्यर्थ में प्रयुक्त एक सौत्र

2245. ज्ञानयज्ञभाष्य तै.सं. – १।१।७॥

2246. "अथ मन्त्रो यद्यपि याग समाप्तौ पठनीयस्तथाऽपि कपालप्रसङ्गाद्...."। सायणभाष्य, तै.सं.१।१।७। पृ.१०७॥

2247. "सुप्रजस्त्वा वयँ सुपत्नीरुप सेदिम.."। तै.सं.१।१।१० पृ.१४१॥

2248. "लिटि धातोरनभ्यासस्य"। अष्टा. ६।१।८, "अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि"। अष्टा. – ६।४।१२०॥

2249. ज्ञानयज्ञभाष्य - "ईदृश्यः वयं हे अग्ने, त्वाम् उपसेदिम उपसीदामः"। तै.सं.-१।१।१०, पृ.१४१॥
सायणभाष्य – "हे अग्ने, वयं त्वामुपसीदामः।....."। तै.सं. – १।१।१०, पृ.१४१॥

2250. "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

2251. "..अग्निष्टद् विश्वमा पृणाति विद्वान् येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति"। तै.सं.१।१।१४, पृ.२१५॥

2252. "कृपो रो लः"। अष्टा. ८।२।१८॥

2253. "पूगन्तलघूपधस्य च"। अष्टा. – ७।३।८६॥

2254. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. – ३।४।९४॥

2255. "सत्यापपाशरूपवीणातुलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्"। अष्टा. – ३।१।२५॥

2256. ज्ञानयज्ञभाष्य – तै.स. – १।१।१४, पृ.२१६॥

2257. "लिङर्थे लेट्"। अष्टा. – ३।४।७॥

2258. "अर्हे कृत्यतृचश्च"। अष्टा. ३।३।१६९॥

2259. "यमग्ने पृत्सु मर्त्यभावो वाजेषु यं जुनाः।....."। तै.सं.१।३।१३, पृ.४८५॥

2260. "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

2261. "बहुलं छन्दस्यमाङ् योगेऽपि"। अष्टा. – ६।४।७५॥

धातु है[2262]। सायणभाष्य में इसका अर्थ "गच्छसि" किया गया है[2263]। ध्यातव्य है कि लुङ् लकार वेद विषय में अन्य कालों का भी वाचक होता है[2264]। अतः यहाँ लङ्-लकार वर्त्तमानकालिक है।

दहति स्म[2265] - "दहति" पद भ्वादिगणपठित दह भस्मीकरणे धातु से लट् लकार। "वर्त्तमाने लट्[2266]" पाणिनि सूत्र के अनुसार लट् का प्रयोग वर्तमान काल में होता है। स्म चादिगण में पठित निपात है[2267]। लट्-लकार वर्त्तमानकाल में होने के पश्चात् भी, यदि उस लट् का योग स्म् के साथ है तो वह लट् भूतकाल में होता है। अतएव भट्टभास्कराचार्य के अनुसार मन्त्रांश का अर्थ है - बिना परशु से छिन्न, नहीं जला (अस्वादु होने के कारण, तथा ऋषि ने स्वादु बनाया)[2268]। पाणिनि के अनुसार धातु से स्म शब्द उपपद हो तो वह क्रिया परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में होती है[2269]। इस प्रकार "दहति स्म" का अर्थ "ददाह" होगा।

पुरा भवति[2270] - भू सत्तायाम् धातु से वर्त्तमानकालिक लट् लकार में सम्पन्न। भाष्यकार वर्त्तमानकालिक इस क्रिया का अर्थ भूतकाल में मानते हैं "आसीत्"[2271]। ध्यातव्य है कि मन्त्रांश में प्रयुक्त पुरा उपपद होने से वर्त्तमानकाल में क्रिया होने के बाद भी भूतकालिक अर्थ प्रदान करती है।[2272] क्योंकि पुरा उपपद क्रिया को भूतकालिक अर्थ प्रदान करता है। अतः मन्त्रांश का अर्थ भूतकाल में होगा।

पुरा उपयन्ति स्म[2273]- भ्वादिगण में पठित परस्मैपदी "यम उपरमे" (यच्छति) धातु से लट् लकार के बहुवचन में सम्पन्न इस रूप में शप् का लुक् होता है जिससे छकारादेश[2274] का निषेध होता है। ज्ञानयज्ञभाष्य में इस मन्त्रांश का अर्थ "एतेन विज्ञानेन पुण्यापुण्यज्ञानोपायेन पुण्यतां सम्यक्ज्ञात्वा दीर्घसत्रं वर्षशतिकं वर्षसाहस्रिकं च ऋषयः वै ह स्म पुरा उपयन्ति उपायन्" किया है[2275]। मन्त्र में पुरा व स्म दोनों

[2262]. "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः"। अष्टा. – ३।२।१५०॥

[2263]. "हे अग्ने, यं मर्त्यं पृत्सु संग्रामेषु आवः रक्षसि, किंच वाजेषु अन्ननिमित्तं यं मर्त्यं जुनाः गच्छसि हवींषि ग्रहीतुं यस्य सकाशं गच्छसीत्यर्थः"। सायणभाष्य, तै.सं. – १।३।१३, पृ.४८६॥

[2264]. "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

[2265]. "न ह स्म वै पुराऽग्निरपरशुवृक्णं दहति तदस्मै प्रयोग एवर्षिरस्वदयद्यदग्ने यानि कानि....."। तै.सं. – ५।१।१०। पृ.४७॥
"ह स्म वा ऋषयः पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रमुप यन्ति ...."। तै.सं. – ३।३।८। पृ.२६१॥

[2266]. अष्टा. – ३।२।१२३॥

[2267]. "चादयोऽसत्त्वे"। अष्टा. – १।४।५७॥

[2268]. "अपरशुवृक्णं न ददाह, अस्वादुत्वात्। तत् अपरशुवृक्णमपि अस्मै अग्नये। यं प्रयुज्य यः एव ऋषि मन्त्रः अस्वदयत् स्वादुकृतवान्। ष्वद स्वद आस्वादने। चुरादिरदन्तः। भट्टभास्कर – तै.सं. ५।१।१०। पृ.४७॥"

[2269]. "लट् स्मे"। अष्टा. – ३।२।११८॥

[2270]. "..यजमानो वा एतस्य पुरा गोप्ता भवत्येष वो देव सवितः सोमः..."। तै.सं. – ६।३।२। पृ. १८५॥

[2271]. "यजमानः एवाऽस्य पूर्वं प्राग्वंशे रक्षक आसीत्..."। ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ६।३।२। पृ.१८५॥

[2272]. "पुरि लुङ् चास्मे"। अष्टा. – ३।२।१२२॥

[2273]. "..पुण्यसमं भवति यदि न दहति पापसममेतेन ह स्म वा ऋषयः पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रमुप यन्ति"। तै.सं. – ३।३।८॥

[2274]. "इषुगमियमां छः"। अष्टा. – ७।३।७७ से यम् धातु को छकारादेश प्राप्त था, शित् प्रत्यय परे रहते॥

[2275]. ज्ञानयज्ञभाष्य, तै.सं. – ३।३।८॥

उपपद वर्त्तमानकाल की क्रिया के साथ हैं, जो दो परिथितियों का वाचक है। प्रथम - यदि पुरा से युक्त क्रियापद का अर्थ किया जाता है तो वह अनद्यतन भूतकाल का अर्थ देता है परन्तु वहाँ अवश्यमेव स्म का अभाव होना चाहिए।[2276] द्वितीय - यदि स्म से युक्त क्रियापद का अर्थ किया जाता है तो वह परोक्ष अनद्यतन भूतकाल का अर्थ देगा। प्रथम परिस्थिति पुरा के साथ परन्तु स्म के बिना विधान होने से अस्वीकार्य है अतः स्म के योग में भाष्यकार इसको परोक्ष भूतकाल में स्वीकार करते है तथा पुरा को पुरातन व प्राचीन अर्थों में स्वीकार करते हैं[2277]।

प्रमिनाम[2278] - "मिनाम" पद क्र्यादिगणपठित "मीञ् हिंसायाम्" धातु से लेट् लकार उत्तमपुरुष बहुवचन में सम्पन्न है। लेट्-लकार उत्तमपुरुष होने से आडागम[2279] एवं सकार लोप[2280] होता है। इसके अतिरिक्त धातु को ह्रस्वत्व[2281] तथा णत्व[2282] (परन्तु बहुल होने से णत्व निषेध) होता है। सायणाचार्य के अनुसार इस मन्त्रांश का अर्थ – "हे देवाः, विदुषां युष्माकं सम्बन्धीन्यस्मदनुष्ठेयव्रतान्यत्यन्तमविद्वांसः वयं प्रकर्षेण विनाशयाम इति यत्, तत् सर्वं विद्वान् अग्निः आपूरयतु[2283]"। भाष्य पर दृष्टिपात करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि यहाँ कारण से कार्यानुमान की आशंका की गई है एवं इसी के सन्दर्भ में लेट् लकार का विधान है[2284]। ध्यातव्य है कि लेट्-लकार लिङ् के अर्थ में एवं छन्द-विषय में होता है। परन्तु यदि आशंका गम्यमान हो तो भी लेट्-लकार का विधान पाणिनि आचार्य ने स्वीकार किया है जिसको मन्त्र में स्पष्टतया देखा जा सकता है।

प्रवोचम्[2285] - अदादिगणपठित "वच परिभाषणे" धातु से लुङ् लकार के उत्तम पुरुष एकवचन। लुङ् लकार में सदैव अट् या आट् का आगम होता है[2286]। परन्तु वेद विषय में लुङ्, लङ् तथा लृङ् परे रहने पर अट् या आट् बहुल करके होते है[2287]। भट्टभास्कराचार्य ने भूतकालिक इस क्रिया का अर्थ वर्त्तमान में "प्रकर्षेण ब्रवीमि[2288]" माना है, जिसका तात्पर्य है कि वेद विषय में लुङ् लकार भूतकाल अर्थ में सीमित नहीं है अपितु यह वर्त्तमान का भी वाचक है[2289]।

2276. "पुरि लुङ् चास्मे"। अष्टा. – ३।२।१२२॥

2277. तै.सं. – ३।३।८॥

2278. "यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः..."। तै.सं. – १।१।१४ पृ.२१५॥

2279. "लेटोऽडाटौ"। अष्टा. - ३।४।९४॥

2280. "स उत्तमस्य"। अष्टा. – ३।४।९८॥

2281. "मीनातेर्निगमे"। अष्टा. – ७।३।८॥

2282. "हीनुमीना"। अष्टा. – ८।४।१५॥

2283. सायणभाष्य, तै.सं. – १।१।१४, पृ.२१५॥

2284. "उपसंवादाशङ्कयोश्च"। अष्टा. – ३।४।८॥

2285. "..विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे....."। तै.सं.१।२।१३, पृ.३४८॥

2286. "लुङ्लुङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"। अष्टा. – ६।४।७१॥
"आडजादीनाम्"। अष्टा. – ६।४।७२॥

2287. "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि"। अष्टा. – ६।४।७५॥

2288. तै.सं. – १।२।१३, पृ.३४८॥

2289. छन्दसि लुङ्लङ्-लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

बभूव[2290] - यह रूप 'भू सत्तायाम्' धातु से लिट् लकार में सिद्ध है। लिट् लकार परोक्ष भूतकाल में होता है।[2291] परन्तु छन्द में लिट् लकार भूतकाल मात्र में न होकर वर्तमान काल का भी वाचक हो सकता है।[2292] मन्त्रांश में कहा है कि "हे रुद्र तुम्हारा इषु शिवतमा है"[2293]। यहाँ भूतकाल में अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये विशेषताएँ त्रिकालिक है अतः यदि यहाँ "बभूव" का अर्थ भूतकाल से सम्बन्धित होगा तो अनर्थ होगा। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में भी "वितस्थिरे" में लिट् लकार वर्तमान काल में है।[2294]

यजेत...यजेत[2295] - यह पद भ्वादिगगणपठित यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु धातु से लिङ् लकार में निष्पन्न है। भट्टभास्कर के अनुसार मन्त्रार्थ है – "सः एव यष्टुमर्हति.....चतुष्टोमेनाप्यनन्तरितेन सर्वस्तोमेन स्तोमानां यथात्म्यं विदित्वा अप्रमत्तः यष्टुं शक्नोतीति ब्रह्मवादिनः आहुः"। इसमें प्रथम लिङ् लकार (यजेत) योग्य अर्थ में द्वितीय शक्यार्थ में हुआ है। तात्पर्य है कि जो यजमान अग्निष्टोम से यज्ञ करने योग्य है वही तदनन्तर सर्वस्तोम से यज्ञ कर सकता है।[2296] ध्यातव्य है कि लिङ् लकार विध्यादि अर्थों से अतिरिक्त भी योग्यता[2297] व शक्यार्थ[2298] में होता है। परन्तु सायणाचार्य इन क्रिया पदों को क्रमशः अनुतिष्ठति व अनुतिष्ठेत् अर्थो में मानते है। जिसमें प्रथम "यजेत" पद लट् व द्वितीय लिङ्-लकार का है। अतः जो अनुष्ठान करता है वही मुख्य यष्टा है[2299]।

रुहेम[2300] - भ्वादिगणपठित परस्मैपदी "रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च" धातु आशीर्वाद में उत्तम पुरुष बहुवचन। रुह् धातु से लोक में आशीर्लिङ् में रुह्यात्...रुह्यास्म इत्यादि रूप होते हैं। परन्तु वेद विषय में आशीर्लिङ् के परे रहते अङ् प्रत्यय होता है।[2301] आशीर्लिङ् यद्यपि आर्द्धधातुक संज्ञक होता है[2302]। लेकिन छन्दविषय में इसकी सार्वधातुक तथा आर्धधातुक दोनों संज्ञाएँ होती हैं। सार्वधातुक संज्ञा होने से ही सकार लोप[2303] व या को इय् आदेश[2304] होता है। यदि रुह् धातु में गुण का

2290. "या ते इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः। शिवा ....."। तै.सं. – ४।५।१। पृ.३८३॥

2291. "परोक्ष् लिट्"। अष्टा. ३।२।११५॥

2292. "छन्दसि लुङ्लङ्-लिटः"। अष्टा. – ३।४।६॥

2293. "हे रुद्र, या ते तव इषुः शिवतमा शान्ततमा, अतिशयेन भक्तानां सुखकरी। न केवलं हस्तालंकारमात्रभूता।."। भट्टभास्कर तै.सं.४।५।१॥

2294. "स एतावान्तश्च.....वितस्थिरे। तेषां...।" तै.सं. – ४।२।११, पृ.५०२॥

2295. "ब्रह्मवादिनो वदन्ति स त्वै यजेत योऽग्निष्टोमेन यजमानोऽथ सर्वस्तोमेन यजेतेति"। तै.सं. – ७।१।३। पृ.२६॥

2296. "..यः अग्निष्टोमेन यजमानः सन् इदानीं सर्वस्तोमेन यजेत"। भट्टभास्कर - तै.सं. – ७।१।३॥

2297. "अर्हे कृत्यतृचश्च"। अष्टा. – ३।३।१६९॥

2298. "शकि लिङ् च"। अष्टा. – ३।३।१७२॥

2299. "..स एव मुख्यो यष्टा..."। सायणाचार्य तै.सं. – ७।१।३॥

2300. "..रुहेमोर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्ज मे यच्छ...."। तै.सं. – १।२।२, पृ.२४३॥

2301. "लिङ्याशिष्यङ्"। अष्टा. – ३।१।८६॥

2302. "लिङाशिषि"। अष्टा. – ३।४।११६॥

2303. "लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य"। अष्टा. – ७।२।७९॥

2304. "अतो येयः"। अष्टा. – ७।२।८०॥

व्यत्यय से निषेध माना जाय तो यह रूप विधिलिङ् में भी सम्पन्न किया जा सकता है। विधिलिङ् का सामान्यतया रूप "रोहेम" है। भट्टभास्कर के अनुसार यह मन्त्रांश आशीर्वाद अर्थ में है – "ईदृशीं नावम् अग्निष्टोमात्मिकां वयम् अधि रुहेम आरूढा भूयास्म अनेन चर्माधिरोहणेनेति[2305]"। अतः विध्यर्थ में मन्त्र के अर्थ का अनर्थ होगा।

व्यद्यौत्[2306] - भ्वादिगणपठित "द्युत दीप्तौ" धातु लुङ् लकार प्रथमपुरुष एकवचन। भ्वादिगण में उक्त द्युदादि धातुओं को लुङ्-लकार विकल्प से परस्मैपद में होता है[2307]। बहुल करके अङ् का बाध होकर[2308] च्लि के स्थान में सिच् आदेश[2309] हुआ है। वेद विषय में सार्वधातुक व आर्द्धधातुक दोनों संज्ञाएँ होती है अर्थात् जिसकी सार्वधातुक संज्ञा कही है उसकी आर्द्धधातुक संज्ञा भी होती है[2310] इस प्रकार एक ही स्थान पर दोनों संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। अतः यहाँ प्रत्यय आर्धधातुक होकर भी सार्वधातुक माना गया जिससे "आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः[2311]" सूत्र से प्राप्त इडागम नहीं हुआ। अ द्युत् स् त् = इस स्थिति में हलन्त अङ्ग के अच् के स्थान में परस्मैपदक सिच् परे रहते वृद्धि हुई[2312]। "बहुलं छन्दसि[2313]" (यह सूत्र "अस्तिसिचोऽपृक्ते[2314]" की अनुवृत्ति आती है) सूत्र से अपृक्त सिच् से उत्तर ईट् आगम बहुल करके होता है, बहुल कहने से यहाँ ईडागम नहीं हुआ। अ द्यौत् स् त् = ऐसी स्थिति में संयोग के आदि सकार का लोप एवं[2315] अपृक्त तिप् के त् का लोप होता है[2316]।

सपर्यत[2317] - कण्ड्वादिगणपठित "सपर पूजायाम्" धातु परस्मैपद लोट्-लकार मध्यमपुरुष बहुवचन। कण्ड्वादिगण पठित वस्तुओं से नित्य ही यक् प्रत्यय होता है[2318]। कण्ड्वादिगण को धातु तथा प्रातिपदिक दोनों माना जाता है। इसका कारण "धातोः[2319]" सूत्र के अधिकार के अन्तर्गत होना व यक् प्रत्यय के ककार का अनुबन्ध होना, माना गया है, तथा "कण्डूञ् गात्रविघर्षणे" धातु के दीर्घ होने से ही

[2305]. तै.सं. – १।२।२, पृ.२४३॥

[2306]. "..दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये"। तै.सं. – १।३।१४, पृ.५०४॥

[2307]. "द्युद्भ्यो लुङि"। अष्टा. – १।३।९१॥

[2308]. "व्यत्ययो बहुलम्"। अष्टा. – ३।१।८५॥

[2309]. "च्लेः सिच्"। अष्टा. – ३।१।४४॥

[2310]. "छन्दस्युभयथा"। अष्टा. – ३।४।११७॥

[2311]. अष्टा. – ७।२।३५॥

[2312]. "वदव्रजहलन्तस्याचः"। अष्टा. – ७।२।३॥

[2313]. अष्टा. – ७।३।९७॥

[2314]. अष्टा. – ७।३।९६॥

[2315]. "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च"। अष्टा. – ८।२।२९॥

[2316]. "हलङ्याभ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्"। अष्टा. – ६।१।६६॥

[2317]. "..नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तद्दतं सपर्यत"। तै.सं. – १।२।९, पृ.३०४॥

[2318]. "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। अष्टा. – ३।१।२७॥

[2319]. अष्टा. – ३।१।९१॥

ज्ञात होता है कि यह एक पक्ष में धातु तथा दूसरे पक्ष में प्रातिपदिक माना जाय[2320]।

संगच्छे[2321]- भ्वादिगणपठित गत्यर्थक परस्मैपदी "गम्लृ" धातु लट्-लकार। परन्तु सम्-उपसर्ग के योग में इसको आत्मनेपद का विधान होता है[2322]। भट्टभास्कराचार्य ने इसका अर्थ "संयता भूयासम्" किया है – "हे अग्ने गार्हपत्य, यदिदमुदपात्रेण योक्त्रं संगच्छते, तेनाहं आयुषा तावत् सं गच्छे संगता भूयासम्"[2323]। भाष्य को दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण सन्दर्भ में एक आशंसा गम्यमान हो रही है। ध्यातव्य है कि आशंसा सदैव भविष्यत्कालिक होती है। परन्तु यहाँ आशंसा में लट्-लकार विधान से ज्ञात होता है कि आशंसा गम्यमान होने पर धातु से वर्त्तमानकालिक प्रत्यय होते हैं[2324]।

<u>ध्यातव्य</u> - कुछ निपातों (यत्, ह, शश्वत्, स्म, ननु, न, नु, पुरा, यावत्, कदा, कर्हि, किंवृत्त = कथम् इत्यादि, अपि, जातु, किंकिल, यच्च, यत्र, उत, अलम्, माङ्) के कारण भी लकारार्थ का विधान होता है उनका वर्णन तृतीय-अध्याय में निपातों के सन्दर्भ में किया गया है। इन निपातों में से तैत्तिरीय-संहिता में जातु, किंकिल, ननु व यच्च के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं। जबकि यत्, न, यावत्, कदा, कर्हि, किंवृत्त, यच्च व यत्र का लकारार्थ-प्रयोग न होकर मात्र निपात के रूप में हुआ है।

उपसंहार - संस्कृत भाषा में दस लकारों (टित् = लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् और लोट्। ङित् = लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्) की कल्पना की गई है, जो वर्त्तमानकाल भूतकाल व भविष्यकाल में होते हैं। क्रिया-पद के निर्माण के लिए इन लकारों के स्थान में तिबादि अष्टादश प्रत्ययों का ग्रहण होता है। जिनमें अर्ध (नव) परस्मैपदसंज्ञक[2325] व शेष आत्मनेपदसंज्ञक[2326] होते हैं। इन प्रत्ययों को तीन-तीन करके प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष व उत्तमपुरुष[2327] तथा एकवचन द्विवचन व बहुवचन होता है[2328] -

परस्मैपद -

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	तिप्	तस्	झि
मध्यमपुरुष	सिप्	थस्	थ
उत्तमपुरुष	मिप्	वस्	मस्

आत्मनेपद –

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन

[2320]. "धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासंजनादपि।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः"॥म.भा. – ३।१।२७॥

[2321]. "..सं पत्नी पत्याऽहं गच्छे समात्मा तनुवा मम"। तै.सं. १।१।१०, पृ.१४३॥

[2322]. "समो गम्यृच्छिभ्याम्"। अष्टा.१।३।२९॥

[2323]. ज्ञानयज्ञभाष्य - तै.सं. – १।१।१०, पृ.१४३॥

[2324]. "आशंसायां भूतवच्च"। अष्टा.३।३।१३२॥

[2325]. "लः परस्मैपदम्"। अष्टा. – १।४।९८॥

[2326]. "तङानावात्मनेपदम्"। अष्टा. – १।४।९९॥

[2327]. "तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः"। अष्टा. – १।४।१००॥

[2328]. "तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः"। अष्टा. – १।४।१०१॥

प्रथमपुरुष	त	आताम्	झ
मध्यमपुरुष	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तमपुरुष	इट्	वहि	महिङ्

परन्तु लकार व लकारार्थ में अन्तर है। लकारार्थ में किसी उपपद या सन्दर्भविशेष के कारण एक निश्चित काल में उक्त प्रत्यय (यथा - वर्त्तमानकाल में लट्) भी भिन्न काल का वाचक बन जाता है जैसे – भवति पद वर्त्तमान काल में है। यदि "भवति" पद के साथ "स्म" हो तो वह लिट् लकार का अर्थ देता है। अतः लकारार्थ में ह, शश्वत्, स्म, ननु, न , पुरा, नु, जैसे अनेक उपपदों का योगदान अर्थ निर्धारण में महत्त्वपूर्ण होता है। इसके साथ-साथ क्षिप्रवचन, आशंसावचन, मर्यादावचन आदि जैसे निमित्तों का भी योगदान महत्त्वपूर्ण है।

तैत्तिरीय संहिता के मन्त्रांश "पुरा उपयन्ति स्म"[2329] में लट् लकार में वर्त्तमानकालिक क्रिया "उपयन्ति" के साथ पुरा व स्म दो उपपद है। ध्यातव्य है कि दोनों उपपद भिन्न परिस्थितियों में वर्त्तमानकालिक क्रिया के साथ प्रयोग होते हैं। यदि लट् लकार के साथ पुरा उपपद हो तो वह अनद्यतन भूतकाल का एवं स्म उपपद हो तो परोक्ष अनद्यतन भूतकाल का अर्थ देते हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञानयज्ञभाष्य में मन्त्रांश का अर्थ "वर्षशतिकं वर्षसाहस्रिकं..." किया जो परोक्ष अनद्यतन अर्थ का ज्ञान देता है इसके अतिरिक्त भी जहाँ पुरा का वर्त्तमानकालिक क्रिया के साथ प्रयोग अनद्यतन भूतकालिक अर्थ में होता है वहाँ स्म का बाध होता है[2330]। परन्तु जहाँ स्म का प्रयोग परोक्ष अनद्यतन भूतकाल वर्त्तमानकालिक क्रिया के साथ किया जाता है वहाँ पुरा का होना या न होना अनिवार्य नहीं है।

[2329]. तै.सं. – ३।३।८॥

[2330]. "पुरि लुङ् चास्मे"। अष्टा. – ३।२।१२२॥

उपसंहार

उपसंहार

वैदिक वाङ्मय भारतीय सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक चिन्तन- परम्परा को जानने का मूल स्रोत है। तैत्तिरीय-संहिता जिसका एक महत्त्वपूर्ण भाग है। शोध-प्रबन्ध में तैत्तिरीय-संहिता में प्रयुक्त क्रियापदों का अर्थविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया गया है, जिसमें पाणिनि व्याकरण की सहायता ली गई है। तैत्तिरीय संहिता का परिचय व अर्थविज्ञान का वर्णन भूमिका में करने के पश्चात् शोध-प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में बाँटा गया है –

१.तिङन्त-पद में धात्वंश व प्रत्ययांश का अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन

२.तिङन्त-पदों का स्वर की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन

३.उपसर्ग व निपात की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन

४.वाच्य की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन

५.लकारार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से अर्थवैज्ञानिक-अध्ययन

प्रथम अध्याय में क्रिया के अर्थ व स्वरूप के साथ-साथ उसके सिद्धत्व व साध्यत्व रूपों की चर्चा की गई हैं तथा निरुक्त में उक्त षड्भाव विकार को क्रिया की साध्यावस्था के रूप में विवेचन किया गया है। किसी भी क्रिया-पद में धातु व प्रत्यय समावेशित होते हैं। शोध-प्रबन्ध में इन्हीं तत्त्वों की व्याख्या सङ्क्षेप में वैयाकरण, नैयायिक एवं मीमांसक के मत में की गई है। यहाँ व्यापार व फल तथा व्यापाराश्रय व फलाश्रय को एक महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है। इन्हीं के कारण क्रिया के कर्त्तृ व कर्म में होने का निर्णय होता है। ध्यातव्य है कि मीमांसा-दर्शन में "भावना-सिद्धान्त" भी अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है अतः उसका भी अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। द्वितीय अध्याय में पाणिनि उक्त स्वर-विधान की चर्चा की गई है जिनके माध्यम से तैत्तिरीय-संहिता के क्रियापदों का व्याख्यान किया गया है। इस अध्याय में दर्शाया गया है कि वेदार्थ हेतु स्वरों की उपयोगिता अतुलनीय है। स्वर के कारण ही भिन्न प्रत्ययों से निष्पन्न समान दिखाई देने वाले शब्दों का पार्थक्य सम्भव है। तृतीय-अध्याय में सोपसर्ग व निरुपसर्ग क्रिया के अर्थ का अध्ययन किया गया है। कदाचित् उपसर्ग क्रिया के साथ प्रयुक्त होकर भी मात्र धातु के ही अर्थ का द्योतक होता है। कदाचित् धातु के अर्थ में परिवर्तन करता है जिसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है। चतुर्थ अध्याय में यद्यपि क्रिया के वाच्यों की चर्चा की गई। तथापि इस अध्याय को अधिकांशतः कर्त्तृवाच्य में प्रयुक्त क्रियाओं के निष्पन्न हेतु व्यत्यय व बहुल से आए प्रत्यय व प्रक्रियाओं के अध्ययन हेतु समर्पित किया गया है। पञ्चम अध्याय में पाणिनि उक्त लकारों में विभिन्न उपपद व अर्थों के कारण परिवर्तन को दर्शाया गया है।

"यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्षण्वान्मेध्यो भवत्युषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणश्चन्द्रमा श्रोत्रं दिशः पादा अवान्तरदिशाः पर्शवोऽहोरात्रे निमेषोऽर्धमासाऋ्तः पर्वाणि मासाः सधानान्यृतवोऽङ्गानि संवत्सर आत्मा रश्मयः केशाः नक्षत्राणि रूपं तारका अस्थानि नमो माँसान्योषधयो लोमानि वनस्पतयो वाला अग्निर्मुखं वैश्वानरो व्यस्तम् समुद्र उदरमन्तरिक्षं पायुर्द्यावापृथिवी आण्डौ ग्रावा शेषः सोमो रेतो यज्जंजभ्यते तद्वि द्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वागहर्वा अश्वस्य जायमानस्य महिमा पुरस्ताज्जायते रात्रिरेनं महिमा पश्चादनु जायत एतौ वै महिमानावश्वमभितः संबभूवतूर्हर्यो देवानवहदर्वाऽसुरान्वाजी गन्धर्वानश्वो मनुष्या न्त्समुद्रो वा अश्वस्य योनिः समुद्रो बन्धुः"॥ इति सप्तमाष्टके पञ्चप्रपाठके पञ्चविंशोऽनुवाकः॥

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची (Bibliography)

१. प्राथमिकस्रोत (Primary Sources)

(क) साक्षात्स्रोत (Direct Sources)

अष्टाध्यायी, पाणिनिः, सम्पा. - विरजानन्द दैवकरणि, हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, षष्ठ संस्करण वि.सं. २०५८ (फिट्सूत्रों का पाठ इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में विद्यमान है)

अष्टाध्यायीप्रथमा-वृत्तिः (१-३भागाः), ब्रह्मदत्त जिज्ञासुः, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा, २००३

उणादिकोषः, पाणिनिः, व्या. - सोमलेखा एवं पं.ईश्वरचन्द्रः, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, प्रथम संस्करण - २००८

काशिकावृत्ति (सोमलेखाहिन्दीव्याख्योपेतम्, १-३ भागाः), वामनजयादित्यौ, व्या. - पं. ईश्वरचन्द्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण २०१०

काव्यप्रकाशः, मम्मटाचार्य, व्या. – आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी - २००७

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता (सायणभाष्य एवं हिन्द्यनुवादसहित, १-५ भाग) प्रधान सम्पादक – डॉ. मण्डनमिश्र प्राचार्य, सम्पादक – देवदत्त चतुर्वेदी, प्राध्यापक, श्रीलालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठम्, नई दिल्ली – १९८९

तैत्तिरीय-संहिता, पदपाठयुता, भट्टभास्कर-सायणाचार्य-विरचितभाष्याभ्यां समेता, सम्पादक – धर्माधिकारी नारायणसूनु त्रिविक्रमशर्मा, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे – १९९०

तैत्तिरीय-संहिता, पदपाठयुता, परिष्कर्त्तारौ – मु.आ.वैद्यनाथशास्त्री नारायणशास्त्री च, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ, सोनीपत – १९९५

तैत्तिरीय-संहिता वैयाकरण पदसूची, सम्पा. – आचार्य विश्वबन्धु, वैदिक साहित्य प्रकाशन, होश्यारपुर

धातुपाठः, पाणिनिः, सम्पा. - नरेश झा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण – २००८

निरुक्तम्, यास्काचार्य, (दुर्गाचार्य भाष्य सहित) सम्पा. – आर.जी. भण्डारकर, बी.एस.एस., बम्बई वोल्युम-१ १९१८

निरुक्तम् (निघण्टुसहितम्, नैघण्टुकनैगमकाण्डौ, भागः - १), यास्कः, व्या. - विद्यामार्तण्ड पं. सीताराम शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, तृतीय संस्करण २००२

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, श्रीविश्वनाथपंचानन भट्टाचार्य, व्या. – पं. ज्वालाप्रसाद गौड, सम्पा. – श्री ढुण्ढीराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली १९९१ (द्वि.सं.)

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, श्रीविश्वनाथपंचानन भट्टाचार्य, (दिनकरी एवं रामरुद्री टीकाओं सहित) सम्पा. – आत्माराम नारायण जेरे, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९२७

परमलघुमञ्जूषा (ज्योत्सना व्याख्या सहित), नागेशभट्टः, सम्पा. - कालिका प्रसाद शुक्ल, प्रका. - महाराज सयाजिराव विश्वविद्यालय, बडौदा,१९६१

परमलघुमञ्जूषा, नागेशभट्टः, सम्पा. – डॉ. कपिलदेव शास्त्री, प्रका. - कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, १९७५

परमलघुमञ्जूषा (तत्त्वप्रकाशिका टिप्पणिसहित), नागेशभट्टः, सम्पा. - पं. अलखदेव शर्मा, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९७४ (द्वि.सं.)

परमलघुमञ्जूषा (वंशीव्याख्योपेतम्), नागेशभट्टः, व्या. - वंशीधरमिश्र, सम्पा.- आचार्य श्रीनिवासशर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

प्रकरणपञ्जिका, शालिकनाथमिश्र, सम्पा. - श्रीसुब्रह्मण्यम् शास्त्री (न्यायसिद्धि व्याख्यासहित), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६१

पाणिनि-शिक्षा, व्या. – नारायण मिश्र, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी - २००७

मीमांसाश्लोकवार्त्तिकः – कुमारिलभट्ट, संपा. – पं.दुर्गाधर झा, प्रका. – कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा १९७९

मीमांसाशाबरभाष्यम्, आचार्य शबरस्वामीविरचित, संपा. - युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ, (सोनीपत, हरयाणा), १९७७ (प्र.सं.)

पातञ्जलयोगदर्शनम्, महर्षि-पतञ्जलिमुनिप्रणीतम्, व्या. – डॉ.सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी - २००८

लघुसिद्धान्तकौमुदी, वरदराजाचर्यः, गीताप्रेस, गोरखपुर, छठा पुनर्मुद्रण सं. – २०६६

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (मूलमात्रम्), भट्टोजिदीक्षितः, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी, २००४ (इसमें ही गणपाठ का उल्लेख है जो कि पाणिनिकृत है)

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा-दीपिका-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्), व्या. -श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण २००९

वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जुषा, नागेशभट्ट, सम्पा. – डॉ. कालिका प्रसाद शुक्ल, प्रका. – सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७

वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्, विवरणव्याख्योपेतम्), भर्तृहरिः, व्या. - शिवशंकर अवस्थी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण २००६

वाक्यपदीयम् (श्रीरघुनाथशर्मकृत-अम्बाकर्त्रीव्याख्या-पुण्यराजकृतटीकोपेतम्, वाक्यकाण्डम्), सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला - ९१, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९८०

वाक्यपदीयम् (हेलाराजकृत-प्रकाशव्याख्या-रघुनाथशर्मकृत-अम्बाकर्त्रीव्याख्योपेतम् पदकाण्डम्), सम्पा. - पं. रघुनाथ शर्मा, संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९९१

व्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपोद्द्योतोपेतम्, १-९ भागाः), पतञ्जलिमुनिः, सम्पा. - श्रीगुरुप्रसादशास्त्री, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९३८, पुनर्मुद्रण १९९९

व्याकरणमहाभाष्यम् (श्रीकैयटकृतप्रदीपेन नागोजीभट्टकृतेन भाष्यप्रदीपोद्योतेन च विभूषितम्), पतञ्जलिमुनिः, सम्पा. – पं. वेदव्रतवर्णि, प्रका. - हरयाणा साहित्य संस्थान, रोहतक, १९६३

वैयाकरणभूषणसारः, (श्रीहरिवल्लभकृतदर्पणव्याख्या-सुबोधिनीहिन्दीव्याख्योपेतम्), कौण्डभट्टः, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली-२००५

वैयाकरणभूषणसारः, कौण्डभट्ट, (धात्वर्थनिर्णयः, भैमीभाष्योपेतः), भाष्य. – भीमसेन शास्त्री, प्रका. – भीमसेन शास्त्री, लाजपतराय मार्किट दिल्ली, १९६९ (प्र.सं.)

साहित्य-दर्पणः, विश्वनाथ, व्या. - डॉ.सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - २०१३

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, व्या. – डॉ.राकेश शास्त्री, संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली - २००४

सायणाचार्यविरचिता तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका एवं ऋग्वेदभाष्यभूमिका, हिन्दीव्याख्यासहिता, व्याख्याकार – डॉ.कमलनयन शर्मा, कुलपतिशर्मा प्रकाशन, दौलतपुर, पटना - १९७९

(ख) असाक्षात्स्रोत (Indirect Sources)

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, महाकविकालिदासः, सम्पा. – डॉ.निरूपण विद्यालङ्कार, साहित्य भण्डार, मेरठ – २००७

अर्थसङ्ग्रहः, लौगाक्षिभास्कर (पट्टाभिरामशास्त्रिकृत अर्थालोकटीकासहित), सम्पा. – डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, प्रका. – चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी, दिल्ली, १९८३ (द्वितीय संस्करण)

अर्थसङ्ग्रहः, लौगाक्षिभास्कर (मीमांसासंग्रहकौमुदी व्याख्यासहित), सम्पा. – रामेश्वर शिवयोगी भिक्षु, प्रका. – चौखन्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९८२

अर्थसङ्ग्रहः, लौगाक्षिभास्कर (मीमांसासंग्रहकौमुदी व्याख्यासहित), प्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यासहित, व्या. – कामेश्वरनाथ मिश्र, प्रका. – चौखम्बा सुर-भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७९

अष्टाविंशत्युपनिषत्संग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - २००४

आपस्तम्बश्रौतसूत्र, जी.यू.थिके, न्यू भारतीय बुक, दिल्ली - २००४

उत्तररामचरितम्, महाकविभवभूति, व्या. – ओमावती शर्मा, चौखम्बा ओरियन्तलिया, दिल्ली – २००५

उपसर्गार्थ-विवेचनम्, डॉ.अभयनाथ झा, नाग पब्लिशर्स २००५

उपसर्ग-रहस्य, कृष्ण कुमार झा, ग्रन्थ, रामबाग, कानपुर, प्र.सं. – १९८३

ऋग्वेद-संहिता (सायणभाष्य), सम्पा. – मैक्समूलर, चौकम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी - १९६६

ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, शौनिकः, सम्पा. – रामप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी – १९८६

ऋग्वेदानुक्रमणी : वेङ्कट-माधवीया, व्या. – विजयपाल विद्यावारिधि, बहालगढः युधिष्ठिर मीमांसक - १९७९

ऐतिहासिक वैदिक व्याकरण, मधुसूदन मिश्र, शिप्रा पब्लिकेशन्स, दिल्ली २००६

ऐतरेय एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों के निर्वचन (पीएच.डी.), सरोज कुमारी दीक्षा विद्यालंकार, दिल्ली विश्वविद्यालय – १९८०

कूर्मपुराणम्, व्या. – शिवजीत सिंह, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी - २०१५

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयप्रातिशाख्य : एक परिशीलन, डॉ.आनन्द कुमार श्रीवास्तव, अजय बुक सर्विस, नई दिल्ली – १९९७

कृष्णयजुर्वेद एक अध्ययन, कपिष्ठल कठसंहिता के विशेष सन्दर्भ में, डॉ.वीरेन्द्र कुमार मिश्र, प्रतिभा प्रकाशन १९९०

चतुर्वेद – वैयाकरण – पदसूची – विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान – २०१७ वि.

तैत्तिरीय-ब्राह्मण (भट्टभास्करभाष्योपेतम्), महादेव शास्त्री तथा श्रीनिवासाचार्य मैसूर, मोतीलाल बनारसीदास

तैत्तिरीय-ब्राह्मण (सायणभाष्यसहित), नारायणशास्त्री गोडबोले, आनन्दाश्रम, पूना – १९३८

तैत्तिरीयारण्यक (सायणभाष्यसहित), बाबा शास्त्री फडके तथा हरिनारायण आपटे, आनन्दाश्रम, पूना १८९८

तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य (पादक्रमसादनभाष्यसहित), सम्पा. - वेङ्कटराम शर्मा, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली - २००५

तर्कभाषा, केशव मिश्र, (तर्करहस्य दीपिका हिन्दी व्याख्या सहित), व्याख्याकार - आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९७७ (प्रथम संस्करण)

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, डॉ.पाण्डुरंग दामोदर गुणे, अनुवादक – डॉ.भोलानाथ तिवारी, सम्पादक – डॉ.उदयनारायण तिवारी, मोतीलाल बनारसीदास १९७४

दशकुमारचरितम्, दण्डी, सम्पा. – नारायण बालकृष्ण गौडबोले, पांडुरंग जावजी, बम्बई - १९४०

न्यायमञ्जरी, जयन्त भट्ट, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली – १९७८

नागानन्दम् (विमर्शिनी टीका), श्रीहर्षः, सम्पा. – एम.एम.टी. गणपति शास्त्री, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली - १९८९

पाणिनीय वैदिक प्रक्रिया विमर्श, डॉ.कुञ्जबिहारी पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, २००४

बृहद्देवता, शौनक, रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान - २०१०

बृहद् वैदिक-संहिता धातुकोषः (द्वितीयो भागः) यजुर्वेद धातुकोषः, प्रणेता – वेदवाचस्पति सत्यदेवनिगमालङ्कार चतुर्वेदी, संपा. – प्रभात कुमार,

ब्रह्माण्ड-महापुराणम्, डॉ.के.वी.शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी - २०१२

भाषा, ब्लूमफील्ड, अनुवादक - विश्वनाथ प्रसाद, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र.सं. – १९६८

भारतीय दर्शन, सम्पा. – पारसनाथ द्विवेदी, प्रका. – श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा – ३, १९८० (प्र.सं)

भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९७१

भारतीय दर्शन, केदारनाथ सिंह तथा शशिभूषण सिंह, ज्ञानदा प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली १९८६

भाट्टचिन्तामणिः, श्री गागाभट्ट (तर्कपाद) सम्पा. – पं. श्री सूर्यनारायण शुक्ल, प्रका. – चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस सिटी, १९३३

भाट्टदीपिका (मीमांसाशास्त्रसारसंवलित), श्रीमत्खण्डदेव, (शंभुभट्ट प्रणीत प्रभावलीव्याख्या संवलिता), (निवीतांतो भागः) अनन्तकृष्णशस्त्रिणा, वासुदेवलक्ष्मणशास्त्रिवशीकरेण च सम्पादिता, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बाययाम्, १९६८

मनुस्मृतिः, जनार्दन शास्त्री पाण्डेयः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली - १९९८

माधवीयधातुवृत्तिः, सायणाचार्य विरचित (पाणिनीय धातुपाठ व्याख्यानात्मिका), संपा. – स्वामी द्वारिका दास शास्त्री प्रका. – ताराबुक एजेंसी, वाराणसी १९८३ (द्वि.सं.)

मीमांसान्यायप्रकाशः, श्री आपदेव (बालतोषिणि व्याख्यासहित), हिन्दीव्या. – पं. पट्टाभिराम शास्त्री, प्रधान सम्पा. – डॉ. मण्डन मिश्र, प्रका. – श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली, १९८३ (प्र.सं.)

मेघदूतम्, महाकविकालिदासप्रणीतम्, व्या. – डॉ.अर्कनाथ चौधरी, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर - २००७

यजुर्वेदभाष्य, सम्पा. – पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट – १९५

याज्ञवल्क्यशिक्षा (दीक्षिताऽमरनाथशास्त्रिकृतया शिक्षावल्ल्याख्यया संस्कृतविवृत्या शोधात्मिकया स्वोपज्ञभूमिकया हिन्द्यनुवादेन विमर्शेन च संवलिता), सम्पादकोऽनुवादकश्च – डॉ. – हरिराममिश्रः, प्रका. – विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली – २०१५

लघुशब्देन्दुशेखर, नागेश भट्ट, व्या. – विश्वनाथ मिश्र, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली - २०१२

वाक्यार्थरत्नम्, श्रीमदहोबलसुरि, (स्वोपज्ञसुवर्णमुद्रिका व्याख्यासहित), विद्वान् आर. रामशास्त्री, मैसूर, १९४३

वायु-महापुराणम्, प्रका. – प्रो.कुटुम्ब शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, नई दिल्ली – २००२

विष्णुपुराणम्, मन्मथ नाथ दत्त, चौखम्बा पब्लिकेशन्स, वाराणसी - १९७२

वैदिक निर्वचन कोष – डॉ.ज्ञानप्रकाश शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली -२०००

वैदिककोश – पं.चन्द्रशेखर उपाध्याय एवं श्री अनिल कुमार उपध्याय, नाग प्रकाशक, दिल्ली १९९५

वैदिक पादानुक्रम – कोषः, मौरिश ब्लूमफिल्ड, संपा. – ओमनाथ बिमली, सुनील कुमार उपाध्याय, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली २००५

वैदिक-संग्रहः टिप्पण्यादि समलङ्कृतः, कृष्णलाल, दिल्ली ईस्ट्रन बुक लिंकर्स - २००१

वैदिक एवं वेदांग साहित्य की रूपरेखा, डॉ.रामेश्वर प्रसाद मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, कचौडी गली, वाराणसी सं. – २०२४

वैदिक धर्म और दर्शन, ए.बी.कीथ, अनुवादक – डॉ.सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी – १९६३

वैदिक व्याकरण , मैक्डॉनल, अनुवादक - सत्यव्रत शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र.सं. – १९७१

वैदिक व्याकरण, डॉ. रामगोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६९

व्याकरण में निपातन का स्वरूप-विवेचन – डॉ.लता गर्ग, आई.बी.ए.पब्लिकेशन्स अम्बाला कैन्ट -२००४

वैदिक स्वर-बोध, डॉ. ब्रजविहारी चौबे, वैदिक साहित्य सदन, होश्यारपुर १९७२

वैदिक स्वर-मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सं.२०१४

वैदिक स्वर अवधारणा, डॉ.पारस नाथ त्रिपाठी, संदीप प्रकाशन, बस्ती १९७८

वैदिक वाङ्मय का इतिहास (तीन भाग – अपौरुषेय वेद तथा शाखा, वेदों के भाष्यकार, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ), भगवद् दत्त, परिवर्धक तथा सम्पादक – सत्यश्रवा, प्रणव प्रकाशन, पंजाबी बाग, नई दिल्ली – १९७८

शतपथ-ब्राह्मणम् (श्रीवाजसनेयि-माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्), सायणभाष्यम्, नाग प्रकाशक – २००५

शृङ्गार-प्रकाश, भोजदेव, सम्पा. – रणजीत सिंह सैनी, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली - २००१

शाब्दतरंगिणी, वे. सुब्रह्मण्यम शास्त्रिणा, प्रका. – श्री ति. वे. विश्वनाथार्य मद्रपुरी संस्कृत विद्यासमितिसचिवः पूर्व मीडवीथी, मद्रास, १९६९ (प्र.सं.)

शास्त्रदीपिका, पार्थसारथि मिश्र, संपा. – डॉ. किशोर दास स्वामी, प्रका. – श्रीसाधुबेला संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, १९७७

शाब्दबोधविमर्शः, डॉ.बदरीनाथ सिंह, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

शिशुपालवधम्, महाकविमाघः, सम्पा. – श्रीरामजीलाल शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी - २००८

संस्कृत व्याकरण में लकारार्थ विवेचन, डॉ.विरेन्द्र कुमार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली १९९८

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, सम्पा. - आचार्य बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ - १९९६

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक, प्रका. – भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, संवत् २०१९

सिद्धान्तकौमुदी की वैदिकी-प्रक्रिया एक समीक्षात्मक अध्ययन, ईश्वर शर्मा, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली-१९९४

२. द्वितीयक स्रोत (Secondary Sources)

(क) संस्कृत ग्रन्थ (Sanskrit Text) –

उपसर्गनिपातमीमांसा, गेयकुमार झा 'गङ्गेशः', राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, जयपुर

पाणिनीयव्याकरणस्य भाषावैज्ञानिकं व्याख्यानम्, घनश्याम उनियालः, अमरग्रन्थ पब्लिकेशन्स, दिल्ली २००२

पदपदार्थ समीक्षा, डॉ. बलदेव सिंह, प्रका. – कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९६९

रघुवंशमहाकाव्यम्, महाकविकालिदासप्रणीतम्, अनु. व सम्पा. – धारादत्त मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली - २००६

वेदार्थनिर्णये निरुक्तस्य महत्त्वम्, आचार्य वीरभद्र शर्मा शास्त्री, सुन्दरियाल मान्यता प्रकाशन, नई दिल्ली २००७

वाक्यार्थ-विवेचनम्, डॉ.धनुर्धर झा, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण २००२

व्याकरणदर्शनभूमिका, रामाज्ञापाण्डेय, संपा. – श्री गौरीनाथ शास्त्री, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९८२

व्याकरणशास्त्रे शब्दविमर्शः, संपा. - के. वी. सोमयाजुलु, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली २००६

वृत्तिप्रदीपः, क्रिटिकल एडीशन ऑफ (सं.), कमलेश कुमार द्विवेदी (पीएच.डी हेतु), वाराणसी - १९७८

वृत्तिवल्लभ ऑफ लघुव्यास, क्रिटिकल एडीशन ऑफ (सं.), सुरश्री दास (पीएच.डी. हेतु), विश्वभारती - १९८२

व्याकरणभाषा : विज्ञानदृशा वाक्यसमीक्षा (सं.), नरसिंह दास खजुरिया, रा.सं. संस्थान, जम्मु परिसर – १९९०

शब्दतत्त्वविमर्शः, श्रेयांश द्विवेदी, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली २००६

समासवृत्तिविमर्शः, संपा. - विजयप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९९१

संस्कृतभाषादर्शनम्, यज्ञवीर दहिया, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली २००१

(ख) हिन्दी ग्रन्थ (Hindi Text) –

अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी द्वितीय संस्करण २००८

अर्थविज्ञान, संस्कृत व्याकरण एवं काव्यशास्त्र का योगदान, डॉ.कमलकान्त मिश्र, नाग प्रकाशक

धात्वर्थ-विचार, मन्जु जैन, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९७

पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेव शरण अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, द्वि.सं. – १९६९

पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन – रामशंकर भट्टाचार्य, इन्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, प्र.सं. – १९६६

पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन, रामशंकर भट्टाचार्य, वाराणसी १९६६

प्राचीन भारतीय संस्कृति कोश, हरदेव बाहरी, दिल्ली – १९९८

भाषाविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, उदयनारायण तिवारी, इलाहाबाद – १९८३

भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि, रामदेव त्रिपाठी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण १९७७

भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र, कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, एकादश संस्करण २००८

भाषाविज्ञान की रूपरेखा (Outline of Linguistic Analysis), बर्नार्ड ब्लॉक तथा जॉर्ज एल. ट्रेगर , अनु.-डॉ. देवदत्त कौशिक और गोपालदत्त जोशी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली

भाषिकी और संस्कृत-भाषा, देवीदत्त शर्मा, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ - १९९०

मैक्डानल- वैदिक रीडर, सत्यव्रत शास्त्री, मोतीलाल बनारसी, प्रथम संस्करण।

व्याकरणतंत्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव, डॉ. हरिराम मिश्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली; भारत, प्रथम संस्करण १९९४

व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, दीप्ति शर्मा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण १९७५

वैदिक दर्शन, डॉ. कुंवर लाल व्यासशिष्य, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली १९८०-९१

वैदिक साहित्य, पं.रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी – १९९८

वैदिक साहित्य का इतिहास, श्रीगजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वि.सं. – २०५०

वैदिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ.राकेश मणि त्रिपाठी, प्रो.सोहन राज तातेड, साहित्यगार, जयपुर २०१२

वैदिक साहित्य, रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन – १९६८

वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान,वाराणसी – १९७३

वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद – १९७०

वैदिक साहित्य और संस्कृति, डॉ.उदयनाथ झा 'अशोक', विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली

वैदिक साहित्य की रूपरेखा, प्रो.सत्यनारायण पाण्डेय तथा डॉ.रसिक विहारी जोशी, साहित्य निकेतन, कानपुर – १९५७

वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ, सोनीपत, वि.सं. – २०३३

वैदिक वाङ्मय का इतिहास, विपिन कुमार, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली

वैदिक शब्दों का अर्थ परिशीलन, डॉ. सुखदा शास्त्री, बाँके विहारी प्रकाशन २००६

वैदिक व्याख्या विवेचन, डॉ.रामगोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर १९७६

वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप तथा विकास, प्रो.ओमप्रकाश पाण्डेय, नाग पब्लिशर्स २००५

वैदिक व्याख्या पद्धति में शतपथ ब्राह्मण का योगदान, डॉ.पुष्पा सिंह, जे.पी.पब्लिशिंग हाउस २००६

वैदिक वाङ्मय का बृहद् इतिहास (यजुर्वेद तथा सामवेद संहिताएँ), कुन्दनलाल शर्मा, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर (पंजाब) १९८५

वैदिक वाङ्मय में भाषा चिन्तन, शिवनारायण शास्त्री, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, प्र.सं. –१९७२

वैदिक वाङ्मय विश्लेषण, डॉ.कृष्णलाल, जे.पी.पब्लिशिंग हाउस, १९९३

वैदिक वाङ्मय एक अनुशीलन, डॉ.ब्रजविहारी चौबे, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होश्यारपुर - १९७२

वैदिक शब्दार्थ-विमर्श – डॉ.रघुवीर वेदालंकार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स

वैदिक संहिताओं में आचारमीमांसा, प्रतिभा रानी, दिल्ली परिमल पब्लिकेशन्स १९८९

वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, म.म.श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना – १९६०

वेदमीमांसा, श्री अनिर्वाण, अनुवादक – छविनाथ मिश्र, नाग पब्लिकेशर्स दिल्ली – २००७

वैदिक एवं पाणिनीय सन्धियों का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ.सुधाकर द्विवेदी, अमृत प्रकाशन, वाराणसी २००३

वेदकालीन समाज, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६७

वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, कपिलदेव द्विवेदी,विश्वविद्यालय प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण २००८

वैदिक इण्डेक्स (१,२), मैक्डोनेल और कीथ, अनुवादक – राजकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, २०१४

वेद और ब्राह्मण, आ.विष्णुदेव उपाध्याय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली -१९८९

व्याकरण के सोपान, डॉ.लज्जा पन्त, ईस्टर्न बुक लिंकर्स १९९३

व्युत्पत्ति और अर्थनिर्धारण, महेश भारतीय, गाजियाबाद – १९८८

वेदमहाविज्ञान, पन्नालाल परिहार, बरेली – १९७५

शब्दार्थ-प्रकाश, जादव प्रसाद अग्रवाल और प्रतिभा अग्रवाल, भारतीय विद्या संस्थान, लखनऊ, संस्करण वि.सं. २०३१

शब्दवृत्तिविमर्श, अविनाशचन्द्र, वाणी-विनय प्रकाशन, इलाहाबाद २००२

शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक भाषावैज्ञानिक अध्ययन, रणजी शर्मा शास्त्री, सस्ता साहित्य भण्डार, दिल्ली – १९७१

शब्दबोधमीमांसा, व्याकरण शास्त्र के विशेष आलोक में (हि.), के.एल.चुंग (पीएच.डी हेतु), कुरुक्षेत्र – १९९९

संस्कृत व्याकरण - शास्त्र का इतिहास, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, वि.सं. – २०२०

संस्कृत साहित्य का इतिहास, मैकडोनल, अनुवादक – चारुदत्त शास्त्री, चौखम्बा प्रतिष्ठान, वाराणसी १९९२

संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, डॉ.सूर्यकान्त, ओरिएन्टल लॉगमैन लिमिटेड, आसफ अली रोड, नई दिल्ली – १९७२

संस्कृत व्याकरण दर्शन के विविध सोपान, डॉ.रामप्रकाश वर्णी, परिमल पब्लिकेशन्स

संस्कृत व्याकरण का उद्भव एवं विकास, डॉ.सत्यकाम वर्मा, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी १९७१

संस्कृत भाषाशास्त्रीय अध्ययन, डॉ.भोलानाथ व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी १९७१

संस्कृत व्याकरण में कारकतत्त्वानुशीलन (पाणिनितन्त्र के सन्दर्भ में), उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९९४

संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय, डॉ.देवीदत्त शर्मा, हरियाणा साहित्य अकादमी

संस्कृत-कोश : उद्भव और विकास, बालमुकुन्द द्विवेदी, इलाहावाद १९७९

(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ (English Text) –

Chomsky, N. (1981), *Lectures on Government and Binding*, Dedrecht: Foris.

Hock, H.H., ed. (1991) *Studies in Sanskrit syntax: a volume in honour of the centennial of Speijer's Sanskrit syntax*, Delhi: MotilalBanarsidass Publishers Pvt. Ltd.

Kale, M.R. (1961), *A Higher Sanskrit Grammar*, New Delhi: MLBD Publishers.

Macdonell,A.A., *A history of Sanskrit literature*, Motilal banarsidasa, Delhi 1962

Macdonell,A.A., *vedic mythology*, Oxford university press, 1897

Macdonell,A.A., *vedic Reader for students*, Oxford university press, 1917

Max muller, *A history of ancient Sanskrit literature*, London 1860

Max muller, *The Vedas, indological book house*, Varansi 1969

Max muller, *India,what can it teach us*, Longmans green and co., London 1899

Max muller, *lecture on the science of language*, vol.2, London 1891

M.winternitz, *History of indian literature*, Subhadra jha(trans.from the german), Motilal banarsidas, Delhi, 1963

Ramachandra ghosha, *classical publications*, new delhi 1977

Speijer, J.S. (1886, repr. 2006), *Sanskrit Syntax*, New Delhi: MotilalBanarsidass Pvt. Ltd.

Whitney, W.D. (1889, repr. 2004), *Sanskrit Grammar*, New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd.

३. कोशग्रन्थ (Dictionaries & Encyclopedias)

(क) संस्कृत-हिन्दी कोश –

अमरकोशः, अमरसिंहः, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९६१ ।

मीमांसा कोशः, केरलानन्द सरस्वती कृत, प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, ग्रन्थमाला, १९५२

यजुर्वेद पदार्थकोश, प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली - २००९

वाचस्पत्यम् (षष्ठखण्डः) राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, नई दिल्ली, २००२

वैदिक इन्डेक्स, भाग – १-२, मैक्डोनल तथा कीथ, अनुवादक – रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२

वैदिक-कोश, सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय - १९६३

वैदिक-कोष, अनुसन्धान-विभाग, दयानन्द महाविद्यालय लाहौर – १९२६

वैदिक-कोश, राजवीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली – १९७५

वैदिक-कोश, पं.चन्द्रशेखर उपाध्याय एवं श्री अनिल कुमार उपाध्याय, नाग प्रकाशक – १९९५

वैदिक-निघण्टु-संग्रहः (कौत्सव्यनिघण्टु-यास्कीयनिघण्टु-भास्कररायीयवैदिककोश (श्लोकबद्ध) - माधवीयाख्यातानिक्रमणी-नामानुक्रमणीनां संग्रहः), संपा. – धर्मवीर विद्यावारिधि, प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र, नांगलोई दिल्ली -१९८९

वैदिकपदानुक्रमकोषः, विश्वबंधु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होश्यारपुर – १९७३

शब्दकल्पद्रुमः (चतुर्थखण्डः), राजा राधाकान्तदेव बाहादुर, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली १९८७

संस्कृत-हिन्दीकोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली १९८८

अंग्रेजी-हिन्दी-कोश, कामिल बुल्के, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, दिल्ली २००४

(ख) English –

Practical Sanskrit-English Dictionary, V.S. Apte, Motilal Banarsidas, New Delhi Vikrami Samvat 2022.

Sanskrit-English Dictionary, Monier Willams, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi 1976 .